

आगम एवं कर्मसिद्धान्त के आलोक में

बंध—तत्त्व



लेखक: कन्हैयालाल लोढ़ा

आगम एवं कर्मसिद्धान्त के आलोक में

बंध-तत्त्व

लेखक

कन्हैयालाल लोढा

भूमिका-लेखन

डॉ. सागरमल जैन

सम्पादक

डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी

आगम एवं कर्मसिद्धान्त के आलोक में
बन्ध-तत्त्व

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी
13 ए, मेन मालवीय नगर
जयपुर(राज.)
फोन नं. 0141-2524827

संस्करण- प्रथम, सन् 2010

© सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN : 978-81-89698-86-7

मूल्य- 150 - रुपये

लेजर टाईप सेटिंग - प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रक- राज प्रिन्टर्स, जयपुर
फोन नं. 0141-2621774

Bandh-Tattva by *Kanhaiya Lal Lodha*

This book is printed on Eco-friendly paper.

विषयानुक्रम

प्रकाशकीय	VII
प्राक्कथन	IX
भूमिका—डॉ. सागरमल जैन	XLV
आमुख— डॉ. धर्मचन्द जैन	LX
ज्ञानावरण कर्म	1—61
ज्ञानावरण का स्वरूप	1
मतिज्ञान एवं मतिज्ञानावरण	2
श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानावरण	4
श्रुतज्ञान से केवलज्ञान का प्रकटीकरण	8
श्रुतज्ञान एवं इसका माहात्म्य	9
श्रुतज्ञान परोक्ष क्यों?	14
मतिज्ञान से श्रुतज्ञान का भेद	16
श्रुतज्ञान स्वयंसिद्ध	17
श्रुतज्ञान के प्रकार	20
अवधिज्ञान एवं अवधिज्ञानावरण	22
मनःपर्यायज्ञान एवं मनःपर्यायज्ञानावरण	24
केवलज्ञान और केवलज्ञानावरण	25
त्रिपदी का ज्ञान	29
अनन्त ज्ञान	31
केवलज्ञान—सर्वज्ञता	32
ज्ञानावरण कर्मबंध के कारण	35
ज्ञानावरण का प्रमुख कारण : ज्ञान का अनादर	39
ज्ञान एवं अज्ञान में तात्त्विक भेद	44
ज्ञान—अज्ञान का जीवन पर प्रभाव	46
ज्ञानावरण और अज्ञान में भेद	48
ज्ञानगुण और ज्ञानोपयोग में अन्तर	51
गुण और उनके उपयोग में अन्तर	54
ज्ञानावरण से सम्बद्ध जिज्ञासा और समाधान	56
ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्मों का क्षयोपशम और परिणाम	59
दर्शनावरण कर्म	62—94
दर्शन एवं दर्शनावरण का स्वरूप	62

दर्शनावरणीय कर्म के प्रकार	64
दर्शन-गुण का विकास-क्रम	65
निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति (बोध) में अन्तर	67
स्वसंवेदन एवं निर्विकल्पता	70
कामना-त्याग से निर्विकल्पता	72
दर्शनगुण का फल : चेतना का विकास	73
दर्शन-साधना की उपलब्धियाँ	74
दर्शनोपयोग के अभाव में ज्ञानोपयोग नहीं	76
दर्शन गुण, दर्शनोपयोग, ज्ञानगुण एवं ज्ञानोपयोग का भेद	77
एक समय में एक ही उपयोग	81
ज्ञानोपयोग : दर्शन गुण की उपलब्धि में सहायक	84
सम्यग्दर्शन एवं दर्शन गुण	85
दर्शनावरण कर्म के बंध हेतु	88
दर्शनावरण का अन्य घाति कर्मों से सम्बन्ध	90
अनन्त दर्शन	91
वेदनीय कर्म	95—110
वेदनीय कर्म का स्वरूप	95
साता-असाता वेदनीय कर्म-उपार्जन के हेतु	96
कर्म का फल : एक प्राकृतिक विधान	98
साता एवं असातावेदनीय का फल	103
कर्मोदय से बाह्य निमित्त की प्राप्ति नहीं	104
वेदनीय कर्म हानिकारक नहीं है	107
मोहनीय कर्म	111—135
मोहनीय कर्म का स्वरूप	111
दर्शन मोहनीय	112
मिथ्यात्व के दश प्रकार	112
सम्यक्त्व मोहनीय	117
मिश्र मोहनीय	117
चारित्र्य मोहनीय	118
कषाय का स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेद	118
क्रोध कषाय-अनन्तानुबन्धी आदि भेद	120
मान कषाय-अनन्तानुबन्धी आदि भेद	121
माया कषाय-अनन्तानुबन्धी आदि भेद	122
लोभ कषाय-अनन्तानुबन्धी आदि भेद	122

नो कषाय	124
मोहनीय कर्म के बंध के कारण	130
मोह—विजय क्यों आवश्यक?	133
आयु कर्म	136—151
आयु कर्म का स्वरूप	136
नरकायु	136
तिर्यचायु	138
मनुष्यायु	139
देवायु	144
गति और आयु	147
आयु कर्म का स्थिति बंध विशुद्धि भाव से	150
नाम कर्म	152—183
नाम कर्म का स्वरूप	152
नामकर्म का विस्मयाभाव (पारिणामिक भाव)	153
नामकर्म के बंध हेतु	155
नामकर्म की विभिन्न प्रकृतियाँ	157
गतिनामकर्म	157
जाति नामकर्म एवं इन्द्रियों का विकास	158
शरीर नामकर्म	163
अंगोपांग नामकर्म	164
बंधन नाम, संघातन नाम, संहनन नामकर्म	164
संस्थान नामकर्म	165
वर्णादिचतुष्क	166
आनुपूर्वी नामकर्म	166
विहायोगति नामकर्म	167
अगुरुलघु नामकर्म	168
निर्माण नामकर्म	170
आतप नामकर्म	171
उद्योत नामकर्म	171
पराघात नामकर्म	172
उपघात नामकर्म	174
श्वासोच्छ्वास नामकर्म	176
तीर्थकर प्रकृति	176
त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक	177—178

साधारण नामकर्म	178
स्थिर—अस्थिर नामकर्म	178
शुभ—अशुभ नामकर्म	179
सुस्वर—दुस्वर नामकर्म	179
सुभग—दुर्भग, आदेय—अनादेय, यशकीर्ति—अयशकीर्ति नामकर्म	180
गोत्र कर्म	184—202
गोत्र कर्म का स्वरूप	184
गोत्र कर्म जातिगत नहीं	185
गोत्र कर्म के बंध हेतु	189
हीनता—दीनता और गोत्र कर्म	193
मद—त्याग से उच्च गोत्र	194
गोत्र कर्म और स्वाधीनता—पराधीनता	194
गोत्र कर्म का अनुभाव (फल)	195
गोत्रकर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थों से नहीं	197
गोत्रकर्म और अगुरुलघु गुण	199
गोत्रकर्म : जीव विपाकी	201
अन्तराय कर्म	203—221
अन्तराय कर्म का स्वरूप	203
अन्तराय कर्म के भेद एवं बंध हेतु	203
दानान्तराय एवं अनन्तदान	205
लाभान्तराय एवं अनन्त लाभ (सम्पन्नता)	207
भोगान्तराय एवं अनन्तभोग (सौन्दर्य)	208
उपभोगान्तराय एवं अनन्तभोग (अनन्त माधुर्य)	209
वीर्यान्तराय एवं अनन्तवीर्य	210
अन्तराय कर्म : एक समग्र विश्लेषण	212
अन्तराय कर्म का क्षय और सिद्धावस्था	218
मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म में पारस्परिक सम्बन्ध	218
घातीकर्मी का पारस्परिक सम्बन्ध एवं अन्तराय कर्म	220
कर्मसिद्धान्त और पुण्य—पाप	222—230
आत्मविकास, सम्पन्नता और पुण्य—पाप	231—238

प्रकाशकीय

जैनधर्म—दर्शन में कर्म—सिद्धान्त का विस्तृत एवं व्यवस्थित निरूपण हुआ है। जीवादि नवतत्त्वों में निरूपित 'बंध तत्त्व' मुख्यतः कर्म—सिद्धान्त एवं कर्म—प्रकृतियों के विवेचन से सम्बद्ध है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, षट्खण्डागम एवं उस पर धवला टीका, कसायपाहुड एवं उस पर जयधवलाटीका, महाबंध, कम्मपयडि, पंचसंग्रह, कर्मग्रन्थ (भाग 1 से 6), गोम्मटसार—कर्मकाण्ड आदि अनेक ग्रन्थ जैन कर्म—सिद्धान्त विषयक मान्यताओं का प्रतिपादन करते हैं।

जब जैन कर्म—सिद्धान्त का गहन अध्ययन किया जाता है तो अनेक प्रचलित मान्यताएँ एवं पारिभाषिक अर्थ विवेकशील मस्तिष्क को सहज स्वीकार्य नहीं होते हैं। जैनधर्म—दर्शन के प्रमुख विद्वान् श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ध्यानसाधक एवं मौलिक चिन्तक हैं। उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय इन चार घातिकर्मों तथा वेदनीय, आयु, नाम एवं गोत्र इन चार अघातिकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियों के आत्म—साधना, स्वाध्याय एवं चिन्तन के आधार पर ऐसे नये अर्थ दिए हैं जो विसंगतियों का निराकरण कर नूतनदृष्टि प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए वे ज्ञान का अनादर करने या आचरण न करने को ज्ञानावरण कर्म के बंध का प्रमुख कारण प्रतिपादित करते हैं। वेदनीय कर्म का प्रतिपादन करते हुए वस्तुओं की प्राप्ति को वेदनीय कर्म का फल नहीं मानते, किन्तु निमित्त से साता—असाता का उदय होना स्वीकार करते हैं। अन्तराय कर्म के भेदों में दान का अर्थ उदारता, लाभ का अर्थ अभाव का अभाव करते हुए नूतन विवेचन किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्राक्कथन में कर्म—सिद्धान्त विषयक विभिन्न घटकों का निरूपण किया गया है तथा अष्टकर्मों के विवेचन के अनन्तर सामुदायिक कर्म आदि की अवधारणाओं की परीक्षा की गई है। इस प्रकार यह एक क्रान्तिकारी पुस्तक है। साथ

में यह भी स्पष्ट करना उचित है कि प्रमुख विद्वान डॉ० सागरमलजी जैन एवं डॉ० धर्मचन्द जैन ने भूमिका एवं आमुख में उल्लेख किया है कि लोढ़ाजी का विवेचन आगम संगत है। उनके प्रयास आगमिक आधार और मौलिकता से अभिन्न हैं।

श्री लोढ़ा सा. की जीवादि नवतत्त्वों पर क्रमशः 1. जीव-अजीव तत्त्व, 2. पुण्य-पाप तत्त्व, 3. आस्रव-संवर तत्त्व एवं 4. निर्जरा तत्त्व पुस्तकें पूर्व में प्रकाशित हो चुकी हैं। उसी क्रम में यह 'बंध तत्त्व' प्राकृत भारती अकादमी के.....पुष्प के रूप में प्रकाशित की जा रही है।

हमें आशा है कि लेखक की यह 'बंध तत्त्व' पुस्तक भी नूतन व्याख्या के माध्यम से गुत्थियों को सुलझाने में सहायक सिद्ध होगी। पुस्तक के लेखक श्री लोढ़ा सा., भूमिका लेखक प्रोफेसर डॉ. सागरमल जी जैन, शाजापुर एवं सम्पादक डॉ. धर्मचन्द जी जैन, जोधपुर का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हुए हमें महती प्रसन्नता है। पुस्तक का कम्प्यूटरीकरण करने हेतु श्री कमलेश मेहता धन्यवाद के पात्र हैं।

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी

प्राक्कथन

बंध—तत्त्व में कर्मबंध से संबंधित वर्णन है। कर्म—बंध की परिभाषा करते हुए कर्मग्रन्थ के प्रथम भाग में कहा है—

“कीदृज् जिण्णं ठेउडिं, जेणं तो भण्णए कम्मं।” (गाथा १)

जीव के द्वारा मन, वचन, काया की कषाय आदि हेतुओं से जो क्रिया की जाती है, उसे कर्म कहते हैं अर्थात् जीव द्वारा कषाययुक्त प्रवृत्तियों के कारण जो आत्म—प्रदेशों में परिस्पंदन होता है, जिसके आकर्षण से आत्मा से भिन्न पुद्गल (कार्मण वर्गणा) चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म—प्रदेशों से सम्बद्ध व एकरूप हो जाते हैं, इसे ही कर्म—बंध कहते हैं।

आशय यह है कि इन्द्रिय, मन आदि से जो क्रिया की जाती है, उससे कर्म—बंध होता है और जो क्रिया स्वतः होती है, उससे कर्म—बंध नहीं होता है। कारण कि करने में क्रिया या प्रवृत्ति का राग और सुख पाने रूप फल की इच्छा होती है अर्थात् कर्तृत्व—भोक्तृत्व भाव होता है, इससे उस क्रिया का प्रभाव आत्म—प्रदेशों पर, अंतःकरण पर अंकित होता है और स्थित रहता है, यही कर्म—बंध है अथवा यों कहें कि इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है— १. स्वयं के द्वारा की जाने वाली और २. स्वतः होने वाली । उदाहरणार्थ— १. चक्षु इन्द्रिय से किसी सुन्दर दृश्य को देखने की रुचि होना और उस सुंदरता से सुख भोगने के लिए प्रवृत्ति करना तथा सुख का भोग करना। इससे उसका प्रभाव अंकित होना, संस्कार निर्माण होना कर्म—बंध है तथा २. नयन खोलने से अनेक दृश्यों का दिखाई देना, परन्तु उनसे सुख न लेना, भला—बुरा न समझना, उनके प्रति राग—द्वेष न होना, उनका प्रभाव अंकित न होना बन्ध नहीं है। इसी प्रकार चक्षुइन्द्रिय से अनेक दृश्य स्वतः दिखाई देने से कर्म—बंध नहीं होता है।

कोई व्यक्ति शरीर में तेल (स्नेह) लगाकर धूल में लेटे, तो धूल उसके शरीर के चिपक जाती है, उसी प्रकार आत्म—प्रदेशों में जब राग—द्वेष से परिस्पन्द, प्रकम्पन होता है तब आत्म—प्रदेशों के साथ कर्म— पुद्गल सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार जीव और कर्म का आपस में बन्ध होता है।

जैसे दूध और पानी का, आग और लोहे के गोले का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध होता है, बंधन होता है।

जहाँ बंधन है, वहाँ पराधीनता है, दुःख है। दुःख स्वभाव से ही किसी भी प्राणी को पसंद नहीं है। सभी जीव दुःख से मुक्ति पाना चाहते हैं और दुःख से मुक्त होने का उपाय है— बंधन रहित होना। बंधन दो प्रकार का है— बाहरी और आन्तरिक बंधन। बाहरी बंधन का कारण भी आन्तरिक बंधन है। आन्तरिक बंधन विद्यमान रहते बाहरी बंधन नष्ट नहीं होते हैं। अतः आन्तरिक बंधनों का क्षय करना आवश्यक है। बंधन का नाश तभी संभव है जब बंधन का यथार्थ ज्ञान हो।

‘बंधन’ है— पर से जुड़ना, पराधीन होना। पराधीनता दुःख है। अतः सर्वप्रथम बंधन के स्वरूप को समझना आवश्यक है। वस्तुतः यह बंधन बाहरी नहीं है, अपितु प्राणी की क्रियाओं व इच्छाओं से निर्मित आन्तरिक बन्धन है, जिसे जैन दर्शन में कर्म-बंध होना कहा है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हम जो भी क्रिया, काय या विचार की प्रवृत्ति करते हैं, उसके प्रभाव का बिंब, चित्र या रूप हमारे अंतःस्तल पर अंकित हो जाता है। इसे साधारण भाषा में ‘संस्कार पड़ना’ व जैन दर्शन में ‘कर्मबंध’ कहा जाता है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के अनुरूप संस्कार की संरचना अनवरत होती रहती है तथा इन संस्कारों का अन्तरतम में संचय होता रहता है, जो भविष्य में उपयुक्त समय आने व अनुकूल निमित्त मिलने पर अभिव्यक्त होकर प्राणी को अपना परिणाम भोगने के लिए विवश करते हैं। जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल, अचेतन भौतिक पदार्थ माना गया है। उसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान भी इसे भौतिक रूप में स्वीकार करता है। आधुनिक मनोविज्ञान विचार व विचारों की तरंगों का रूप, रंग, आकृति आदि तो मानता ही है, साथ ही इन तरंगों की प्रेषण व ग्रहण—क्रियाओं को भी स्वीकार करता है। विचारों की इसी प्रेषण व ग्रहण विधि को ‘टेलीपैथी’ कहा जाता है। टेलीपैथी के प्रयोग में एक व्यक्ति द्वारा हजारों मील दूर बैठे व्यक्ति को विचारों द्वारा संदेश भेजने में विज्ञान ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। टेलीपैथी की महत्ता इससे विशेष बढ़ जाती है कि जहाँ पन्द्रहवीं में रेडियों तरंगे भी पहुँचने में असमर्थ हैं, वहाँ विचारों की तरंगे पहुँचने में समर्थ हैं।

इसका कारण विचार तरंगों का रेडियो की विद्युत तरंगों से भी अति सूक्ष्म होना तथा द्रुतगतिमान होना है।

आशय यह है कि विज्ञान—जगत् में तन के समान मन, वचन, वाणी व विचार को भी भौतिक (पौद्गलिक) पदार्थ माना गया है। तन, वचन, मन का जिससे सर्जन होता है, इनकी जिससे उत्पत्ति होती है अर्थात् तन, वचन, मन जिस बीज के फल हैं, उसे जैन दर्शन में कर्म कहा है। यह प्राकृतिक नियम है कि फल वैसा ही होता है जैसा बीज होता है। फल और बीज में जातीय एकता होती है। तन, मन, वाणी परमाणुओं के समुदाय से पुद्गलों के पुंज से बने हैं। अतः पौद्गलिक हैं। इससे इनके बीज कर्म को भी पौद्गलिक मानना ही होगा। जिन पुद्गल परमाणुओं से कर्म रूप बीज लगता है, जैन दर्शन में उन्हें कार्मण वर्गणा कहते हैं। ये कार्मण वर्गणाएँ लोक में सर्वत्र विद्यमान हैं, व्याप्त हैं। इन कार्मण वर्गणाओं का चेतन के साथ बंध कैसे होता है, इसे फिल्म के उदाहरण से समझें—

प्राणी का अंतःकरण या अंतस्तल एक कैमरे में लगी फिल्म—रील के समान है। इस फिल्म में प्राणी सोचता है, विचारता है, इच्छा करता है, वेदन करता है आदि जो भी प्रवृत्ति या क्रिया करता है, उन सबके चित्र सदैव अंकित होते रहते हैं। फिल्म पर लगे हुए रासायनिक पदार्थ एवं बाहर से पड़ने वाले प्रतिबिंब, इन दोनों के संयोग से ही चित्र का निर्माण होता है। बाहर से वस्तु, घटना का अन्तःकरण पर जैसा प्रतिबिंब पड़ता है, उसी के अनुरूप अन्तःकरण की फिल्म पर चित्र बनता है। प्रतिबिंब जितना प्रकाशमय व स्पष्ट होता है, चित्र भी उतना ही अधिक स्पष्ट प्रकट होता है, उभरता है। अंधेरे में चित्र स्पष्ट नहीं आता है। फिल्म पर पारा आदि जैसा मंद— तीव्र रासायनिक पदार्थ लगा होता है, चित्र उतने ही अधिक व कम काल तक टिकने वाला तथा सादा व रंगीन आता है। इसी प्रकार मन, वचन तथा तन की प्रवृत्ति जैसी होती है, वैसी ही प्रकृति बनती है, जितनी अधिक प्रवृत्ति होती है, प्रकृति उतनी ही प्रगाढ़ व घनीभूत होती है, भीतर के भावों का रस रासायनिक पदार्थों के समान है। अतः रस या कषाय जितना अधिक होता है, प्रकृति उतने ही अधिक काल तक स्थित रहने वाली होती है तथा रस या कषाय के अनुरूप ही प्रकृति शुभ—अशुभ या तीव्र—मंद फल देने वाली होती है।

इन चित्रों का निर्माण आत्म-प्रदेशों के समीपवर्ती अति सूक्ष्म पुद्गल कर्मण-वर्गणाओं से होता है। कर्मण-वर्गणाओं से निर्मित इन चित्रों को कर्म कहा जाता है। आत्मा द्वारा ग्रहण किये उन कर्मों के समुदाय को कर्मण शरीर कहते हैं। यह कर्मण शरीर प्राणी के अंतःस्थल में सदैव विद्यमान रहता है। प्राणी की शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, बल, प्राण आदि का निर्माण इसी के अनुसार होता है। यह कर्मण शरीर ही प्राणी का भाग्य विधाता है। इसी में प्राणी के सभी भले-बुरे कामों का, कर्मों का लेखा-जोखा रहता है और उसी के अनुसार भला-बुरा, शुभ-अशुभ फल मिलता है। शुभ फल को सौभाग्य तथा अशुभ (बुरे) फल को दुर्भाग्य कहा जाता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा के साथ कर्म क्यों जुड़ते हैं, तो कहना होगा कि जब आत्मा का किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति के साथ लगाव होता है, तो कर्म का बंध हो जाता है अर्थात् आत्मा से कर्म जुड़ जाते हैं।

वस्तु, व्यक्ति, स्थिति के साथ जब तक लगाव नहीं होता है, तब तक आत्मा उससे असंग रहता है, आत्मा उनसे नहीं जुड़ता है। उदाहरणार्थ हम बाजार से होकर निकलते हैं। मार्ग में परिचित-अपरिचित अनेक व्यक्ति मिलते हैं, हम उनके पास होकर निकल जाते हैं, परन्तु हमारे मन पर उनका कोई प्रभाव अंकित नहीं होता है। हमें कोई पूछे कि आपको अमुक वेशभूषा, नाम वाला व्यक्ति मिला क्या? तो हम कह देते हैं कि हमें कोई ध्यान या कोई जानकारी नहीं है। परन्तु जिस व्यक्ति से हमारा कुछ भी सम्बन्ध है, लगाव है, उसकी आकृति या प्रतिबिम्ब हमारे हृदय पर अंकित हो जाता है, किसी के पूछते ही वह अंकित प्रभाव स्मृति के रूप में प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार मार्ग में हलवाई की दुकान पर बीसों मिठाइयाँ दिखती हैं, परन्तु जब तक हम उनमें से किसी मिठाई को देखकर उसके स्वाद या अन्य किसी विषय का चिंतन नहीं करते हैं, तब तक हमारे अन्तःकरण पर उसका प्रभाव अंकित नहीं होता है। इसी प्रकार कपड़े की दुकान पर विविध कपड़े दिखते हैं। सर्राफ की दुकान पर अनेक आभूषण दिखते हैं, परन्तु उनका प्रभाव हमारे अन्तःकरण पर अंकित नहीं होता है कारण कि उनके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं जुड़ता है। हम केवल उसके दर्शक रहे, भोक्ता नहीं बने। कर्मबंध होते हैं— विषयों के भोग से, उसे पसंद-नापसंद करने से, चाहने- न चाहने से। शास्त्रीय भाषा में चाहने को

राग और न चाहने को द्वेष कहते हैं। जब हम किसी के प्रति राग-द्वेष करते हैं, तो उसके साथ जुड़ जाते हैं, उससे Attachment (आसक्ति) हो जाता है और उसकी छाप हमारे चित्त पर अंकित हो जाती है।

हम प्रतिक्षण राग-द्वेष करते रहते हैं किसी को पसंद या किसी को नापसंद करते हैं। Pull-Push करते रहते हैं, उससे Attached होते रहते हैं। शास्त्रीय भाषा में कहें तो कर्मबंध करते रहते हैं। इस प्रकार हम प्रतिदिन अगणित कर्म बांधते रहते हैं। वे सब अंतःकरण में अंकित होकर संचित होते रहते हैं। परन्तु अभी हमें कोई पूछे कि हमने क्या-क्या पसंद और नापसंद किया, तो उन असंख्य संचित कर्मों, वासनाओं-इच्छाओं के संस्कारों में से हमें मुश्किल से कुछ (दो-चार) याद आयेंगे। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि उन सब संस्कारों का छाप-अंकन, चित्र हमारे अन्तःस्थल से समाप्त हो गया है। वस्तुतः वे सब संस्कार इस समय भी अंतःकरण के अज्ञात (अप्रकट) भाग में विद्यमान हैं। इसी अज्ञात या अप्रकट भाग को मनोविज्ञान की भाषा में अवचेतन मन कहते हैं। बोलचाल की भाषा में भीतरी मन या अंतःकरण कहते हैं। इसीलिये कई बार हम जिस बात की नापसंदगी का कोई कारण नहीं जानते हैं तब कहते हैं कि मेरा भीतरी मन यह नहीं मानता है। वह भीतरी मन ही वह मन है जिसमें हमारे संस्कार संचित होते रहते हैं। अभिप्राय यह है कि अंतःकरण में असंख्य संस्कार अंकित व संचित हैं, परन्तु वे अभी ज्ञात मन में नहीं उभर रहे हैं, प्रकट नहीं हो रहे हैं, उदय नहीं हो रहे हैं। यदि वे संस्कार अंतःकरण में अंकित व संचित नहीं होते, तो उनसे संबंधित स्थान व घटना देखते ही या किसी के द्वारा याद दिलाते ही स्मृति पटल पर प्रकट नहीं होते। उनका समय-समय पर प्रकट होना ही यह सूचित करता है कि वे अन्तर में अंकित हैं, संचित हैं, विद्यमान हैं। इस प्रकार जो संस्कार प्रकट नहीं होते हैं, परन्तु अंतःस्थल पर जिनका अस्तित्व है, शास्त्रीय भाषा में उनको कर्मों की सत्ता कहा गया है। जो संस्कार या कर्म प्रकट होते हैं, उन्हें उदय कहा गया है। जो संस्कार किसी के निमित्त से जागृत होकर अर्थात् सत्ता में से खिसककर बाहर प्रकट होते हैं, उदय होते हैं, तो सत्ता से खिसककर उदय में आने की इस प्रक्रिया को उदीरणा कहा जाता है। सीधे शब्दों में संस्कार का अंतस् में अंकित होना 'बन्ध', अंतस् में स्थित

रहना 'सत्ता', बाहर में प्रकट होना 'उदय' तथा निमित्त विशेष से सुप्त संस्कारों का प्रकट होना अर्थात् उदय में आने के लिये गतिशील होना, उदीरणा है।

जो संस्कार या कर्म उदय हुआ है, स्थिति या परिस्थिति के रूप में प्रकट हुआ है, वह प्रतिक्षण क्षीण तथा नष्ट होता है और उसके स्थान पर अगले ही क्षण नया संस्कार उदय में आ जाता है। भले ही हम इस सच्चाई से परिचित हों या नहीं हों और हमें यह लगे कि पूर्व वाली स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, वह ज्यों का त्यों है, परन्तु यह भ्रान्ति है। इसे समझने हेतु हम दीपक की लौ को लें। लौ हमें एक—सी दिखाई देती है, परन्तु वह लौ प्रतिक्षण नष्ट हो रही है और उसके स्थान पर नयी लौ आ रही है। यदि ऐसा न होता, तो दीपक में भरा तेल कम क्यों होता। प्रतिक्षण नई लौ पैदा करने में तेल का उपयोग हो रहा है। परन्तु यह सब कार्य बड़ी द्रुतगति से हो रहा है तथा पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती लौ में इतनी अधिक समानता है कि हमें ऐसा भ्रम होता है कि अभी भी वही लौ है, जो हमने पहले जलती हुई लौ देखी थी। इसी प्रकार उदित कर्म प्रतिक्षण क्षीण होता है, इसकी स्थिति—अवस्था (पर्याय) प्रतिक्षण परिवर्तित होती है, उसके स्थान पर नवीन अवस्था उदित हो रही है, फिर भी हमें पता नहीं चलता है।

ऊपर जो भी घटनापरक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे कर्म के स्थूलतम रूप के द्योतक मात्र हैं, केवल समझने के लिये संकेत मात्र हैं। वस्तुतः कर्म का वास्तविक स्वरूप बड़ा गहन है। उसे अंतर्मुखी होकर अन्तर की गहराई में पैठकर अनुभव करने से ही सही रूप में समझा जा सकता है।

कर्म-बंध का मुख्य कारण कषाय है, योग नहीं

जैन-दर्शन में योग और कषाय ये दो कर्म-बंध के कारण कहे गये हैं। योग से कर्मों का प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है, ऐसा कहा गया है, सो यथार्थ ही है। कारण कि योगों की प्रवृत्ति से कर्मों की रचना (सर्जन) और कषाय से कर्मों का बंध होता है।

कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि प्रवृत्ति के बिना कर्मों या दलिकों का अर्जन नहीं हो सकता और कर्मों का अर्जन ही नहीं हो तो बंध किसका होगा। अतः योगों के अभाव में बंध का अभाव होगा। इस प्रकार कर्म — बंध की मौलिक सामग्री का निर्माण योगों से होता है। परन्तु कर्म दलिकों (प्रदेशों) का अर्जन होना और उसका बंध होना ये दोनों एक बात नहीं है। वीतराग केवली के योगों की प्रवृत्ति है, अतः कर्म—दलिकों का अर्जन तो होता ही रहता है, परन्तु कर्म—बंध नहीं होता है।

विश्व में कर्म—वर्गणा सर्वत्र विद्यमान है और आत्माएँ भी सर्वत्र विद्यमान हैं अर्थात् जहाँ कर्म वर्गणा विद्यमान है वहाँ आत्मा भी विद्यमान है, फिर भी उन कर्म वर्गणाओं का आत्मा के साथ बंध नहीं होता है, क्योंकि उनका आत्मा के साथ संबंध स्थापित नहीं हुआ है। कर्मों का आत्मा के साथ स्थापित या स्थित होना ही कर्म—बंध है और ये कर्म जितने काल तक स्थित रहेंगे वह ही स्थिति बंध है। इस प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का स्थित होना और स्थिति बंध का घनिष्ठ संबंध है और स्थिति बंध होता है कषाय से। इस दृष्टि से कर्म—बंध का प्रधान कारण कषाय है। **“गोयमा? चउहिं ठणेहिं अट्ठ कम्म पयडिओ बंधञ्जु, बंधति, बंधिञ्जति तंजल्ल-कोठेणं, माणेणं मायाए, लोभेणं। दं. 1-24 एवं नेज्झया जाव वेमाणिया।”**

—पन्नवणा पद 14, द्रव्यानुयोग पृष्ठ 1093

हे गौतम! जीवों ने चार कारणों से आठ कर्म प्रकृतियों का बंध किया है, करते हैं और करेंगे, यथा क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से। इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक 24 दण्डकों में जानना चाहिये।

वस्तुतः कषाय ही बंध का कारण है, योग नहीं। योग से केवल कर्मों के दलिकों (प्रदेशों) का अर्जन होता है, बंध नहीं। क्योंकि जिन कर्मों का स्थिति बंध नहीं होता उनका न प्रकृति बंध होता है, न प्रदेश—बंध और न अनुभाग बंध। ये तीनों प्रकार के बंध स्थिति बंध होने पर ही संभव हैं।

यह नियम है कि कर्म जितने काल तक आत्मा में स्थित रहते हैं तब तक ही आत्मा कर्मों से बंधी रहती है या कर्म आत्मा से बंधे रहते हैं। कर्मों का आत्मा के साथ बंधे रहना ही स्थिति बंध है। कर्मों का आत्मा में स्थित न रहना, आत्मा से अलग हटना ही कर्म का मिटना है— कर्म का क्षय है।

अतः कर्म का बंध व क्षय कर्म की स्थिति के बंध और क्षय पर निर्भर करता है। जैसाकि वीरसेनाचार्य ने जयधवला टीका में लिखा है—

पूर्वअचियन्म कम्मन्म कुदो न्वओ? दिठदिक्खवादो॥

दिठदिक्खवयो कुदो? कन्नायक्खवादो। उत्तं च—

कम्मं जोअणिमित्तं बज्झाई कम्माठिद्दी कन्नायवन्ना।

ताणमभावे बंधदिठ्ठीणभावा अडइ अंतं॥

—कसायपाहुड, प्रथम पुस्तक, पृ. 57

शंका— पूर्वसंचित कर्म का क्षय किस कारण से होता है?

समाधान— कर्म की स्थिति का क्षय हो जाने से उस कर्म का क्षय होता है।

शंका—स्थिति का विच्छेद किस कारण से होता है?

समाधान—कषाय के क्षय होने से स्थिति का विच्छेद (घात) होता है अर्थात् नवीन कर्मों में स्थिति नहीं पड़ती है और कर्मों की पुरातन स्थिति का विच्छेद (घात) हो जाता है। कहा भी है—

योग के निमित्त से कर्मों का आस्रव (अर्जन) होता है और कषाय के निमित्त से कर्मों में स्थिति पड़ती है। इसलिए योग और कषाय का अभाव हो जाने पर बंध और स्थिति का अभाव हो जाता है और उससे सत्ता में विद्यमान कर्मों की निर्जरा होती है।

जैसा कि आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है—

जइ वि एवमुवदिअति तित्थयन्ना तोवि ण तेभिं कम्मबंधो अत्थि।
तत्थ मिच्छत्ताअंजमकन्नायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जाअेअ- कम्माणं
बंधाभावदो। वेयणीयन्म वि ण दिठ्ठिअणुभागबंधा अत्थि, तत्थ
कन्नायपच्चयाभावादो। जोगो अत्थि ति ण तत्थ पयडिपदेअ- बंध
णमत्थित्तं वोत्तुं अक्किज्जदे? दिठ्ठिबंधेण विणा उदयअक्खवेण
आगच्छमाणाणं पदेअणमुवयानेण बंधववएअुवदेअादो। ण च जिणेअु
देअअयलधम्मोवदेअेण अज्जियकम्म-अंचिओवि अत्थि
उदयअक्खवकम्मागमादो अअंनवेज्जगुणाए अेढीए
पूर्वअचियकम्मणिज्जनं पडिअमयं कनेतेअु कम्म- अंचयाणुववतीदो।

—कसायपाहुड, प्रथम पुस्तक, पृ. 92—93

अर्थात् यद्यपि तीर्थंकर श्रावकों और मुनियों को उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबंध नहीं होता है, क्योंकि जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्म-बंध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बंध नहीं होता है। वेदनीय कर्म का बंध होता हुआ भी उसमें स्थिति बंध और अनुभाग बंध नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर स्थिति बंध और अनुभाग बंध के कारणभूत कषाय का अभाव है। यद्यपि वहाँ पर तेरहवें गुणस्थान में योग है, फिर भी प्रकृति बंध तथा प्रदेशबंध के अस्तित्व का कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि स्थिति बंध के बिना उदयरूप से आने वाले निषेकों में उपचार से बंध के व्यवहार का कथन किया गया है। जिनदेव देशव्रती श्रावकों और सकलव्रती मुनियों को धर्म का उपदेश करते हैं, इसलिए उनके अर्जित कर्मों का संचय बना रहता है सो भी बात नहीं है, क्योंकि उनके जिन नवीन कर्मों का अर्जन होता है वे उदय रूप ही हैं उनसे भी असंख्यात गुणी श्रेणी रूप से वे प्रतिसमय पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करते हैं। इसलिए उनके कर्मों का संचय नहीं बन सकता है।

वीरसेनाचार्य के उपर्युक्त कथन से यह परिणाम निकलता है कि कषाय के उदय, क्षय व क्षयोपशम से क्रमशः कर्म का बंध, क्षय व क्षयोपशम होता है। कर्मसिद्धान्त में कषाय में कमी होने को विशुद्धि व कषाय में वृद्धि को संक्लेश कहा है। साथ ही विशुद्धि से कर्म की स्थिति का घात बताया है जो कर्म के अपवर्तन या निर्जरा का द्योतक है तथा संक्लेश से कर्म की स्थिति की वृद्धि कही है जो कर्म-बंध के उद्वर्तन का द्योतक है, जैसाकि तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन 10 की टीका में आचार्य अकलंक व पूज्यपाद ने कहा है कि विशुद्धि से प्रीति का उदय, उपेक्षाभाव की जागृति तथा अज्ञान का नाश होता है। ये तीनों ही मुक्ति में सहायक हैं अर्थात् विशुद्धि रूप शुभभाव मुक्ति-प्राप्ति में हेतु है।

कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि कषाय की वृद्धि से पूर्व संचित समस्त पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग में वृद्धि होती है तथा कषाय की कमी से स्थिति व अनुभाग में कमी होती है। निष्कर्ष यह है कि कर्मों का बंध, सत्ता, उद्वर्तन (वृद्धि), अपवर्तन (कमी), क्षय आदि कर्मों की समस्त स्थितियाँ कषाय पर ही निर्भर करती हैं। कहा भी है— **“कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव”** अर्थात् कषाय मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

पुण्य के स्थिति बंध का कारण : कषाय

अब यह प्रश्न उठता है कि पुण्य का स्थिति बंध अशुभ क्यों है?

समाधान— जो व्यक्ति यह चाहता है कि मेरा प्रभाव दूसरों पर पड़े, मेरे सच्चरित्र, कर्तव्यनिष्ठा से अन्य जन प्रभावित हों, दूसरों पर मेरे व्यक्तित्व की छाप पड़े, महत्त्व बढ़े और आगे भी बना रहे, मेरे गुणों से लोग प्रभावित हों, मुझे सज्जन, महापुरुष समझें, मेरी गिनती महापुरुषों में, सिद्ध पुरुषों में हो, मेरे मरने के पश्चात् भी लोग मुझे याद करें, मेरा सत्कार हो, सम्मान हो, लोग मुझे पूजें, सुख—सुविधा पहुँचायें आदि फल की आशा रखे तथा अपने सरलता, क्षमा, निर्लोभता, मृदुता आदि गुणों से अपने महत्त्व का अंकन करे तो उसका ऐसा चाहना या करना मान कषाय का सूचक है। इससे उसके पुण्य व पाप प्रकृतियों का स्थिति बंध बढ़ता है तथा पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग घटता है।

सदप्रवृत्तियों के करने का राग, फल की आशा तथा गुणों का अभिमान भयंकर दोष है। इस दोष के रहते साधक आगे नहीं बढ़ सकता। जब साधक अपने में अपनी कोई विशेषता नहीं पाता, तब गुणों का अभिमान नहीं रहता है, गुण उसका सहज स्वभाव बन जाते हैं। फिर गुणों की उपलब्धियों के लिए श्रम या अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। वे सहज रूप से प्रकट हो जाते हैं। सभी जीवों को गुण स्वभावतः स्वतः प्राप्त हैं, अतः जब तक साधक गुणों को अपनी देन मानता है तब तक उसमें मैं करता हूँ, मैंने गुणों को पैदा किया है, यह अहं भाव व कर्तृत्व भाव बना रहता है। जहाँ कर्तृत्व भाव है, अहंभाव है वहाँ बंध है। ऐसी साधना से दोष दबते हैं, दोषों का दमन होता है, परन्तु दोष मिटते नहीं हैं। केवल दोषों का उपशम होता है, उदय व क्षय नहीं होता। वह उपशम श्रेणी करता है, जिसमें समस्त दोष सत्ता में ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। वे पुनः अति अल्पकाल में ही उदय में आकर उसका पतन कर देते हैं।

क्षपकश्रेणि वही कर सकता है जो कर्तृत्वभाव, कर्तव्य का अहंकार, श्रम युक्त साधना, अनुष्ठान या अन्य किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता है, किसी भी प्रकार का संकल्प—विकल्प नहीं करता है, जो कर्म उदय के रूप में प्रकट हो रहे हैं उनसे असंग हो तादात्म्य तोड़ता है,

उनका द्रष्टा रहता है, उन उदीयमान कर्मों के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करता है, उन्हें अच्छा-बुरा नहीं समझता है, ये कर्म क्यों उदय हो रहे हैं, ऐसा भी नहीं विचारता है, वह निर्विकल्पता से मिलने वाली आंशिक शान्ति के रस में रमण नहीं करता है। अनाश्रय (पराश्रय के त्याग) से मिली आंशिक स्वाधीनता के रस को महत्त्व नहीं देता है। उससे संतुष्ट नहीं होता है। तब वह इन्द्रियातीत, देहातीत, लोकातीत, भवातीत, गुणातीत होकर अनन्त माधुर्य (प्रीति) रूप वीतरागता का अनुभव करता है। ऐसा रस—एक बार चखने पर उसमें फिर परिवर्तनशील, क्षणिक एवं आकुलतायुक्त विषय—रस की कामना कभी नहीं जगती है। इन्द्रिय, देह, लोक (संसार), गुण आदि से सुख न लेना, इनके सुख को पसन्द न करना ही इनसे अतीत होना है। जब साधक की सरलता, विनम्रता, सहजता, स्वाभाविकता इतनी बढ़ जाती है कि वह जीवन का अंग बन जाती है तो साधक गुणों से अभिन्न हो जाता है। फिर गुण और गुणी का, साध्य और साधक का, साधन और सिद्धि का भेद व भिन्नता मिट जाती है। क्योंकि चीज वही दिखाई देती है जो अपने से भिन्न हो। जो अपने से अभिन्न होती है वह दिखाई नहीं देती है। अतः जब तक साधक को अपने में गुण होने का भास होता है तब तक उसमें और गुणों में एकत्व व अभिन्नता नहीं हुई, ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पुण्य के साथ रहा हुआ कषायभाव स्थिति बंध का कारण है। पुण्य का भी स्थिति बंध, कषाय, पाप व विकार का सूचक है अतः अशुभ है, परन्तु इससे पुण्य अशुभ नहीं हो जाता है। उदाहरणार्थ शरीर के साथ लगा हुआ रोग शरीर के स्वास्थ्य के लिए घातक है, परन्तु रोग हो जाने से शरीर बुरा नहीं हो जाता है, हेय नहीं हो जाता है, बुरा या हेय रोग ही होता है। इसी प्रकार पुण्य के साथ स्थिति बंध लगा होने से पुण्य हेय नहीं हो जाता है, पुण्य का केवल स्थिति बंध ही बुरा है, अनुभाग बुरा नहीं है, क्योंकि पुण्य का फल अनुभाग से मिलता है।

कर्म—सिद्धान्त के विभिन्न घटक

‘कर्म’ शब्द का अर्थ क्रिया है अर्थात् जीव द्वारा की जाने वाली क्रिया या प्रवृत्ति को कर्म कहते हैं। प्रवृत्ति का प्रभाव प्राणी के अंतस्तल पर

संस्कार रूप में अंकित होता है। इसे ही जैनदर्शन में कर्मबंध कहा है। यहाँ कर्मसिद्धान्त—विषयक प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेशबंध, कर्म की आठ प्रकृतियाँ, कर्म विपाक के चार प्रकार, करण—सिद्धान्त आदि विभिन्न घटकों का संक्षेप में विवेचन किया जाएगा।

बंध चतुष्टय

जैन धर्म में प्रवृत्ति के मानसिक, वाचिक और कायिक ये तीन प्रकार कहे हैं। जिन प्रवृत्तियों से आत्म—प्रदेशों में स्पंदन (हलचल) हो, प्रभाव पड़े अर्थात् उनसे संबंध स्थापित हो जाय, उन प्रवृत्तियों को योग कहा है। योग से आत्म—प्रदेशों पर पड़ा प्रभाव, चित्र या अंकित संस्कार जिस प्रकार का है, उसे प्रकृति बंध कहते हैं। प्रवृत्तियों की प्रबलता से, सघनता से उस प्रभाव का चित्र जितना स्पष्ट अंकित होता है एवं प्रभाव जितना पुष्ट होता है, उसे प्रदेश बंध कहा जाता है। इसलिए प्रकृति और प्रदेश के बंध का कारण योग या प्रवृत्ति को बताया गया है। इन तीनों प्रवृत्तियों में जैसी तीव्र मंद रसानुभूति होती है वैसा ही तीव्र—मंद रसबंध या अनुभाग बंध होता है। जीव के साथ कर्मों के रहने की काल मर्यादा को स्थिति बंध कहा है। रसानुभूति को जैन दर्शन में कषाय कहा है। अतः जैन दर्शन में कषाय को ही स्थिति व अनुभाग बंध का कारण कहा है। इस प्रकार कर्म बंध के 1. प्रकृति बंध 2. स्थिति बंध 3. अनुभाग बंध और 4. प्रदेश बंध, ये चार प्रकार हैं।

बंध—सत्ता—उदीरणा—उदय

कर्म—बंध के ये चारों प्रकार भविष्य में फल देने से संबंध रखते हैं। किसी क्रिया या कार्य का प्रभाव आत्मा में अंकित होना कर्मबंध है। अंतःकरण पर पड़े प्रभाव का प्रकाशन भविष्य में ही सम्भव है। प्रभाव का यह प्रकाशन ही कर्म का परिणाम है। कर्म के इस परिणाम को, कर्म—विपाक या कर्मोदय कहा गया है। प्रभाव का प्रकाशन अथवा उदय तदनुकूल विभिन्न कारण मिलने पर ही प्रकट होता है। जब तक प्रकट नहीं होता, तब तक वह संस्कार अंतःकरण में, अचेतन मन में, कारण शरीर में, कर्मण शरीर में अंकित रहता है, उसमें स्फुरणा नहीं होती। फिर भी संस्कार का सत्त्व विद्यमान रहता है। इसे कर्म की सत्ता कहा जाता है। निमित्त आदि किसी कारण से उस संस्कार में प्रकट या उदय होने के लिए

स्फुरणा होना उदीरणा कहा जाता है और उस स्फुरणा का प्रवृत्ति रूप में प्रकट होना उदय कहा जाता है।

कर्म के उपर्युक्त चारों प्रकार के बंध तथा सत्ता, उदीरणा व उदय को एक उदाहरण से समझें— 'क' और 'ख' दो मित्र हैं। 'ख' को शराब पीने की आदत है, उसने अपने मित्र 'क' से जिसने कभी शराब नहीं पी है, शराब पीने का आग्रह किया। उसने मित्र का मन रखने के लिए शराब की घूँट ली। उसे शराब का स्वाद व गंध दोनों अरुचिकर लगे, फिर भी उस शराब से उत्पन्न नशा कुछ रुचिकर लगा। फिर वह 'क' अपने 'ख' मित्र के आग्रह से बार—बार शराब पीने लगा जिससे धीरे—धीरे नशे का प्रभाव उस पर छाता गया। अब उसे शराब की गंध व स्वाद रुचिकर लगने लगे। इस प्रकार 'क' द्वारा शराब पीने की बार—बार की गई प्रवृत्ति ने शराब पीने की प्रकृति (आदत) का रूप धारण कर लिया। इसे कर्म—साहित्य में प्रकृति बंध कहा जा सकता है। जितनी बार और जितनी अधिक शराब पियेगा उतनी ही उसकी यह आदत पुष्ट होती जायेगी, इसे कर्म का प्रदेश—बंध कहा जा सकता है। वह शराब पीने में जितना अधिक या कम रस लेगा उसे भविष्य में शराब पीने में उतना ही अधिक या कम सुख (रस) का अनुभव होगा, यह रस बंध है तथा अधिक तीव्र रस के साथ पी गई शराब का प्रभाव अधिक समय तक टिकने वाला होगा, इसे स्थिति बंध कह सकते हैं।

शराबी के इस उदाहरण में वर्तमान में शराब के सुख का भोग करने के कारण भविष्य में शराब के सुख (रस) के भोगने की इच्छा का प्रभाव अंकित होना बंध है। शराबी अपने व्यवसाय में लगा हुआ होने से कार्य में अत्यधिक व्यस्त है। उसमें इस समय शराब पीने की इच्छा जागृत नहीं है, फिर भी अंतःकरण में शराब पीने की इच्छा या संस्कार व उसका अस्तित्व अर्थात् सत्त्व विद्यमान है, यह कर्म की सत्ता है। वह शराब की दुकान के पास से निकला और शराब पीने की इच्छा—स्फुरणा जागृत हुई, यह उदीरणा है और शराब पीकर उसका रसानुभव करना उदय है। इसी प्रकार हर प्रवृत्ति का बंध, सत्ता उदीरणा व उदय समझना चाहिये।

कर्म प्रकृतियाँ

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं— 1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयु 6. नाम 7. गोत्र 8. अन्तराय।

(1) ज्ञानावरणीय : जो ज्ञान का, विवेक का आवरण करे, वह ज्ञानावरणीय है। आवरण उसी पर होता है, जो वस्तु मौजूद है। शरीर आदि जो वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं उनका व्यय या विनाश अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार इन्द्रिय सुख, विषय सुख क्षणिक हैं, अस्थायी हैं। हमें विनाशी वस्तु या क्षणिक सुख नहीं चाहिए, अपितु अविनाशी तत्त्व, स्थायी (शाश्वत), अक्षय, स्वाधीन सुख चाहिए, यह माँग सभी की है, जिसकी पूर्ति विनाशी के त्याग से तथा विषय सुख के त्याग से ही सम्भव है। यह ज्ञान सभी को है, यह निज ज्ञान है, आत्म-ज्ञान है। फिर भी हम क्षणिक सुख के नशे के मोह में मूर्च्छित होकर इस ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करते। इस ज्ञान का अनादर, उपेक्षा करते हैं, फलतः इस ज्ञान का प्रभाव (प्रकाश) हमारे पर प्रकट नहीं होता, जिससे प्राणी विनाशी वस्तुओं के भोगों में गृद्ध रहता है। इस प्रकार कषाययुक्त वह प्रवृत्ति जिससे जानने की शक्ति रूप ज्ञान का प्रकाशन न हो, आवृत्त रहे वह ज्ञानावरणीय कर्म है। इस कर्म की मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान पर आवरण रूप पाँच प्रकृतियाँ हैं।

(2) दर्शनावरणीय : स्व-संवेदन को अर्थात् निजचेतना के अनुभव को दर्शन कहते हैं। विषय— भोग के मोह व आसक्ति से जड़ता आती है, जिससे स्वसंवेदन रूप निज चेतना की शक्ति (अनुभव) प्रकट नहीं होती है, आवरित हो जाती है, इसे ही दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। इसकी पाँच निद्रा एवं चार दर्शन पर आवरण रूप नौ प्रकृतियाँ हैं।

(3) वेदनीय : वह कर्म जिससे साता-असाता (सुख-दुःख) का वेदन (अनुभव) हो, वेदनीय कर्म है। जो संवेदना प्रकट होती है उसमें अनुकूल संवेदना का साता के रूप में और प्रतिकूल संवेदना का असाता के रूप में वेदन (अनुभव) करना, ये वेदनीय कर्म के साता-असाता रूप दो भेद हैं।

(4) मोहनीय : जिस मान्यता एवं प्रवृत्ति से इन्द्रियों के विषय-भोगों में गृद्ध व मोहित (मूर्च्छित) हो अपने अविनाशी, निर्विकार, परमानन्द स्वरूप का भान भूले, उससे विमुख हो, वह मोहनीय कर्म है। इसकी अनंतानुबंधी क्रोध, मान आदि 28 प्रकृतियाँ हैं।

(5) आयुष्य : आसुरी, पाशविक, मानवीय आदि प्रकृतियों का दृढतम होकर स्थायी रूप ले लेना फिर उसी प्रकार का शरीर व भव धारण करना आयु कर्म है। इसकी तिर्यच, मनुष्य, देव और नरक ये चार प्रकृतियाँ हैं।

(6) नाम : वह प्रवृत्ति जो शरीर व शरीर से संबंधित गति, जाति आदि के निर्माण में कारण बनती है, वह नामकर्म है। ये गति, जाति, शरीर आदि के भेदों से 93 प्रकृतियाँ हैं।

(7) गोत्र : शरीर, रूप, बल, बुद्धि, वस्तु आदि की प्राप्ति के आधार पर अपना मूल्यांकन करना अर्थात् गौरव व हीनता का अनुभव करना गोत्र कर्म है, यह उच्च गोत्र व नीच गोत्र के भेद से दो प्रकार का है।

(8) अंतराय : जिस प्रवृत्ति से दान (करुणा, उदारता, कृपा), लाभ (अभाव का अभाव, ऐश्वर्य, पूर्णता), भोग (निराकुल सुख का अनुभव), उपभोग (निराकुलता के सुख की प्रति क्षण अक्षय नूतन अनुभूति होना), वीर्य (सामर्थ्य या पराक्रम)रूप उपलब्धियों की अभिव्यक्ति में विघ्न उत्पन्न हो, वह अंतराय कर्म है।

कर्म विपाक के प्रकार

कर्म—प्रकृतियों को विपाक (फलदान) की दृष्टि से चार भागों में बांटा गया है। 1. जीव विपाकी, 2. भव विपाकी 3. क्षेत्र विपाकी और 4. पुद्गल विपाकी।

(1) जीवविपाकी : जिन प्रकृतियों के उदय से जीव के स्वभाव पर, चेतना पर सीधा प्रभाव पड़ता है, वे प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय ये चार घाती कर्म हैं। ये जीव के निज गुणों का सीधा घात करने वाले हैं। अतः इनकी क्रमशः पाँच, नौ, छब्बीस एवं पाँच ये पैतालीस प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं। वेदनीय का प्रभाव जीव पर साता (सुख) और असाता (दुःख) वेदना रूप से तथा गोत्र कर्म का प्रभाव जीव पर ऊँच—नीच भाव के रूप में होता है। अतः इन दोनों कर्मों की चार प्रकृतियाँ भी जीव विपाकी कही गई हैं तथा नाम कर्म की गति की चार, जाति की पाँच, शुभ और अशुभ विहायोगति तथा त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशकीर्ति ये सात एवं इन प्रकृतियों से इतर स्थावर आदि सात तथा श्वासोच्छ्वास एवं तीर्थकर नाम ये 76 प्रकृतियाँ जीव को प्रभावित करती हैं, अतः ये प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं।

(2) पुद्गल विपाकी : शरीर पुद्गल से निर्मित है, अतः शरीर और शरीर से संबंधित प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी कही गई हैं। यथा— पाँच

शरीर, शरीरों की अस्थियों की रचना रूप छह संहनन, शरीरों की आकृति रूप छह संस्थान, शरीरों के तीन अंगोपांग, शरीर के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श एवं शरीर से संबंधित अगुरु—लघु, निर्माण, आतप, उद्योत, उपघात, पराघात, साधारण, प्रत्येक, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर ये 36 प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं।

(3) भव विपाकी : आयु कर्म की नरकादि चारों प्रकृतियों का विपाक भव आश्रित है। अतः ये चार प्रकृतियाँ भव विपाकी हैं।

(4) क्षेत्र विपाकी : नरकादि चारों आनुपूर्वी की ये चार प्रकृतियाँ नरकादि गति की ओर ही गति कराती हैं, गति में आबद्ध रखती हैं, अतः ये नरकादि प्रकृतियाँ स्थिति या स्थान, क्षेत्र से संबंधित होने से क्षेत्र विपाकी कही गई हैं।

प्रकृतियों के विपाक का उपर्युक्त विभाजन बड़ा ही मौलिक, व्यावहारिक एवं युक्तियुक्त है। इन प्रकृतियों में प्राकृतिक घटनाओं व परिस्थितियों से उत्पन्न गर्मी, सर्दी आदि ऋतुओं का होना, अकाल—सुकाल का होना, महामारी का होना एवं आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक स्थितियों व व्यवस्थाओं को, कहीं भी, कुछ भी कर्मोदय के परिणाम के रूप में नहीं बताया गया है।

करण—सिद्धान्त : एक विवेचन

जैन—दर्शन की दृष्टि में कर्म भाग्य विधाता है। जैन कर्म—ग्रन्थों में कर्म—बंध और कर्म—सिद्धान्त विषयक गोम्मटसर कर्मकाण्ड, पंचसंग्रह, कम्मपयडि आदि ग्रन्थों में 'करण' शब्द का प्रयोग कर्म की विद्यमान अवस्था के लिए हुआ है। कर्म फल भोग की प्रक्रिया का अति विशद वर्णन है। उनमें जहाँ एक ओर यह विधान है कि बंधा हुआ कर्म फल दिये बिना कदापि नहीं छूटता है, वहीं दूसरी ओर उन नियमों का भी विधान है, जिनसे बंधे हुए कर्म में अनेक प्रकार से परिवर्तन भी किया जा सकता है। कर्म बंध से लेकर फल—भोग तक की इन्हीं अवस्थाओं व उनके परिवर्तन की प्रक्रिया को शास्त्र में करण कहा गया है। कर्म—बंध व उदय से मिलने वाले फल को ही भाग्य कहा जाता है। अतः 'करण' को भाग्य परिवर्तन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। 'महापुराण' में कहा है—

**विधि: स्रष्टा विधाता, दैव कर्म पुनाकृतम्।
ईश्वरश्चेति, पर्यायः कर्मवेधनः ॥४३७॥**

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म, ईश्वर ये कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात् कर्म ही वास्तव में ब्रह्मा या विधाता है।

करण आठ हैं— 1. बंधन करण 2. निधत्त करण 3. निकाचित करण 4. उद्वर्तना करण 5. अपवर्तना करण 6. संक्रमण करण 7. उदीरणा करण और 8. उपशमना करण। कर्म—सिद्धान्त विषयक गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पंचसंग्रह, कम्मपयडि आदि ग्रन्थों में 'करण' शब्द का प्रयोग कर्म की विद्यमान अवस्था के लिए हुआ है। इन आठ करणों में कर्मों की आठ अवस्थाओं का वर्णन है। जिनका विवेचन वनस्पति विज्ञान एवं चिकित्सा—शास्त्र के नियमों व दृष्टान्तों द्वारा मनोविज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) बन्धन करण— कर्म परमाणुओं के आत्म—सम्बद्ध होने को बंध कहा जाता है। यहाँ कर्म का बंधना या संस्कार रूप बीज का पड़ना बंधन करण है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में ग्रन्थि—निर्माण भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार शरीर में भोजन के द्वारा ग्रहण किया गया अच्छा पदार्थ शरीर के लिए हितकर और बुरा पदार्थ अहितकर होता है इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए शुभ—कर्म—परमाणु आत्मा के लिए सुफल—सौभाग्यदायी एवं ग्रहण किए गए अशुभ कर्म—परमाणु आत्मा के लिए कुफल—दुर्भाग्यदायी होते हैं। अतः जो दुर्भाग्य को दूर रखना चाहते हैं, उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पाप प्रवृत्तियों—अशुभ कर्मों से बचना चाहिये, क्योंकि इनके फलस्वरूप दुःख मिलता ही है और जो सौभाग्य चाहते हैं, उन्हें सेवा, परोपकार, वात्सल्य भाव आदि पुण्य प्रवृत्तियों, शुभ कर्मों को अपनाना चाहिये। कारण कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल लगता है। किसी की हिंसा या बुरा करने वाले को फल में हिंसा ही मिलने वाली है, बुरा ही होने वाला है। भला या सेवा करने वाले का उसके फलस्वरूप भला ही होता है।

किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्रति अनुकूलता में राग रूप प्रवृत्ति करने से और प्रतिकूलता में द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से

उसके साथ संबंध स्थापित हो जाता है। यह संबंध ही बंध है, बन्धन है। इस प्रकार राग-द्वेष करने का प्रभाव चेतना के गुणों पर एवं उन गुणों की अभिव्यक्ति के माध्यम शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि पर भी पड़ता है। अतः राग-द्वेष रूप जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बंधते हैं तथा जितनी-जितनी राग-द्वेष की अधिकता-न्यूनता होती है, उतनी- उतनी बंधन के टिकने की सबलता-निर्बलता तथा उसके फल की अधिकता-न्यूनता होती है। इसलिए जो व्यक्ति जितना राग-द्वेष कम करता है, समदृष्टि रहता है, वह पाप कर्म का बंध नहीं करता है। अतः बंध से बचना है, तो राग-द्वेष से बचना चाहिये।

नियम— 1. कर्म बंध का कारण राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति है। 2. जो जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, वह वैसा ही सुख-दुःख रूप फल भोगता है। 3. बन्धे हुए कर्म का फल अवश्यमेव स्वयं को ही भोगना पड़ता है। कोई भी अन्य व्यक्ति व शक्ति उससे छुटकारा दिलाने में समर्थ नहीं है।

उदये अंकममुदये चउन्मुवि दादुं कमेण णो अक्कं।

उवअंतं च णिधत्तिं विकाचिदं होदि जं कम्मं॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 440

अर्थ— जो कर्म उदय अवस्था को प्राप्त नहीं हो उसे उपशान्त करण कहते हैं। जो कर्म उदय व संक्रमण अवस्था को प्राप्त नहीं हो उसे निधत्त करण कहते हैं तथा जिस कर्म में उदय, संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन ये चारों नहीं हो, कर्म की इस अवस्था को निकाचित करण कहते हैं। यह नियम है कि जिस कर्म प्रकृति का उदय नहीं होता है उसकी उदीरणा भी नहीं होती है, क्योंकि उदीरणा उदय को प्राप्त होती है।

(2) निधत्त करण

कर्म की वह अवस्था जिसमें स्थिति तथा रस में संक्रमण और उदय नहीं हो, परन्तु स्थिति और रस में घट-बढ़ (अपवर्तन-उद्वर्तन) हो सके उसे निधत्तिकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ मलेरिया, तपेदिक, हैजा आदि के विषाणु शरीर में प्रविष्ट हो जायें और वहाँ उनमें बाहरी प्रभाव से हानि-वृद्धि होती रहे, परन्तु वे बाह्य में रोग के रूप में प्रकट नहीं हों तथा दवा के प्रभाव से भी उनका रूपान्तरण नहीं हो, इसी प्रकार सत्ता में स्थित

जिन कर्मों का कषाय के घटने-बढ़ने से उनके स्थिति एवं अनुभाग में घट-बढ़, अपकर्षण-उत्कर्षण (अपवर्तन-उद्वर्तन) हो, परन्तु उनका अन्य सजातीय कर्म-प्रकृतियों में रूपान्तरण (संक्रमण) न हो तथा उदय भी न हो, कर्म की ऐसी अवस्था को निधत्तिकरण कहते हैं।

नियम— निधत्तिकरण में संक्रमण एवं उदय (उदीरणा) नहीं होते हैं।

(3) निकाचित करण— कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय (उदीरणा), संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कुछ भी नहीं हो, कर्म जैसा बंधा है उसी अवस्था में रहे, उसे निकाचित करण कहते हैं। (गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 440) यथा किसी रोग के विषाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर गये हों फिर वे ज्यों के त्यों विद्यमान रहें, उनमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो, उसी तरह जिस बंधे हुए सत्ता में स्थित कर्म में उत्कर्षण आदि से कुछ भी परिवर्तन नहीं हो, कर्म की इस अवस्था को निकाचित करण कहते हैं। जैसे आगामी भव का बंधा हुआ आयु कर्म जो सत्ता में स्थित है उसमें अगले भव में उदय के पूर्व उत्कर्षण आदि किसी करण का नहीं होना निकाचित करण है।

नियम— निकाचित करण में उदय-उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण नहीं होते हैं।

निधत्तिकरण और निकाचित करण ये दोनों ही करण अपना कुछ भी प्रभाव नहीं दिखाते हैं अर्थात् जीव को सुख-दुःख, हानि-लाभ नहीं पहुंचाते हैं, अतः निष्प्रयोजन हैं। यही कारण है कि कम्मपयडि, पंचसंग्रह आदि कर्म-सिद्धान्त के ग्रंथों में जहाँ संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उपशम आदि करणों का विशद वर्णन है और टीकाकारों ने भी इनका विस्तार से विवेचन किया है, परन्तु निधत्ति और निकाचित इन दोनों करणों का विशेष विवेचन न करके केवल इतना ही कहा है कि निधत्तिकरण में उदय व संक्रमण नहीं होता और निकाचित करण में उदीरणा, उदय, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन आदि करण नहीं होते हैं।

(4) उद्वर्तना करण— जिस क्रिया या प्रवृत्ति से पूर्व में बन्धे हुए कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि होती है, उसे उद्वर्तना करण कहते हैं। ऐसा पूर्वबद्ध कर्म-प्रकृति के अनुरूप पहले से अधिक प्रवृत्ति करने तथा

उसमें अधिक रस लेने से होता है। जैसे पहले किसी ने डरते-डरते किसी की छोटी-सी वस्तु चुराकर लोभ की पूर्ति की। फिर वह डाकुओं के गिरोह में मिल गया, तो उसकी लोभ की प्रवृत्ति का पोषण हो गया, वह बहुत बढ़ गई तथा अधिक काल तक टिकाऊ भी हो गई, वह निधड़क डाका डालने व हत्याएँ करने लगा। इस प्रकार उसकी पूर्व की लोभ की वृत्ति का पोषण होना, उसकी स्थिति व रस का बढ़ना, उद्वर्तना कहा जाता है। जिस प्रकार खेत में उगे हुए पौधे को अनुकूल खाद व जल मिलने से वह पुष्ट होता है, उसकी आयु व फलदान शक्ति बढ़ जाती है। इसी प्रकार और भी अधिक तीव्र राग-द्वेष रूप कषाय का निमित्त मिलने से पूर्व में बंधे हुए कर्मों की स्थिति और फल देने की शक्ति बढ़ जाती है। अथवा जिस प्रकार किसी ने पहले साधारण-सी शराब पी, इसके पश्चात् उसने उससे अधिक तेज नशे वाली शराब पी, तो उसके नशे की शक्ति पहले से अधिक बढ़ जाती है या किसी मधुमेह के रोगी ने शक्कर या कुछ मीठा पदार्थ खा लिया, फिर वह अधिक शक्कर वाली मिठाई खा लेता है तो उस रोग की पहले से अधिक वृद्धि होने की स्थिति हो जाती है। इसी प्रकार विषय-सुख में राग की वृद्धि होने से तथा दुःख में द्वेष बढ़ने से तत्संबंधी कर्म की स्थिति व रस अधिक बढ़ जाता है। अतः हित इसी में है कि कषाय की वृद्धि कर पाप कर्मों की स्थिति व रस को न बढ़ाया जाय।

नियम- 1. सत्ता में स्थित स्थिति व रस से वर्तमान में बध्यमान कर्म की स्थिति व रस का अधिक बन्ध होता है, तब ही उद्वर्तन करण संभव है।

2. संक्लेश (कषाय या अशुभ भावों की वृद्धि) से आयु कर्म की शुभ प्रकृतियों को छोड़कर शेष कर्मों की सब प्रकृतियों की स्थिति में एवं सब पाप प्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है। विशुद्धि (शुभ भावों) से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है।

(5) अपवर्तना करण- पूर्व में बंधे हुए कर्मों की स्थिति और रस में कमी आ जाना अपवर्तना करण है। पहले किसी अशुभ कर्म का बंध करने के पश्चात् जीव यदि फिर अच्छे कर्म (काम) करता है तो उसके पहले बांधे हुए अशुभ कर्मों की स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है। जिस

प्रकार खेत में स्थित पौधे को प्रतिकूल खाद, ताप व जलवायु मिले, तो उसकी आयु व फलदान की शक्ति घट जाती है। इसी प्रकार सत्ता में स्थित कर्मों के बंध के कोई प्रतिकूल काम करे, तो उसकी स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है। अथवा जिस प्रकार पित्त का रोग नींबू व आलूबुखारा खाने से, तीव्र क्रोध का वेग जल पीने से, ज्वर का अधिक तापमान बर्फ रखने से घट जाता है। इसी प्रकार पूर्व में किए गए दुष्कर्मों के प्रति संवर तथा प्रायश्चित्त आदि करने से उनकी फलदान शक्ति व स्थिति घट जाती है।

अतः विषय—कषाय की अनुकूलता में राग तथा प्रतिकूलता में खेद (शोक) व द्वेष न करने में अर्थात् विरति (संयम) को अपनाने में ही आत्म—हित है।

नियम— संक्लेश (कषाय) की कमी एवं विशुद्धि (शुभ भावों) की वृद्धि से पहले बंधे हुए कर्मों में आयु कर्म को छोड़कर शेष सब कर्मों की स्थिति में एवं पाप प्रकृतियों के रस में अपवर्तन (कमी) होता है। संक्लेश की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों के रस में अपवर्तन होता है।

(6) संक्रमण — किसी प्रकार के विशेष परिवर्तन या संक्रान्ति को संक्रमण कहते हैं। जैसे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र (स्थान) में चले जाना, क्षेत्र संक्रमण है। एक ऋतु के चले जाने से दूसरी ऋतु का आ जाना, काल संक्रमण है। किसी व्यक्ति से प्रेम हटकर अन्य व्यक्ति से प्रेम हो जाना भाव संक्रमण है। इसी प्रकार कर्म जगत् में भी संक्रमण होता है। इसका सामान्य नियम यह है कि पूर्व में बंधी हुई कर्म प्रकृतियों का संक्रमण या रूपान्तरण वर्तमान में बंधने वाली सजातीय कर्म प्रकृतियों में होता है।

जीव के वर्तमान परिणामों के कारण से जो प्रकृति पूर्व में बंधी थी, उसका न्यूनाधिक व अन्य प्रकृति रूप में परिवर्तन व परिणमन हो जाना, कर्म का संक्रमण है। संक्रमण के चार भेद हैं— 1. प्रकृति संक्रमण 2. स्थिति संक्रमण 3. अनुभाग संक्रमण और 4. प्रदेश संक्रमण।

(1) प्रकृति संक्रमण : कर्म की किसी प्रकृति का अन्य प्रकृति में परिवर्तन होना, प्रकृति संक्रमण है। कर्म की ज्ञानावरणीय आदि आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। इनमें परस्पर संक्रमण नहीं होता है। इन आठों कर्मों में से

प्रत्येक की विभिन्न संख्या में उत्तर प्रकृतियाँ हैं। प्रत्येक कर्म की इन उत्तर प्रकृतियों में ही अर्थात् सजातीय कर्म प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है। अन्य जातीय कर्म प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता। यह ध्रुव नियम है। इसमें कहीं अपवाद नहीं है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म की किसी प्रकृति का दर्शनावरणीय आदि अन्य सात कर्मों की किसी प्रकृति में संक्रमण नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म की मतिज्ञानावरणीय आदि पाँचों उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है।

सजातीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण होने का जो नियम है उसके भी कुछ अपवाद हैं। जैसे दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता तथा आयु कर्म की चारों प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता, इत्यादि।

(2) स्थिति संक्रमण : कर्मों की स्थिति में संक्रमण अर्थात् परिवर्तन होना, स्थिति संक्रमण है। वह 1. अपवर्तना 2. उद्वर्तना व 3. पर प्रकृति रूप परिणमन से होता है। कर्म की स्थिति का घटना, अपवर्तना या अपकर्षण है। स्थिति का बढ़ना, उद्वर्तना या उत्कर्षण है। प्रकृति की स्थिति का समान जातीय अन्य प्रकृति की स्थिति में परिवर्तन करना, प्रकृत्यन्तर परिणमन संक्रमण है।

(3) अनुभाग संक्रमण : अनुभाग में परिवर्तन होना, अनुभाग संक्रमण है। स्थिति संक्रमण के समान अनुभाग संक्रमण भी, 1. अपकर्षण 2. उत्कर्षण 3. पर प्रकृति रूप तीन प्रकार का है।

(4) प्रदेश संक्रमण : प्रदेशाग्र का अन्य प्रकृति को ले जाया जाना, प्रदेश संक्रमण है। प्रदेश संक्रमण पाँच प्रकार का है— 1. उद्वेलन संक्रमण 2. विध्यात संक्रमण 3. अधः प्रवृत्त संक्रमण 4. गुण संक्रमण 5. सर्व संक्रमण।

(अ) उद्वेलन संक्रमण : अधः प्रवृत्तादि तीन करणों के बिना ही कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना, उद्वेलन संक्रमण कहलाता है, जैसेकि रस्सी निमित्त को पाकर उकल (उधड़) जाती है।

(आ) विध्यात संक्रमण : जिन कर्मों का गुण प्रत्यय या भव प्रत्यय से अर्थात् गुणस्थान विशेष व नरक, देव आदि भव विशेष के कारण से जहाँ

पर बंध नहीं होता, वहाँ पर उन कर्मों की सत्ता में रही हुई प्रकृतियों का जो प्रदेश संक्रमण होता है, उसे विध्यात संक्रमण कहते हैं। यह अधः प्रवृत्त संक्रमण के रुकने पर ही होता है।

(इ) अधः प्रवृत्त संक्रमण : ध्रुव बंधिनी प्रकृतियों का बंध होने पर तथा स्व स्वभाव बंध योग्य परावर्तन प्रकृतियों के बंध और अबंध की दशा में जो स्वभावतः प्रकृतियों के प्रदेशों का संक्रमण होता रहता है, वह अधः प्रवृत्त संक्रमण है।

(ई) गुण संक्रमण : अपूर्व करणादि परिणामों का निमित्त पाकर प्रति समय जो प्रदेशों का असंख्यात गुण श्रेणी रूप संक्रमण होता है, उसे गुण संक्रमण कहते हैं।

(उ) सर्व संक्रमण : विवक्षित कर्म प्रकृति के सभी प्रदेशों का एक साथ पर प्रकृति रूप संक्रमण होना सर्व संक्रमण होता है। यह उद्वेलन, विसंयोजन और क्षपणकाल में चरम स्थिति खंड के चरम समयवर्ती प्रदेशों का ही होता है, अन्य का नहीं।

इसका सामान्य नियम यह है कि जिस प्रकृति का जहाँ तक बंध होता है उस प्रकृति का अन्य सजातीय प्रकृति संक्रमण वहीं तक होता है। जैसे असातावेदनीय का बंध छठे गुणस्थान तक व साता वेदनीय का बंध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। अतः साता वेदनीय का असातावेदनीय में संक्रमण छठे तथा असातावेदनीय का साता वेदनीय में संक्रमण तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

ऊपर वर्णित संक्रमण के चारों भेदों का संबंध संक्लेश्यमान एवं विशुद्ध्यमान अर्थात् पाप व पुण्य प्रवृत्तियों से है। जैसे—जैसे वर्तमान में परिणामों में विशुद्धि आती जाती है, वैसे—वैसे पूर्व में बंधी हुई पाप प्रवृत्तियों का अनुभाग व स्थिति स्वतः घटती जाती है एवं पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग (रस) स्वतः बढ़ता जाता है। इसके विपरीत जैसे—जैसे परिणामों में मलिनता बढ़ती जाती है, वैसे—वैसे स्थिति बढ़ती जाती है एवं पाप प्रकृतियों का अनुभाग पहले से अधिक बढ़ता जाता है और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग घटता जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण पूर्व में बंधे हुए समस्त कर्मों के स्थिति व अनुभाग बंध में घट-बढ़ निरन्तर चलती रहती है। एक क्षण

भी ऐसा नहीं बीतता है, जिसमें पूर्व में बंधे कर्मों की यह घट-बढ़ रुकती हो। संक्रमण-करण प्रक्रिया के इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि पूर्व उपार्जित कर्मों में सदैव परिवर्तन चलता रहता है। सामान्यतः कोई भी बंधा हुआ कर्म एक क्षण भी ज्यों का त्यों नहीं रहता है। संक्रमण की यह प्रक्रिया प्राकृतिक विधान से प्राणिमात्र में निरन्तर चलती रहती है। परन्तु यह किसी ईश्वर, देवी, देवता, व्यक्ति आदि की कृपा-अकृपा के आश्रय से नहीं चलती है, अपितु अपने ही परिणामों के कारण, कारण-कार्य के नियम के अनुसार चलती है। इसमें मनमानी को कहीं भी कोई स्थान नहीं है। संक्रमण प्रक्रिया का 'जयधवला टीका', 'कर्म-प्रकृति' आदि ग्रन्थों में हजारों पृष्ठों में सूत्रात्मक रूप में विवेचन है। यह सब का सब मानसिक ग्रंथियों से मुक्ति पाने के उपाय के रूप में होने से बड़ी मनोवैज्ञानिक एवं मानव जाति के लिए अत्यन्त उपयोगी व महत्त्वपूर्ण है।

पहले कह आए हैं कि पूर्वबद्ध कर्म-प्रकृति का अपनी जातीय अन्य प्रकृति में रूपान्तरित हो जाना संक्रमण करण कहा जाता है। वर्तमान में वनस्पति विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। निम्न जाति के बीजों को उच्च जाति के बीजों में बदल देते हैं। इसी प्रक्रिया से गुलाब की सैकड़ों जातियाँ पैदा की गई हैं। वर्तमान वनस्पति विज्ञान में इस संक्रमण प्रक्रिया को संकर-प्रक्रिया कहा जाता है, जिसका अर्थ संक्रमण करना ही है। इसी संक्रमण करण की प्रक्रिया से संकर मक्का, संकर बाजरा, संकर गेहूँ के बीज पैदा किए गए हैं। इसी प्रकार पूर्व में बंधी हुई कर्म-प्रकृतियाँ वर्तमान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों में परिवर्तित हो जाती हैं, संक्रमित हो जाती हैं। अथवा जिस प्रकार चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकार ग्रस्त अंग हृदय, नेत्र आदि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि स्थापित कर अंधे व्यक्ति को सूझता कर देते हैं, रुग्ण हृदय को स्वस्थ बना देते हैं तथा अपच या मंदाग्नि का रोग, सिरदर्द, ज्वर, निर्बलता, कब्ज या अतिसार में बदल जाता है। इससे दुहरा लाभ होता है— 1. रोग के कष्ट से बचना एवं 2. स्वस्थ अंग की शक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार पूर्व की बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में बदला जाता है और उनके दुःखद फल से बचा जा सकता है।

कर्म-सिद्धान्त में निरूपित संक्रमण— प्रक्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मार्गान्तरीकरण (नइसपउंजपवद वऱुमदजंस मदमतहल) कहा जा सकता है। यह मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण दो प्रकार का है— 1. अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में और 2. शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति में। शुभ (उदात्त) प्रकृति का अशुभ (कुत्सित) प्रकृति में रूपान्तरण अनिष्टकारी है और अशुभ (कुत्सित) प्रकृति का शुभ (उदात्त) प्रकृति में रूपान्तरण हितकारी है। वर्तमान मनोविज्ञान में कुत्सित प्रकृति के उदात्त प्रकृति में रूपान्तरण को उदात्तीकरण कहा जाता है। वह उदात्तीकरण संक्रमण करण का ही एक अंग है, एक अवस्था है।

आधुनिक मनोविज्ञान में उदात्तीकरण पर विशेष अनुसंधान हुआ है तथा प्रचुर प्रकाश डाला गया है। राग या कुत्सित काम भावना का संक्रमण या उदात्तीकरण, मन की प्रवृत्ति को मोड़कर श्रेष्ठ कला, सुन्दर चित्र, महाकाव्य या भाव-भक्ति में लगाकर किया जा सकता है। वर्तमान में उदात्तीकरण प्रक्रिया का उपयोग व प्रयोग कर उद्दण्ड, अनुशासनहीन, तोड़-फोड़ करने वाले अपराधी मनोवृत्ति के छात्रों एवं व्यक्तियों को उनकी रुचि के किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है। फलस्वरूप वे अपनी हानिकारक व अपराधी प्रवृत्ति का त्याग कर समाजोपयोगी कार्य में लग जाते हैं, अनुशासन प्रिय नागरिक बन जाते हैं।

कुत्सित प्रकृतियों को सद प्रकृतियों में संक्रमित या रूपान्तरित करने के लिए आवश्यक है कि पहले व्यक्ति को इन्द्रिय-भोगों की वास्तविकता का उसके वर्तमान जीवन की दैनिक घटनाओं के आधार पर बोध हो। भोग का सुख क्षणिक है, नश्वर है व पराधीनता में आबद्ध करने वाला है, परिणाम में नीरसता या अभाव ही शेष रहता है। भोग जड़ता व विकार पैदा करने वाला है। नवीन कामनाओं को पैदा कर चित्त को अशांत बनाने वाला है। संघर्ष, द्वन्द्व, अन्तर्द्वन्द्व पैदा करने वाला है। भोग सुख में दुःख अन्तर्गर्भित रहता ही है। भोगों के सुख के त्याग से तत्काल शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस प्रकार भोगों के क्षणिक-अस्थायी सुख के स्थान पर हृदय में स्थायी सुख प्राप्ति का भाव जागृत किया जाय। भावी दुःख से छुटकारा पाने के लिये वर्तमान के क्षणिक सुख के भोग का त्याग करने की प्रेरणा दी जाय तो इससे आत्म-संयम की

योग्यता आती है, उदारता जागृत होती है, फिर दूसरों को सुख देने के लिए भी अपने सुख व सुख सामग्री को दूसरों की सेवा में लगाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरों की निःस्वार्थ सेवा से जो प्रेम का रस आता है, उसका आनन्द सुख भोगजनित सुख से निराला होता है। उस सुख में वे दोष या कमियाँ नहीं होतीं, जो भोग जनित सुख में होती हैं। प्रेम के सुख का यह बीज उदारता में पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है और अन्त में सर्वहितकारी प्रवृत्ति का रूप ले लेता है।

जिस प्रकार कर्म—सिद्धान्त में संक्रमण केवल सजातीय प्रकृतियों में संभव है, इसी प्रकार मनोविज्ञान में भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रकृतियों में ही संभव माना है। दोनों ही विजातीय प्रकृतियों के साथ संक्रमण या रूपान्तरण नहीं मानते हैं। संक्रमण करण और रूपान्तर करण दोनों ही में यह सैद्धान्तिक समानता आश्चर्यजनक है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार पाप प्रवृत्तियों से होने वाले दुःख, वेदना, अशान्ति आदि से छुटकारा, परोपकार रूप पुण्य प्रवृत्तियों से किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण वर्तमान मनोविज्ञानवेत्ता भी कर रहे हैं। उनका कथन है कि उदात्तीकरण शारीरिक एवं मानसिक रोगों के उपचार में बड़ा कारगर उपाय है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों में असाध्य प्रतीत होने वाले महारोग उदात्तीकरण से ठीक होते देखे जा सकते हैं।

जिस प्रकार अशुभ प्रवृत्तियों का शुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण होना जीवन के लिए उपयोगी व सुखद होता है, इसी प्रकार शुभ प्रवृत्तियों का अशुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण व संक्रमण होना जीवन के लिए अनिष्टकारी व दुःखद होता है। सज्जन भद्र व्यक्ति जब कुसंगति, कुत्सित वातावरण में पड़ जाते हैं और उससे प्रभावित हो जाते हैं, तो उनकी शुभ प्रवृत्तियाँ अशुभ प्रवृत्तियों में परिवर्तित हो जाती हैं जिससे उनका मानसिक एवं नैतिक पतन हो जाता है। परिणामस्वरूप उनको कष्ट, रोग, अशान्ति, रिक्तता, हीन भावना, निराशा, अनिद्रा आदि अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं।

कर्मशास्त्र के अनुसार संक्रमण पहले बंधी हुई प्रकृतियों का वर्तमान में बध्यमान (बंधने वाली) प्रकृतियों में होता है। अर्थात् पहले प्रवृत्ति करने

से जो प्रकृति (आदत) पड़ गई—बंध गई है, वह प्रकृति (आदत) वर्तमान में जो प्रवृत्ति की जा रही है उससे अभी जो प्रकृति बन रही है, उसका अनुसरण—अनुगमन करती है तथा इन नवीन बनने वाली आदतों के अनुरूप पुरानी आदतों में परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ— पहले किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति—प्रकृति ईमानदारी की है तो उसकी प्रकृति (आदत) बेईमानी की प्रकृति (आदत) में बदल जाती है। इसके विपरीत किसी व्यक्ति में पहले बेईमानी की आदत पड़ी हुई है और वर्तमान में ईमानदारी की आदत का निर्माण हो रहा है तो पहले की बेईमानी की आदत ईमानदारी में बदल जाती है, यह सर्वविदित है। शरीर और इन्द्रिय भीतर से अशुचि के भण्डार हैं एवं नाशवान हैं। इस सत्य का ज्ञान किसी को है, परन्तु अब वह शरीर व इन्द्रिय सुख के भोग में प्रवृत्त हो, मोहित हो जाता है तो उसे शरीर व इन्द्रिय—सुख सुन्दर व स्थायी प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार उसका पूर्व का सच्चा ज्ञान आच्छादित हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अज्ञानरूप हो जाता है अर्थात् ज्ञान अज्ञान में रूपान्तरित, संक्रमित हो जाता है। आगे भी उसका मोह जैसे—जैसे घटता—बढ़ता जायेगा उसकी इस अज्ञान की प्रकृति में भी घट—बढ़ होती जायेगी, अपवर्तन— उद्वर्तन होता जायेगा और मिथ्यात्व रूप मोह का नाश हो जायेगा, जिससे अज्ञान का नाश हो जायेगा और ज्ञान प्रकट हो जायेगा। वही अज्ञान, ज्ञान में बदल जायेगा। इसी प्रकार क्षोभ (क्रोध) और क्षमा, मान और विनय, माया और सरलता, लोभ और निर्लोभता, हिंसा और दया, हर्ष और शोक, शोषण और पोषण, करुणा और क्रूरता, प्रेम और मोह, जड़ता और चिन्मयता, परस्पर में वर्तमान प्रकृतियों के अनुरूप संक्रमित—रूपान्तरित हो जाते हैं। किसी प्रकृति की स्थिति व अनुभाग का घटना (अपवर्तन) बढ़ना (उद्वर्तन) भी स्थिति, संक्रमण व अनुभाग संक्रमण के ही रूप है।

संक्रमण करण का उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्टतः इस सत्य को उद्घाटित करता है कि किसी ने पहले कितने ही अच्छे कर्म बांधे हों, यदि वह वर्तमान में दुष्प्रवृत्तियाँ कर बुरे (पाप) कर्म बांध रहा है, तो पहले के अच्छे (पुण्य) कर्म बुरे (पाप) कर्म में बदल जायेंगे, फिर उनका कोई अच्छा सुखद फल नहीं मिलने वाला है। इसके विपरीत किसी ने पहले दुष्कर्म (पाप) किए हैं,

बांधे हैं, परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है, तो वह अपने बुरे कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दों में कहें तो हम अपने वर्तमान जीवन काल का सदुपयोग—दुरुपयोग कर अपने भाग्य को सौभाग्य या दुर्भाग्य में बदल सकते हैं। इसकी हमें पूर्ण स्वाधीनता है तथा हम में सामर्थ्य भी है। इसे उदाहरण से समझें—

‘क’ एक व्यापारी है। ‘ख’ उसका प्रमुख ग्राहक है। ‘क’ को उससे विशेष लाभ होता है। ‘क’ के लोभ की पूर्ति होती है तथा ‘ख’ ‘क’ के व्यवहार की बहुत प्रशंसा करता है जिससे ‘क’ के मान की पुष्टि होती है। अतः ‘क’ का ‘ख’ के साथ लोभ और मान रूप घनिष्ठ संबंध या बंध है परन्तु ‘क’ ने ‘ख’ को लोभ वश असली माल के बजाय नकली माल दे दिया। इस धोखे का जब ‘ख’ को पता चला तो वह रुष्ट हो गया और उस पर ‘क’ की जो रकम उधार थी उसने उसे देने से मना कर दिया। गाली—गलोच कर ‘क’ का अपमान कर दिया। इससे ‘क’ को क्रोध आया। अब ‘क’ का ‘ख’ के प्रति लोभ व मान रूप जो राग का संबंध था वह क्रोध व द्वेष में रूपान्तरित—संक्रमित हो गया।

नियम— 1. प्रकृति संक्रमण बध्यमान प्रकृति में ही होता है। 2. संक्रमण सजातीय प्रकृतियों में ही होता है।

(7) उदीरणा करण— सत्ता में स्थित कर्म का किसी निमित्त अथवा प्रयत्न विशेष से फल देने अर्थात् उदय के सम्मुख करने के लिए स्फुरणा होना उदीरणा करण है।

जिस प्रकार शरीर में स्थित कोई विकार कालान्तर में रोग के रूप में फल देने वाला है। टीका लगवाकर या दवा आदि के प्रयत्न द्वारा पहले ही उस विकार को उभार कर फल भोग लेने से उस विकार से मुक्ति मिल जाती है। उदाहरणार्थ—चेचक का टीका लगाने से चेचक का विकार समय से पहले ही अपना फल दे देता है। भविष्य में उससे छुटकारा मिल जाता है। वमन—रेचन (उल्टी या दस्त) द्वारा किए गए उपचार में शरीर का विकार निकाल कर रोग से समय से पूर्व ही मुक्ति पाई जा सकती है। इसी प्रकार अन्तःस्तल में स्थित कर्म की ग्रंथियों (बंधनों) को भी ध्यान आदि तप के प्रयत्नपूर्वक समय के पूर्व उदय में लाकर फल भोगा जा सकता है। वैसे

तो कर्मों की उदीरणा प्राणी के द्वारा किए गए प्रयत्नों से अपनाए गए निमित्त से सहज रूप में होती रहती है, परन्तु अन्तरतम में अज्ञात—अगाध गहराई में छिपे व स्थित कर्मों की उदीरणा के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है, जिसे तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करना कहा जाता है।

वर्तमान मनोविज्ञान भी उदीरणा के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान में इस प्रक्रिया से अवचेतन मन में स्थित मनोग्रन्थियों का रेचन या वमन कराया जाता है। इसे मनोविश्लेषण पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति से अज्ञात मन में छिपी हुई ग्रन्थियाँ, कुण्ठाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ ज्ञात मन में प्रकट होती हैं, उदित होती हैं और उनका फल समता से भोग लिया जाता है तो वे नष्ट हो जाती हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मानव की अधिकतर शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों का कारण ये मन में छिपी हुई अज्ञात ग्रन्थियाँ ही हैं, जिनका संचय हमारे जीवन में हुआ है। जब ये ग्रन्थियाँ बाहर प्रकट होकर नष्ट हो जाती हैं तो इनसे संबंधित शारीरिक—मानसिक बीमारियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। मानसिक चिकित्सा में इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अपने द्वारा पूर्व में हुए पापों या दोषों को स्मृति पटल पर लाकर गुरु के समक्ष प्रकट करना, उनकी आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना, उदीरणा या मनोविश्लेषण पद्धति का ही रूप है। इससे साधारण दोष दुष्कृत मिथ्या हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, फल देने की शक्ति खो देते हैं। यदि दोष प्रगाढ़ हों, भारी हों तो उनके नाश के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है। प्रतिक्रमण कर्मों की उदीरणा में बड़ा सहायक है। हम प्रतिक्रमण के उपयोग से अपने दुष्कर्मों की उदीरणा करते रहें तो कर्मों का संचय घटता जायेगा जिससे आरोग्य में वृद्धि होगी। जो शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य तथा समता, शान्ति एवं प्रसन्नता के रूप में प्रकट होगा।

नियम— 1. बिना अपवर्तन के उदीरणा नहीं होती है। 2. उदीरणा से कर्म उदय में आकर फल देते हैं। 3. उदीरणा से उदय में आकर जितने कर्म कटते हैं (निर्जरित होते हैं), उदय में कषाय भाव की अधिकता होने से उनसे अनेक गुणे कर्म अधिक भी बंध सकते हैं।

(8) उपशमना करण— कर्म का उदय में आने के अयोग्य हो जाना उपशमना करण है। जिस प्रकार भूमि में स्थित पौधे वर्षा के जल से भूमि पर पपड़ी आ जाने से दब जाते हैं, प्रकट नहीं होते हैं। इसी प्रकार कर्मों को ज्ञानबल या संयम से दबा देने से उनका फल देना रुक जाता है। इसे उपशमना करण कहते हैं। इससे तत्काल शान्ति मिलती है। जो आत्मशक्ति को प्रकट करने में सहायक होती है अथवा जिस प्रकार शरीर में घाव हो जाने से या ऑपरेशन करने से पीड़ा या कष्ट होता है। उस कष्ट का अनुभव न हो इसके लिए इन्जेक्शन या दवाई दी जाती है जिससे पीड़ा या दर्द का शमन हो जाता है। घाव के विद्यमान रहने पर भी रोगी उसके दर्द का अनुभव नहीं करता। निश्चेतक इन्जेक्शन या दवा के परिणामस्वरूप जीव उदय होने वाली वेदना से उस समय बचा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया विशेष से कर्म प्रकृतियों के कुफल का शमन किया जाता है। यही उपशमना करण है। परन्तु जिस प्रकार इन्जेक्शन या दवा से दर्द का शमन रहने पर भी घाव भरता रहता है और घाव भरने का जो समय है वह घटता है। इसी प्रकार कर्म-प्रकृतियों के फलभोग का शमन होने पर भी उनकी स्थिति, अनुभाग व प्रदेश घटता रह सकता है।

नियम— उपशमना करण केवल मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में ही होता है।

करण—सिद्धान्त का महत्त्व

करण का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वर्तमान में जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो रहा है, पुरानी बंधी हुई प्रकृतियों पर उनका प्रभाव पड़ता है और वे वर्तमान में बध्यमान प्रकृतियों के अनुरूप परिवर्तित हो जाती हैं। सीधे शब्दों में कहें तो वर्तमान में हमारी जो आदत बन रही है, पुरानी आदतें बदल कर उसी के अनुरूप हो जाती हैं। यह सबका अनुभव है। उदाहरणार्थ— प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ले सकते हैं।

प्रसन्नचन्द्र राजा थे। वे संसार को असार समझकर राजपाट और गृहस्थाश्रम का त्याग कर साधु बन गये थे। वे एक दिन साधुवेश में ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। उस समय श्रेणिक राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए उधर से निकला। उसने राजर्षि को ध्यान मुद्रा में देखा। श्रेणिक

ने भगवान् के दर्शन कर भगवान् से पूछा कि ध्यानस्थ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इस समय काल करें तो कहाँ जायें? भगवान् ने फरमाया कि सातवीं नरक में। कुछ देर बार फिर पूछा तो भगवान् ने फरमाया— छठी नरक में। इस प्रकार श्रेणिक राजा द्वारा बार-बार पूछने पर भगवान् ने उसी क्रम से फरमाया कि छठी नरक से पांचवी नरक में, चौथी नरक में, तीसरी नरक में, दूसरी नरक में, पहली नरक में। फिर फरमाया प्रथम देवलोक में, दूसरे देवलोक में, क्रमशः बारहवें देवलोक में, नव ग्रैवेयक में, अनुत्तर विमान में जावें। इतने में ही राजर्षि को केवलज्ञान हो गया।

हुआ यह था कि जहाँ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ खड़े थे, उधर से कुछ पथिक निकले। उन्होंने राजर्षि की ओर संकेत कर कहा कि अपने पुत्र को राज्य का भार संभला कर यह राजा साधु बन यहाँ ध्यान में खड़ा है तो शत्रु ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया है। वहाँ भयंकर संग्राम हो रहा है, प्रजा पीड़ित हो रही है। पुत्र परेशान हो रहा है। इसे कुछ विचार ही नहीं है। यह सुनते ही राजर्षि को रोष व जोश आया। होशहवाश खो बैठा। उसके मन में उद्वेग उठा। मैं अभी युद्ध में जाऊँगा और शत्रु सेना का संहार कर विजय पाऊँगा। इसका धर्म—ध्यान रौद्र ध्यान में संक्रमित हो गया। अपनी इस रौद्र, घोर हिंसात्मक मानसिक स्थिति की कालिमा से वह सातवीं नरक की गति का बंध करने लगा। ज्योंही वह युद्ध करने के लिए चरण उठाने लगा त्योंही उसने अपनी वेशभूषा को देखा तो उसे होश आया कि मैंने राजपाट का त्याग कर संयम धारण किया है। मेरा राजपाट से अब कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार उसने अपने आपको संभाला। उसका जोश—रोष मन्द होने लगा। रोष या रौद्र ध्यान जैसे—जैसे मन्द होता गया, घटता गया वैसे—वैसे नारकीय बंधन भी घटता गया और सातवीं नरक से घटकर क्रमशः पहली नरक तक पहुँच गया। इसके साथ ही पूर्व में बांधे सातवीं आदि नरकों की बंध की स्थिति व अनुभाग घटकर पहली नरक में अपवर्तित हो गये। फिर भावों में और विशुद्धि आई। रोष—जोश शांत होकर संतोष में परिवर्तित हो गया तो राजर्षि देव—गति का बंध करने लगा। इससे पूर्व ही में बंधा नरक गति का बंध देव गति में रूपान्तरित हो गया। फिर श्रेणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगी तो भावों में अत्यन्त विशुद्धि आई। कषायों का उपशमन हुआ तो

अनुत्तर विमान देवगति का बंध होने लगा। फिर भावों की विशेष विशुद्धि से पाप कर्मों का स्थिति घात और रसघात हुआ। कर्मों की तीव्र उदीरणा हुई। फिर क्षीण कषाय होने पर पूर्ण वीतरागता आ गई जिससे केवलज्ञान हो गया। इस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपनी वर्तमान भावना की विशुद्धि व साधना के बल से पूर्वबद्ध कर्मों का संक्रमण, उदीरण आदि करण (क्रियाएँ) कर कृतकृत्य हुए।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व जीवन में दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ व दुःखद पाप कर्मों की बंधी हुई उसकी स्थिति व अनुभाग को वर्तमान में अपनी शुभ प्रवृत्तियों से शुभकर्म बांधकर घटा सकता है तथा शुभ व सुखद पुण्य कर्मों में संक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्तमान में अपनी दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ पाप कर्मों का बंधन कर पूर्व से बांधे शुभ व सुखद कर्मों को अशुभ व दुःखद कर्मों के रूप में भी संक्रमित कर सकता है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि पूर्व में बंधे हुए कर्म उसी प्रकार भोगने पड़ें। व्यक्ति अपने वर्तमान कर्मों (प्रकृतियों) के द्वारा पूर्व में बंधे कर्मों को बदलने, स्थिति, अनुभाग घटाने—बढ़ाने एवं क्षय करने में पूर्ण समर्थ व स्वाधीन है।

इस सिद्धान्त के अनुसार साधक वर्तमान में जितना—जितना विवेक पूर्वक कषाय या राग घटाता जायेगा उसके उतने ही उतने पूर्व संचित कर्म या संस्कार स्वतः निःसत्त्व, निर्बल, निर्बलतर होते जायेंगे और जैसे ही वह राग का पूर्ण क्षय कर वीतराग भाव को प्राप्त होगा, उसके घाती (हानिकारक) कर्मों का पूर्ण क्षय हो जायेगा। इस प्रकार साधक वर्तमान में अपने पराक्रम पुरुषार्थ द्वारा प्रथम गुणस्थान से ऊपर उठता हुआ, घोर घाती कर्मों (दुष्कर्मों) का क्षय करता हुआ अंतर्मुहूर्त (कुछ ही मिनटों में) में केवलज्ञान प्राप्त कर अजर, अमर, अविनाशी, अक्षय, शाश्वत सुख पा सकता है।

तात्पर्य यह है कि भूतकाल किसी का भी निर्दोष नहीं है। यदि उसमें राग का दोष न होता तो जन्म ही नहीं होता। परन्तु व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा वर्तमान को निर्दोष बनाकर सुख—दुःख के बंधन से मुक्त हो निरामय (दुःखरहित), अक्षय, अव्याबाध, परमानन्द को सदा के लिए प्राप्त कर सकता है। ऐसा करने में मानव मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है। फिर भी निराश

होकर वैसा न करना घोर प्रमाद है, भयंकर भूल है जो महाविनाश का कारण है। अतः प्रमाद व भूल छोड़ कर वर्तमान को निर्दोष बनाने में ही मानव का मंगल है, कल्याण है।

कर्मसिद्धान्त एवं मनोविज्ञान

जैन दर्शन में जिसे कर्मबंध होना कहते हैं उसे मनोविज्ञान में मानसिक ग्रन्थि का निर्माण होना कहते हैं। इस कर्मबंध या मनोग्रन्थि का निर्माण होता है भोग प्रवृत्ति से, सुख भोगने की इच्छा या संकल्प से। भोग की रुचि को जैन दर्शन में रति कहा है। भोग के प्रति रति या रुचि तो रहे परन्तु किसी भय से या अन्य सुख के प्रलोभन से उसे न भोगें अर्थात् उस ग्रन्थि का दमन करें तो वह नष्ट नहीं होती है, प्रत्युत प्राकृतिक नियमानुसार वह दमितग्रन्थि विशेष विकृत होकर विक्षिप्तता आदि किसी अन्य मार्ग से प्रकट (उदय) होती है। इसे जैन कर्म सिद्धान्त में स्व जातीय, पर प्रकृति रूप संक्रमण का एक प्रकार कहा है। अर्थात् वह अन्य मानसिक रोग के रूप में प्रकट होती है। अतः मनोविज्ञान में इच्छा का दमन न करते हुए उसे भोगने पर बल दिया गया है। परन्तु इस प्रकार भोग रूप में प्रकट हुई इच्छा में सुख का अनुभव होता है जो रुचिकर लगता है जिससे उसका संस्कार अंतस्तल पर अंकित हो जाता है। अर्थात् नवीन ग्रन्थि बंध का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार इच्छाओं की उत्पत्ति-पूर्ति का, मानसिक ग्रन्थियों के उदय व निर्माण का प्रवाह या संतति सतत चलती रहती है, उसका अन्त नहीं होता है। भोग की इच्छा की पूर्ति करने रूप उपाय को पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि प्राणिमात्र जाने-अनजाने काम में ले रहे हैं परन्तु ऐसा करके आज तक किसी ने भी मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा नहीं पाया है।

वस्तु स्थिति यह है कि वर्तमान मनोविज्ञान कर्म बंध व उदय की प्रक्रिया के स्थूलतम प्राकृतिक रूप को ही पकड़ पाया है। यह मानसिक ग्रन्थियों— जो भोगेच्छा के रूप में प्रकट या उदय होती हैं— के भोगने का समर्थन करता है। इसका मानना है कि इच्छाओं के दमन से कुंठाओं एवं जटिल मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण होता है। जिनका परिणाम विक्षिप्तता आदि भयंकर रोगों के रूप में प्रकट होता है। इन रोगों से बचने के उपाय

को मनोविज्ञान में उदात्तीकरण (Sublimation) की प्रक्रिया कहते हैं। इसमें सेवा आदि लोकोपकारी कार्य करने को स्थान दिया गया है जो जैन दर्शन में वर्णित संक्रमण की प्रक्रिया का अत्यल्प अंश मात्र है। इच्छाओं को भोगने से मिले सुख से नवीन इच्छाओं का, मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण होता रहता है। फिर उन ग्रन्थियों का भोगने के रूप में उदय होता है। इस प्रकार मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण और उदय का चक्र बराबर चलता ही रहता है। इस चक्र के भेदन का आधुनिक मनोविज्ञान में अभी तक कोई उपाय नहीं खोजा जा सका है, जबकि जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त में मानसिक ग्रन्थियों के दमन किए बिना ही उनके विजय, विलय व क्षय का बड़ा ही सरल, सुगम, सुन्दर उपाय बताया है। जैन धर्म में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि मानव-जीवन भोगेच्छाओं की पूर्ति करने के लिए नहीं मिला है, मानव जीवन तो भोगों पर विजय पाने के लिए मिला है।

जैन दर्शन में मानव-जीवन की सार्थकता मुक्ति-प्राप्ति को बताया है। मुक्ति का अर्थ बन्धन रहित होना, स्वाधीन होना है। जैन दर्शन में न केवल साध्य में ही स्वाधीनता निरूपित है, अपितु साधना में भी पूर्ण स्वाधीनता है। जैन दर्शन की आधारशिला ही स्वाधीनता है। अर्थात् साधक का मुक्ति प्राप्ति रूप साध्य भी 'स्वाधीनता' है और उस स्वाधीनता को प्राप्त करने में अर्थात् कर्मों को क्षय करने में भी साधक स्वाधीन है।

जैन दर्शन में कर्मक्षय कर मुक्ति रूप साध्य की प्राप्ति के दो प्रमुख साधन बताये हैं— 1. संवर और 2. निर्जरा। संवर है नये कर्म न बांधना अर्थात् कषाय युक्त प्रवृत्ति न करना। दूसरे शब्दों में विषय भोगों का त्याग करना और निर्जरा है पूर्व में बंधे कर्मों को बिना फल भोगे क्षय करना। अर्थात् ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि तपों द्वारा मोह व कषाय को गलाना, साथ ही पुण्य कार्य रूप सेवा द्वारा पाप कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग का अपकर्षण करना। जैन धर्म में संवर और निर्जरा रूप साधना करने में मानव मात्र को पूर्ण समर्थ और स्वाधीन माना है। इसमें वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, जाति, अवस्था, देश, काल आदि को कहीं भी बाधक नहीं माना गया है।

कर्म सिद्धान्त : जीवन शास्त्र

आशय यह है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त प्राकृतिक विधान के आधार पर स्थित है। पूर्ण मनोवैज्ञानिक, परा मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक है। इसे जानकर नवीन कर्म बंध को रोका जा सकता है, पुराने बंधे हुए पाप कर्मों को पुण्य में बदला जा सकता है अथवा उनका नाश भी किया जा सकता है और सदा के लिए शरीर और संसार से अतीत होकर देहातीत—लोकातीत, अजर, अमर अविनाशी, अक्षय व अनंत सुखमय जीवन का अनुभव किया जा सकता है।

जैन दर्शन का कर्म—सिद्धान्त जीवन विज्ञान है। जीवन—विज्ञान होने से इसमें जीवन से संबंधित समस्त स्थितियों का अर्थात् जीवन का सर्वांगीण विवेचन है। जीव का जन्म क्यों, कैसे व कहाँ होता है? जन्म लेने के पश्चात् तन, मन, वचन व चेतन तथा इनसे संबंधित व्यापारों की उत्पत्ति, उसका कारण तथा निवारण आदि समस्त विषयों पर विशद प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः कर्म—सिद्धान्त जीवन—शास्त्र है, जिसमें राग—द्वेष आदि बंधनों, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, पराधीनता, अभाव, तनाव, दबाव आदि दुःखों से मुक्ति—प्राप्ति का अत्यन्त सरल, सहज, सुगम मार्ग भी बताया है, जिसे अपना कर मानव मात्र सदा के लिए इन दुःखों से मुक्त होकर शरीर और संसार से अतीत के अविनाशी, अजर, अमर, जीवन एवं अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुख का स्वामी हो सकता है।

इस कृति में मैंने जो विवेचन किया है, वह जैनागम एवं कर्म—सिद्धान्त के ग्रन्थों में प्रतिपादित तथ्यों के अनुसार है। मैंने लेखन में तटस्थ एवं संतुलित दृष्टिकोण अपनाने का एवं भाषा में संयत रहने का प्रयास किया है। तथापि मैंने क्षयोपशमिक ज्ञान में कमी या भूल होना संभव है। अतः मैं उन सभी आगमज्ञ विद्वानों, तत्त्वचिंतकों एवं विचारकों के सुझावों, समीक्षाओं, समालोचनाओं एवं मार्ग—दर्शन का आभारी रहूँगा, जो प्रस्तुत कृति का तटस्थ भाव से अध्ययन कर अपने मन्तव्य से मुझे अवगत करायेंगे।

मेरे जीवन—निर्माण में तथा आध्यात्मिक एवं तात्त्विक रुचि जाग्रत करने में आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा. की महती कृपा रही है। आज

मैं जो भी हूँ, सब उन्हीं की देन है। श्री देवेन्द्रराज जी मेहता से गत अनेक वर्षों से मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। आप लेखन के लिए सतत प्रेरणा देते रहे हैं तथा प्राकृत भारती अकादमी के माध्यम से प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करवाने में विशेष उत्साह व रुचि लेकर सर्व प्रकार का सहयोग देते रहे हैं। आपकी प्रेरणा के फलस्वरूप यह पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसके लिए मैं मेहता साहब का आभार एवं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आचार्यप्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म.सा. ने पुस्तक के लेखन में सुझाव दिये। इसके लिए मैं आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आपकी आज्ञानुवर्तिनी महासती श्री कमलप्रभा जी एवं श्री पदमचन्द्र मेहता ने पुस्तक का अवलोकन कर उत्साहवर्द्धन किया, डॉ. सागरमल जी ने भूमिका लिखी, डॉ. धर्मचन्द्र जी ने सम्पादन किया। प्राकृत भारती अकादमी ने इसे प्रकाशित किया, इन सबका आभार व कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

—कन्हैयालाल लोढ़ा

82/127, मानसरोवर, जयपुर—20

भूमिका

समग्र भारतीय चिन्तन में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया प्रमुच्यते' अर्थात् प्राणी कर्म से बंधन में आता है और विद्या अर्थात् ज्ञान से मुक्त होता है। जैन परम्परा में सूत्रकृतांग (1.1.1.1) में कहा गया है कि साधक को यह जानना चाहिए कि भगवान ने बंधन किसको कहा है और उसे क्या जानकर तोड़ा जा सकता है। क्योंकि बंधन के स्वरूप को जानकर ज्ञानपूर्वक या बोधपूर्वक ही उसे तोड़ा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में बंधन का मूलभूत कारण अज्ञान या मोह माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र (32.7) में राग-द्वेष को कर्म बीज कहा गया है और उनका कारण मोह कहा गया है। वैसे जैन आचार्यों ने बंधन के पाँच हेतुओं का उल्लेख किया है— 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग। कुंदकुंद आदि कुछ जैन आचार्यों ने इनमें 'प्रमाद' को छोड़ कर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ऐसे बन्धन के चार कारण भी बताए हैं, किन्तु यदि हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो इनमें भी मिथ्यात्व, अविरति तथा प्रमाद की सत्ता तो कषाय के कारण ही मानी गयी है। जैन कर्मसिद्धान्त की यह मान्यता है कि जब तक अनन्तानुबंधी कषाय अर्थात् तीव्रतम कषाय का उदय रहता है तभी तक मिथ्यात्व रहता है। मिथ्यात्व की सत्ता अनन्तानुबंधी कषायों पर ही निर्भर करती है। यद्यपि मिथ्यात्व शब्द मिथ्या अवधारणाओं से ग्रसित होने का सूचक है और इस अर्थ में वह मोह का वाचक भी है, किन्तु उसकी सत्ता का आधार तो अनन्तानुबंधी कषाय ही है, क्योंकि अनन्तानुबंधी कषायों के उदय के सद्भाव में ही मिथ्यात्व के उदय का सद्भाव है। मिथ्यात्व से ऊपर उठने के लिए अनन्तानुबंधी कषायों का क्षय या उपशम आवश्यक होता है। अतः मिथ्यात्व कषाय आश्रित है। इसी क्रम में अविरति को भी कषाय आश्रित माना गया है, क्योंकि जैन कर्मसिद्धान्त की यह मान्यता है कि जब तक अप्रत्याख्यानी कषाय अर्थात् अनियंत्रित क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्तियाँ उदय में रहती हैं, दूसरे शब्दों में जब तक व्यक्ति

क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रख पाने में असमर्थ रहता है तब तक अविरति का उदय रहता है। अविरति का तात्पर्य है हिंसा आदि पंच पापों से निवृत्त नहीं होना। इन पंच पापों से निवृत्ति तभी संभव है, जब हम अपनी क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करने में सफल होते हैं। व्यवहार में भी हम यह देखते हैं कि जो व्यक्ति अपने क्रोध, मान, माया और लोभ के आवेगों पर नियंत्रण नहीं रख पाता है वह अपने जीवन-व्यवहार में हिंसा, अप्रामाणिकता आदि का सहारा लेता है। इस प्रकार अविरति और कषायों के नियंत्रण की क्षमता का अभाव—दोनों सहवर्ती हैं। दूसरे शब्दों में मिथ्यात्व और अविरति के मूल में कहीं न कहीं कषायों का सम्बन्ध रहा हुआ है। जहाँ तक बंधन के तीसरे कारण प्रमाद का प्रश्न है वह तो स्वयं कषाय का ही एक रूप है। प्रमाद का सामान्य अर्थ आत्म सजगता का अभाव है। जब तक क्रोध, मान, माया और लोभ के आवेग तीव्र रूप में होते हैं, तब तक हमारा विवेक प्रसुप्त रहता है और जब तक विवेक सजग नहीं होता है तब तक कषायों से मुक्ति भी संभव नहीं है। चेतना की पूर्ण सजगता में ही कषायों अर्थात् क्रोध मान, माया और लोभ की प्रवृत्तियों के उदय का अभाव होता है। जैन परम्परा की मान्यता यह है कि जहाँ कषाय है वहाँ प्रमाद है। पुनः सूत्रकृतांग में प्रमाद को ही कर्म अर्थात् बंधन कहा गया है। अप्रमत्तता की स्थिति में कर्म अकर्म हो जाता है अर्थात् अबंधक हो जाता है।

इस प्रकार बंधन के पाँच हेतुओं में मूल हेतु तो कषाय ही है। यदि बंधन से मुक्त होना है तो कषायों से मुक्त होना होगा। जैन परम्परा की यह स्पष्ट मान्यता है कि कर्म बंध तभी तक सम्भव है जब तक कषायों की सत्ता रही हुई है। व्यक्त या अव्यक्त रूप हुए क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय ही बंधन के हेतु हैं। बन्धन की तीव्रता और मंदता कषाय की तीव्रता या मंदता पर निर्भर करती है। इसी प्रकार पुण्य और पाप का बन्धन भी क्रमशः कषाय की अल्पता या तीव्रता पर निर्भर करता है।

यद्यपि बन्धन के एक हेतु के रूप में जैन परम्परा में योग अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ भी मानी गई हैं, किन्तु वे वास्तविक रूप में बन्धन की हेतु नहीं हैं, अपितु आस्रव की हेतु हैं और समान्यतया आस्रव ही बंध हेतु होता है। इसलिए योग को उपचार से बन्ध

। हेतु कहा गया है। किन्तु कषाय के अभाव में मात्र योग से स्थितिबन्ध नहीं होता है। स्थितिबन्ध के अभाव में योगजन्य कर्मप्रदेश आत्मप्रदेशों का स्पर्श कर निर्जरित हो जाते हैं। अतः योग को मात्र आस्रव हेतु ही मानना चाहिए, बन्ध हेतु नहीं। वह उपचार से ही बन्ध हेतु कहा जाता है। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ, जिन्हें जैन पारिभाषिक शब्दावली में योग कहा गया है, वे दो प्रकार की हैं— 1. ईर्यापथिक और 2. साम्परायिक। इनमें मन, वचन और काया की कषाय रहित मात्र ईर्यापथिक प्रवृत्तियों में वास्तविक रूप में बंध नहीं होता है। क्योंकि इनमें कषायों का अभाव होता है। कषाय युक्त मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ ही साम्परायिक कही जाती हैं, ये ही वस्तुतः बन्ध-हेतु हैं। कषाय रहित मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों से जो ईर्यापथिक बंध होता है वह मात्र एक समय का होता है। उसकी स्थिति नहीं होती है, अतः उसका होना नहीं होने के समान ही है।

जैन परम्परा में जो चार प्रकार का बंध माना गया है, वह प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप है। इनमें प्रकृति बंध और प्रदेश बंध का हेतु तो योग होता है और स्थिति बंध और अनुभाग बंध का हेतु कषाय होते हैं। कषाय के अभाव में कर्मों का स्थिति बन्ध सम्भव नहीं है अतः यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो बन्ध का हेतु कषाय ही है। जैन कर्मसिद्धान्त की स्पष्ट मान्यता है कि दसवें गुणस्थान तक संज्वलन लोभ कषाय का उदय है, तभी तक कर्म प्रकृतियों का स्थिति बंध संभव है। कषाय के उदय के अभाव में ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें इन तीनों गुणस्थानों में योगजन्य मात्र एक समय की स्थिति वाला सातावेदनीय का बंध माना गया है। वह उपचार से ही बंध कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बंधन का हेतु कषाय है, जो मोहनीय कर्म की प्रकृति है। इसलिए जब तक मोहनीय कर्म का क्षय नहीं होता तब तक मुक्ति सम्भव नहीं है।

जैन धर्म में कर्म आठ प्रकार के माने गए हैं — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय। इन आठ कर्मों में सात कर्मों का बंध नियम से कषाय के सद्भाव में होता है वेदनीय कर्म में भी मात्र सातावेदनीय कर्म ही ऐसा है, जिसका एक समय का ईर्यापथिक बंध कषाय के अभाव में मात्र योगप्रवृत्ति से होता है। किन्तु

यह सातावेदनीय का बन्ध वस्तुतः बन्ध नहीं है। अतः बन्ध का सम्बन्ध मूलतः कषाय से है और कषाय का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। इसलिए जैन कर्मसिद्धान्त की यह मूलभूत मान्यता है कि कषाय के अभाव में बन्ध का अभाव हो सकता है। वस्तुतः यदि बंधन से विमुक्ति की ओर यात्रा करनी है तो कहीं न कहीं कषायों से मुक्त होना होगा। इसलिए आचार्य हरिभद्र ने कहा था— **‘कषायमुक्तिः किल मुक्तिनेव’**।

यदि हम कषायों से मुक्त होना चाहते हैं तो हमें कषायों के स्वरूप को समझना होगा। जैन परम्परा में कषायों का स्वरूप निम्न रूप से वर्णित है—

जैनदर्शन में ‘कषाय’ शब्द की व्युत्पत्ति दो रूपों में की जाती है। प्रथम कष+आय अर्थात् जिससे बन्धन की प्राप्ति होती है, उसे कषाय कहते हैं। दूसरे जो आत्मा के स्वाभाविक गुणों को कृश करे उसे भी कषाय कहा गया है। कषाय आत्मा की वैभाविक परिणति है। कषाय आत्मा के स्वलक्षण होकर उसकी विभाव दशा के सूचक हैं, क्योंकि इनके कारण आत्मा का समत्व भंग होता है। चेतना में तनाव उत्पन्न होता है। ये आत्मा का स्वभाव इसलिए नहीं हैं, क्योंकि ये पर के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। जैसे हमारे शरीर में रोग बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है, वैसे ही कषाय भी पर के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं— ये आत्मा को विकृत बनाते हैं और उसे बन्धन में डालते हैं।

परम्परागत दृष्टि से कषाय चार हैं — क्रोध, मान (अहंकार), माया (कपटवृत्ति) और लोभ। इनमें से प्रत्येक के चार-चार स्तर हैं — 1. अनन्तानुबन्धी अर्थात् जिन कषायों में क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, वे अनन्तानुबन्धी हैं। 2. अप्रत्याख्यानीय अर्थात् जिन कषायों पर व्यक्ति नियन्त्रण रख पाने में समर्थ नहीं होता है, वे अप्रत्याख्यानीय हैं। 3. जिन कषायों में प्रतिक्रिया पर हम नियन्त्रण कर पाते हैं वे प्रत्याख्यानीय कहे जाते हैं। 4. जो कषाय बाह्य रूप में अभिव्यक्त नहीं होते हैं, किन्तु अव्यक्त रहकर भी छद्मरूप से हमारी चेतना को प्रभावित करते हैं, वे संज्वलन कहे जाते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन में बाधक हैं, अप्रत्याख्यानी कषायों के कारण व्यक्ति आंशिक रूप से भी

सम्यक् आचरण नहीं कर पाता है, वह श्रावकधर्म के पालन में असमर्थता का अनुभव करता है। प्रत्याख्यानी कषाय की उपस्थिति में मुनिधर्म का पालन और संज्वलन कषाय के कारण वीतरागता की उपलब्धि सम्भव नहीं है। अतः बन्धन से मुक्ति के लिए कषायों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कषायों के विभिन्न रूपों में मूल में दो ही प्रमुख तत्त्व हैं राग और द्वेष। उत्तराध्ययनसूत्र (32.7) में कहा गया है कि 'रागो य दोसो य बीय कम्मबीयं' अर्थात् राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं। इन दोनों में द्वेष का हेतु राग और राग का हेतु मोह है। मोह और राग का सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा मुर्गी और अण्डे का सम्बन्ध। इनमें से किसी की पूर्वकोटि का निर्धारण संभव नहीं है। सत्य यह है कि जहाँ राग (ममत्व बुद्धि) होता है, वहाँ मोह होता है और जहाँ मोह होता है वहाँ राग होता है। यदि इस प्रक्रिया को और थोड़ा व्यापक रूप से समझने का प्रयत्न करें तो इसे इस प्रकार कह सकते हैं। मोह, मोह से राग, राग से द्वेष, राग-द्वेष से कषाय और कषाय से बन्ध और बन्ध से मोह। इस प्रकार एक चक्र निर्मित होता है। इस चक्र का भेदन मोह के भेदन से ही संभव है। मोह का तात्पर्य है, पर पदार्थों पर स्व का आरोपण अथवा अनात्म पर आत्म का आरोपण। जो अपना नहीं है उसे अपना मानना यही मोह है, इसी मोह से राग का प्रादुर्भाव होता है। जहाँ राग होता है वहाँ अव्यक्त रूप से द्वेष की सत्ता अवश्य रहती है राग के विषय के प्रतिकूल तत्त्व द्वेष का विषय बनते हैं। जहाँ राग-द्वेष होते हैं, वहाँ नियम से क्रोध, मान, माया और लोभ की सत्ता होती है और जहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ की सत्ता होती है, वहाँ बन्ध होता है। इसलिए बन्ध का मूल हेतु तो मोहजन्य राग ही है। उत्तराध्ययनसूत्र (32.8) में कहा गया है कि उसी का दुःख समाप्त होता है जिसे मोह नहीं होता है। जिसका मोह समाप्त हो जाता है उसे तृष्णा नहीं होती है। जिसे तृष्णा नहीं होती उसे लोभ नहीं होता और जिसे लोभ नहीं होता उसे कोई चाह नहीं होती और जहाँ चाह का अभाव है वहीं दुःख का अभाव है। अतः दुःख-विमुक्ति के लिए मोह-विमुक्ति आवश्यक है। चूँकि मोह के निमित्त से राग अर्थात् पर को अपना मानने की प्रवृत्ति होती है। अतः बन्धन से विमुक्ति का मुख्य आधार तो वीतरागता का अभाव है। उत्तराध्ययनसूत्र (32.19) में यह भी कहा गया है कि विषयभोगों में

आसक्ति अर्थात् उनके प्रति राग ही सब दुःखों का मूल कारण है। संसार में जो भी कायिक और मानसिक दुःख हैं वे सभी राग के कारण हैं। वीतराग तृष्णाजन्य दुःखों अर्थात् मानसिक दुःखों या तनावों से विमुक्त होता है। इसलिए संक्षेप में कहना हो तो इतना कहना ही पर्याप्त है कि जहाँ राग है वहाँ बन्धन है और जहाँ वीतरागता है वहाँ मुक्ति।

कर्मसिद्धान्त की अपेक्षा भी कर्मवर्गणाओं का आत्म-प्रदेशों के साथ जो तादात्म्य है वह राग के ही कारण है। इसलिए बन्धन से विमुक्ति के लिए रागभाव से ऊपर उठना आवश्यक है। राग 'पर' पर स्व का आरोपण है, वह ममत्व बुद्धि है और यह आरोपण अर्थात् मोह सम्यक् समझ के अभाव में होता है। सम्यक् समझ इसलिए नहीं होती है कि हम पर को अपना मान लेते हैं। इसलिए राग, द्वेष और मोह ये अन्योन्याश्रित हैं। बंधन से मुक्ति के लिए राग-द्वेष से ऊपर उठना होगा और राग-द्वेष से तभी ऊपर उठा जा सकता है जब हममें स्व और पर के सम्बन्ध में सही समझ का अर्थात् सम्यक् दृष्टिकोण का विकास होगा।

पुनः सही समझ या सम्यग्दृष्टि का विकास तभी सम्भव है जब व्यक्ति का रागभाव या आसक्ति टूटे। इसलिए जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान का तात्पर्य बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं है, अपितु वह स्व और पर के सम्बन्ध में एक सम्यक् समझ का विकास है। पण्डित कन्हैयालाल जी लोढ़ा का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान पर आवरण आता है, मोह के कारण। जितना-जितना मोह घनीभूत होता जाता है उतना-उतना ज्ञान क्रे ढँकने वाला आवरण भी घनीभूत होता जाता है और जितना मोह का आवरण हटता जाता है उतना ज्ञान का आवरण भी हटता जाता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य वस्तुएँ, भाषा, साहित्य, विज्ञान, कला, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित, खगोल, भूगोल आदि के ज्ञान से ज्ञानावरणीय कर्म की न्यूनता या अधिकता का मापन नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः यहाँ यह समझना आवश्यक है कि ज्ञानावरणीय कर्म का हेतु मोह है। अतः ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या उपशम भी मोह के क्षय या उपक्षम पर ही निर्भर करता है, वह बाह्य पदार्थों के सूचनात्मक ज्ञान पर नहीं। अतः जैनदर्शन में ज्ञानी होने का तात्पर्य बहुविध बाह्य

पदार्थों का सूचनात्मक ज्ञान नहीं है। उसकी दृष्टि में ज्ञान सूचना नहीं, ज्ञानाचार है — वह सम्यक् जीवन शैली का परिचायक है। आत्मज्ञानी ही वस्तुतः ज्ञानी है।

ज्ञान के सम्बन्ध में यहीं यह समझना आवश्यक है कि ज्ञान पर आवरण होना एक बात है और ज्ञान का विद्रूप होना दूसरी बात है। ज्ञान के विद्रूप या मिथ्या होने का कारण मोह है। सूचनात्मक ज्ञान चाहे कितना ही अधिक हो जाए, जब तक व्यक्ति की समझ सम्यक् नहीं होती है, तब तक वह विस्तृत ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही रहता है। सम्यक् समझ का मतलब है हेय और उपादेय का ज्ञान। सम्यक् समझ का मतलब है आत्म और अनात्म का विवेक। बंधन से विमुक्ति के लिए सम्यक् समझ का विकास आवश्यक है न कि सूचनात्मक व्यापक ज्ञान। यदि सम्यक् समझ का विकास नहीं होता है तो विपुल सूचनात्मक ज्ञान भी कर्म-बंधन का ही निमित्त बनता है। ज्ञान को मुक्ति में सहायक माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में ज्ञान से तात्पर्य सम्यग्ज्ञान से है।

इस संदर्भ में एक बात और समझ लेनी है कि जब तक सम्यग्दृष्टि का विकास नहीं होता है तब तक विशाल ज्ञान राशि भी मिथ्याज्ञान ही मानी जाती है। एक वैज्ञानिक भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है, किन्तु उसका ज्ञान तब तक सम्यक् नहीं माना जाता है, जब तक उसका दृष्टिकोण सम्यक् न हो। ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन का हेतु मोहनीय कर्म को ही माना गया है। मोहनीय कर्म के उदय तक ही ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या अर्थात् भोगवादी है, तो उसके द्वारा जो कुछ भी मतिज्ञान या श्रुतज्ञान के माध्यम से जाना जायेगा, वह उसके जीवन में ममता, कामना और राग-द्वेष को पैदा करेगा और इसलिए उसे बाह्यार्थ अर्थात् वस्तु जगत का यथार्थ ज्ञान होते हुए भी उसका वह ज्ञान अज्ञान या मिथ्याज्ञान की कोटि में ही माना जाएगा। इसलिए हमें यह समझ लेना चाहिए कि जैन दर्शन में ज्ञान के सम्यक् होने का तात्पर्य वस्तु की जानकारी नहीं है, अपितु वह दृष्टिकोण है जिसके आधार पर उसको देखा या जाना जाता है। अनेक आर्ष-शास्त्रों की जानकारी एक सम्यग्दृष्टि और एक मिथ्यादृष्टि दोनों को समान रूप से होती है। किन्तु उस जानकारी को जैनदर्शन सम्यग्ज्ञान नहीं मानता है।

तकनीकी जानकारी नहीं, अपितु उसके उपयोग की दृष्टि ही किसी ज्ञान को सम्यक् या मिथ्या बनाती है। जैन कर्मसिद्धान्त की यह मान्यता है कि चाहे व्यक्ति का ज्ञानावरणीय कर्म का बंध कितना ही प्रगाढ़ हो, किन्तु जैसे ही दसवें गुणस्थान के अंत में सूक्ष्मलोभ अर्थात् रागभाव समाप्त होता है तो वह उस ज्ञानावरणीय कर्म के प्रगाढ़ बंध को भी अंतर्मुहूर्त में ही समाप्त कर देता है। अतः ज्ञान का सम्यक् या मिथ्या होना वस्तुत्व की यथार्थ जानकारी पर निर्भर न होकर व्यक्ति के मोह के अभाव पर निर्भर करता है। बंधन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि बंधन का मूल हेतु तो मोह और तज्जनित राग भाव या ममत्व की वृत्ति ही है। ममत्व, तृष्णा और आसक्ति का प्रहाण ही मुक्ति का मार्ग है, जो सम्यग्दृष्टि के विकास से सम्भव है। किन्तु यह सम्यग्दृष्टि का विकास भी राग भाव या ममत्व की वृत्ति के प्रहाण से ही सम्भव है। ममत्व का प्रहाण तब होता है जब हमें स्व (अपने) और पर (पराये) की समझ आती है। संक्षेप में राग ही बन्धन है और वीतरागता ही मुक्ति का मार्ग है।

श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में एक नवीन चिन्तन :

प्रस्तुत कृति में श्रुतज्ञान का अर्थ भी परम्परागत मान्यता से भिन्नरूप में किया गया है, परम्परागत दृष्टि से श्रुतज्ञान आगमज्ञान या भाषिकज्ञान है। किन्तु श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा का कथन इससे भिन्न है। आध्यात्मिकदृष्टि से मतिज्ञान परवस्तु का ज्ञान या पदार्थ-ज्ञान है, क्योंकि वह इन्द्रियाधीन है, उसके विषय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि हैं, पुनः मन की अपेक्षा से भी वह बौद्धिकज्ञान है, विचारजन्य है अतः भेदरूप है। किन्तु श्रुतज्ञान को इन्द्रिय या बुद्धि की अपेक्षा नहीं है, वह शाश्वत सत्यों का बोध है। वे लिखते हैं कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय, मन, बुद्धि की अपेक्षा से रहित स्वतः होने वाला निज का ज्ञान है अर्थात् स्व स्वभाव का ज्ञान है। श्रुतज्ञान स्वाध्याय रूप है और स्वाध्याय का एक अर्थ है स्व का अध्ययन या स्वानुभूति। यदि श्रुतज्ञान का अर्थ आगम या शास्त्रज्ञान लें, तो भी वह हेय, ज्ञेय या उपादेय का बोध है। इस प्रकार वह विवेक ज्ञान है। विवेक अन्तःस्फूर्त है। वह उचित-अनुचित का सहज बोध है। निष्कर्ष यह है कि मतिज्ञान पराधीन है जबकि श्रुतज्ञान स्वाधीन है। इस प्रकार आदरणीय लोढ़ा जी ने आगमिक आधारों को मान्य करके भी एक नवीन दृष्टि से व्याख्या की है।

क्या केवल ज्ञान निर्विकल्प है?

प्रस्तुत कृति में पण्डित कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने एक यह प्रश्न उपस्थित किया है कि केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर विचार विकल्प रहते हैं या नहीं रहते हैं। सामान्य दृष्टिकोण यह है कि केवलज्ञान की अवस्था निर्विचार और निर्विकल्प की अवस्था है, किन्तु जैन कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि केवली में ज्ञानोपयोग और दर्शनापयोग दोनों ही होते हैं। दर्शनोपयोग को निर्विकल्प या अनाकार तथा ज्ञानोपयोग को सविकल्प या साकार माना गया है। पुनः केवली भी जब चौदहवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान के चतुर्थपाद पर आरुढ़ होते हैं तब ही वे निर्विचार अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान की अवस्था में विचार तो रहता है, क्योंकि केवलज्ञानी जब तक सयोग अवस्था में रहता है तब तक उसकी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति होती है। उसमें मनोयोग का अभाव नहीं है, मन की प्रवृत्ति है, अतः विचार है। यदि केवली निर्विचार या निर्विकल्प होता तो फिर उसे अयोगी केवली अवस्था में पहले स्थूल मन और फिर सूक्ष्म मन के निरोध की आवश्यकता ही नहीं रहती। मन की प्रवृत्तियों का निरोध यदि अयोगी केवली अवस्था में ही होता है तो फिर सयोगी केवली अवस्था में मन क्या कार्य करता है? क्योंकि निर्विकल्पता की अवस्था में तो मन के लिए कोई कार्य ही शेष नहीं रहता है। यदि ऐसा मानें कि केवली में भाव मन नहीं रहता है, मात्र द्रव्य मन रहता है, किन्तु द्रव्यमन भी बिना भाव मन के नहीं रह सकता। भाव मन के अभाव में द्रव्य मन तो मात्र एक पौद्गलिक संरचना होगा, जो जड़ होगा और जड़ में विचार सामर्थ्य संभव नहीं है और विचार के बिना मनोयोग के निरोध का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता है। मेरी दृष्टि में इस संदर्भ में पं. कन्हैयालाल जी लोढ़ा का यह मंतव्य उचित ही लगता है कि वस्तुतः विचार या विकल्प दो प्रकार के होते हैं— एक कामना रूप विचार और दूसरा निर्विकार या निष्काम विचार। निष्काम विचार में मात्र कर्तव्य बुद्धि होती है। केवली में कामनारूप या जिज्ञासा रूप विकल्प नहीं होते, किन्तु विवेक रूप विकल्प तो होते हैं। वह भी द्रव्य को द्रव्य के रूप में, गुण को गुण के रूप में और पर्याय को पर्याय के रूप में जानता है और ऐसा ज्ञान विकल्परूप ज्ञान है।

ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हेतु ज्ञान का अनादर नहीं — ज्ञान का अनाचरण है — आदरणीय लोढ़ा जी ने ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन के हेतु की समीक्षा करते हुए एक महत्वपूर्ण बात कही है। सामान्यतया यह माना जाता है कि, ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन का हेतु ज्ञान का 'अनादर' करना है। अनादर का सामान्य तात्पर्य उपेक्षा करना भी है, किन्तु लोढ़ा जी ने यहाँ एक महत्वपूर्ण बात कही है वह यह कि प्राचीन परम्परा में 'आदर' शब्द आचरण के अर्थ में आया है। प्राचीन मरुगुर्जर भाषा में भी आदर शब्द का अर्थ आचरण देखा जा सकता है, जैसे “**जाण्या पिण आदनिया नलीं**” इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः ज्ञानावरणीय कर्म के बंध का हेतु सत्य को सत्य समझते हुए भी उसे जीवन में आचरित नहीं करना है। इसके समर्थन में एक युक्ति यह भी दी जा सकती है — पंचाचारों में एक ज्ञानाचार भी है, अतः ज्ञान जानना नहीं, उसे आचरण में उतारना है। वस्तुतः इस कथन से एक संकेत निकलता है कि, वह ज्ञान जो आचरण में प्रतिफलित नहीं होता है वह अज्ञान रूप ही है, विष को जीवन घातक जानकर भी जो उसे खाता है, वह अज्ञानी है। वस्तुतः ज्ञान कोई व्यक्ति या वस्तु नहीं है जिसका आदर या अनादर होता है। ज्ञान एक गुण है और किसी भी गुण का आदर करने का तात्पर्य है उसे जीवन में उतारना। सामान्यतया ज्ञान के अनादर का अर्थ ज्ञान के साधनों का अनादर या उपेक्षा माना जाता है, लेकिन यह अर्थ परवर्ती ही है, क्योंकि भगवान महावीर के काल में ज्ञानार्जन हेतु ज्ञान के साधनों की अर्थात् पुस्तक, कलम आदि की आवश्यकता नहीं मानी जाती थी, मात्र गुण ही पर्याप्त था। ज्ञान की जड़—सामग्री का अनादर करने से भी ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होगा और उनका आदर करने से ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट हो जाएगा, यह मानना भी उचित नहीं है। वस्तुतः आदर का अर्थ उसका समीचीन उपयोग होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति पाक—शास्त्र की किसी पुस्तक की पूजा करे, उसे प्रणाम करे तो उससे न तो भोजन बनने वाला है और न ही भूख मिटने वाली है, अतः आदर का तात्पर्य वस्तुतः उसे जीवन में जीना है। ज्ञान मात्र जानना नहीं, अपितु जानकर जीना है। जो ज्ञान जीया नहीं जाएगा उस ज्ञान का वस्तुतः कोई लाभ नहीं। जैन परम्परा की यह विशेषता है कि वह ज्ञानाचार की बात करती है। उसके अनुसार ज्ञान मात्र

जानने की वस्तु नहीं है, वह जीने की वस्तु है। यदि एक व्यक्ति विष के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी रखते हुए भी उसका भक्षण करता है तो वह ज्ञानी नहीं माना जाएगा। तैरने के सम्बन्ध में पी-एच.डी करने वाला भी यदि तैरना नहीं जानता है तो वह डूबेगा ही। उसी प्रकार जो ज्ञान जीया नहीं जाता है वह ज्ञान वस्तुतः अज्ञान रूप या बंध रूप ही होता है। इस प्रस्तुत कृति में ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन और प्रहाण के सम्बन्ध में लोढ़ा जी ने जो दृष्टि प्रस्तुत की है, वह विचारणीय है। किन्तु ज्ञान के साधनों का अनादर ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हेतु है, यह बात भी एकान्त मिथ्या नहीं है, यह भी आगम सम्मत है, क्योंकि गुरु भी ज्ञान का साधन है और उसके प्रति अविनय या अनादर भाव ज्ञान-प्राप्ति में बाधक होगा अतः उससे भी ज्ञानावरणीय का बंध होगा।

पराघात एवं उपघात के नवीन अर्थ

इसी क्रम में आदरणीय लोढ़ाजी ने नामकर्म की 'पराघात' नामक प्रकृति का भी एक नवीन अर्थ किया है, जो उनकी समीचीन दृष्टि का परिचायक है। नामकर्म की प्रकृतियों में एक प्रकृति का नाम पराघात है। सामान्यतया नामकर्म की पराघात नामक इस प्रकृति का अर्थ यह किया जाता है कि जो दूसरे को निष्प्रभ कर दे या जिससे व्यक्ति अजेय बना रहे वह पराघात है। आदरणीय लोढ़ाजी ने पराघात के इस अर्थ को उपयुक्त न मान कर एक नवीन अर्थ दिया है। नामकर्म की यह प्रकृति पुद्गल विपाकी है, इसका सम्बन्ध शरीर से है अतः लोढ़ाजी की दृष्टि में इसका अर्थ है कि शरीर की वह शक्ति जो शरीर में आने वाले दूषित पदार्थों, दूषित वायु संक्रामक कीटाणु आदि से लड़कर उन्हें पराजित कर देती है। वस्तुतः पराघात प्रकृति हमारे शरीर में आये विजातीय तत्त्वों पर विजय प्राप्त करती है और इस प्रकार हमें स्वस्थ रखती है। इसी प्रकार उन्होंने उपघात नामक नामकर्म की प्रकृति का अर्थ भी भिन्न किया है, यथा— जो शरीर में विजातीय पदार्थों की उत्पत्ति कर शरीर में हानि पहुँचाती है वह उपघात नामक नामकर्म की प्रकृति है। इस प्रकार आदरणीय लोढ़ा जी ने परम्परागत मान्यताओं को एक नवीन अर्थ देने का प्रयास किया है। उनकी बन्ध तत्त्व सम्बन्धी यह कृति मात्र परम्परागत मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण नहीं है, अपितु उनकी एक नवीन दृष्टि से समीक्षा भी है।

गोत्रकर्म से तात्पर्य

उच्चगोत्रकर्म का अर्थ उच्च, समृद्धिशाली कुल में जन्म लेना या नीचगोत्र का अर्थ निम्न, क्षुद्र एवं दरिद्र कुल में जन्म लेना नहीं है। आदरणीय लोढ़ाजी का चिन्तन इस सम्बन्ध में भी परम्परागत मान्यता से भिन्न है। उनका मानना है कि जीवन में सद्गुणों का विकास उच्चगोत्र कर्म का उदय है और जीवन में दुर्गुणों की वृद्धि नीच गोत्र का उदय है। उनका कहना है कि हम परम्परागत मान्यता को स्वीकार करेंगे तो हरिकेशीबल नामक चाण्डाल मुनि में या पुणिया श्रावक में नीचगोत्र का उदय और हिंसकयज्ञों को सम्पन्न करने वाले ब्राह्मण में एवं दुराचार सम्पन्न व्यक्ति में उच्च गोत्र का उदय मानना होगा। लेकिन वास्तविकता तो इससे भिन्न ही है, उच्च गोत्र का तात्पर्य है सद्गुणों का विकास करने की योग्यता और निम्न गोत्र का तात्पर्य है दुर्गुणों में प्रवृत्त होने की प्रकृति। पुनः उच्च गोत्रकर्म के उदय में जाति, कुल, रूप एवं ऐश्वर्य का परम्परागत अर्थ लेना उचित नहीं होगा। यहाँ जाति का अर्थ संस्कार, कुल का अर्थ व्यवहार में शालीनता या अशालीनता, रूप का अर्थ आकर्षण, सामर्थ्य और ऐश्वर्य का अर्थ सद्गुण सम्पन्नता मानना होगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो चाण्डाल जाति में उत्पन्न हरिकेशी जैसे कुरूप मुनि में तप-तेज और अष्टाव्रक जैसे ज्ञानी में श्रुत सामर्थ्य मानने पर बाधा आएगी तब तो उनमें दोनों गोत्रों का उदय एक साथ मानना होगा जो आगम और कर्म सिद्धान्त से विपरीत है। यदि एक समय में एक ही गोत्र कर्म का उदय मानेंगे तो इनका परम्परा से भिन्न उपर्युक्त अर्थ स्वीकार करना होगा। क्योंकि उच्च जाति और कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कुरूप और विपन्न देखे जाते हैं। दूसरे किसी भी कर्म का सम्बन्ध बाह्यार्थों या वस्तुओं से नहीं है। ऐश्वर्य का सम्पत्ति अर्थ लेने पर वह भी बाह्य वस्तु होगा। इस सम्बन्ध में भी आदरणीय लोढ़ा जी का स्पष्ट मानना है कि गरीबी-अमीरी पूर्व कर्म के उदय का फल नहीं है। बाह्य निमित्तों की प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है, अपितु उन निमित्तों का उपयोग किस रूप में किया जाये यह व्यक्ति पर निर्भर है। कर्मों का उदय निमित्तों के उपयोग सामर्थ्य को सूचित करता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि घटनाएँ कर्म के उदय से सुख-दुःख रूप होती हैं, जैसे किसी रोग का होना असातावेदनीय कर्म के

उदय का परिणाम है अथवा अच्छा स्वास्थ्य सातावेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है, किन्तु प्रस्तुत कृति में आदरणीय लोढ़ाजी उक्त मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि घटनाएँ घटनाएँ हैं, वे सुख-दुःख रूप नहीं हैं। दूसरे, रोग या स्वास्थ्य भी कर्मजन्य नहीं हैं। रोग न तो असातावेदनीय का उदय है और न स्वस्थता सातावेदनीय का उदय है। घटनाओं या रोग आदि का संवेदन चेतना जिस रूप में करती है, उसका सम्बन्ध सातावेदनीय या असातावेदनीय से है। किसी के लिए वह सातावेदनीय का निमित्त बन जाती है तो दूसरे के लिए असातावेदनीय का निमित्त बन जाती है। रोग या घटनाएँ मात्र बाह्य निमित्त हैं, उनका दुःख रूप या सुखरूप संवेदन चेतनाश्रित है — अतः सातावेदनीय और असातावेदनीय संवेदन रूप चैतसिक अवस्था है, जो कर्मजन्य है।

इस प्रकार लोढ़ाजी वेदनीय कर्म का अर्थ भी परम्परा से हटकर करते हैं, किन्तु वह आगमानुकूल और समीचीन है। इसमें वैमत्य नहीं है। मलेरिया एक रोग या घटना है, वह किसी कर्म के निमित्त से नहीं होता है, किन्तु हम उसका संवेदन जिस रूप में करते हैं वह हमारे पूर्व कर्म संस्कार का परिणाम है — एक उसका वेदन समभाव से करता है तो दूसरा आकुलता से। बस यही वेदनीयकर्म अपना कार्य करता है। जो उसका वेदन समभाव से करता है वह असातावेदनीय का संक्रमण सातावेदनीय में करके उसका वेदन करता है तो दूसरा आकुलता की दशा में उसका वेदन असातावेदनीय रूप में करता है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में बन्धतत्त्व से सम्बन्धित विविध विषयों पर नवीन चिन्तन उपलब्ध होता है। यहाँ उसे समेट पाना तो सम्भव नहीं था। लेखक की समीक्षक किन्तु यथार्थ दृष्टि से परिचय पाने के लिये मात्र कुछ तथ्यों का संकेत किया है, जिससे पाठकों में ग्रन्थ के समग्र अध्ययन की रुचि जाग्रत हो। :

आदरणीय लोढ़ाजी ने कर्मबंध और कर्मविपाक का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व की दृष्टि से माना है, वे स्पष्टरूप से यह बताते हैं कि धन-सम्पत्ति की प्राप्ति या अप्राप्ति, रोग आदि की उत्पत्ति के बाह्य संयोग का बनना या नहीं बनना यह पूर्वबद्धकर्म के उदयाधीन नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कर्मबंध और उसका विपाक दोनो 'पर' या बाह्यार्थ से सम्बन्धित नहीं

हैं। उनका सम्बन्ध हमारे व्यक्तित्व से है। बाह्य संयोगों या बाह्य निमित्तों की उपलब्धि या अनुपलब्धि से नहीं है। इसका एक अर्थ यह भी है कि बाह्य परिवेश या पर्यावरण का अनुकूल या प्रतिकूल रूप में मिलना कर्मजन्य नहीं है। वह मात्र संयोगजन्य है। उनका कारण यदृच्छा/भवितव्यता/नियति है। जैन परम्परा में पंचकारण समवाय में काल, स्वभाव, नियति आदि भी स्वीकृत हैं अतः अनुकूल या प्रतिकूल संयोग के लिए पूर्वबद्ध कर्मों का उदय मानना उचित नहीं है। यहाँ तक आदरणीय लोढ़ा जी की मान्यता से मेरी पूर्ण सहमति है। जैन परम्परा में आठ कर्मों और विशेष रूप से घाती कर्मों में अन्तराय कर्म भी माना गया है। इस अन्तराय कर्म की पांच अवान्तर प्रकृतियाँ हैं :— 1. दानान्तराय, 2. लाभान्तराय, 3. भोगान्तराय, 4. उपभोगान्तराय और 5. वीर्यान्तराय (पुरुषार्थ शक्ति के प्रकटन में बाधा)। यहाँ 'अन्तराय' शब्द बाधा या बाधकतत्त्व की उपस्थिति का सूचक है। सामान्यतया बाधा या बाधकतत्त्व की उपस्थिति को बाह्य माना जाता है और ऐसा मानने पर यह लगता है कि कर्म का सम्बन्ध बाह्य निमित्तों की उपलब्धि या अनुपलब्धि से भी है। यदि प्रतिकूल निमित्तों का मिलना अन्तराय है तो फिर कर्म का सम्बन्ध बाह्य या पर से मानना होगा। इस समस्या का समाधान इस पुस्तक में निहित अन्तराय कर्म के विवेचन से प्राप्त हो जाता है। लोढ़ा सा. ने अन्तराय कर्म का निरूपण करते हुए उसे नूतन अर्थ दिए हैं तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य को क्रमशः उदारता का भाव, कामना का अभाव, आन्तरिक सौन्दर्य, माधुर्य एवं सामर्थ्य कहा है, जो आन्तरिक गुण हैं, उपलब्धियाँ हैं। लोढ़ा सा. ने अन्तराय कर्म के भेदों का विवेचन युक्तिसंगत एवं मर्मोद्घाटक रीति से किया है, जिसमें वर्तमान में प्रचलित अर्थों से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण स्वतः हो जाता है।

आदरणीय लोढ़ा सा. का यह मन्तव्य है कि कर्म का बन्ध और सत्ता वहीं है जहाँ आत्म-प्रदेश हैं, अतः उनका उदय भी वहीं होगा, जहाँ आत्म-प्रदेश हैं और आत्म-प्रदेश मात्र शरीर में ही पाये जाते हैं। अतः लाभान्तराय आदि का सम्बन्ध भी 'स्व' से ही है। लाभान्तराय के क्षय का भी यह अर्थ नहीं है कि हमें बाह्य वस्तुओं अर्थात् धन सम्पत्ति की प्राप्ति हो। उनका कथन है कि गरीबी-अमीरी का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस

सम्बन्ध में उन्होंने विस्तृत चर्चा अपनी प्रकाश्य पुस्तक 'गरीबी-अमीरी कर्म का परिणाम नहीं है', में की है। अतः यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तार से जाना अपेक्षित नहीं है।

वस्तुतः प्रस्तुत कृति में कर्म के बन्ध, उदय आदि के सम्बन्ध में उनका चिन्तन मौलिक और नवीन है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है उसका शास्त्रीय आधार नहीं है। उन्होंने समस्त लेखन शास्त्रीय आधारों पर किया है। उनकी इस कृति का अवलोकन पाठकों के चिन्तन को नई दिशा देगा और शास्त्रीय आधारों पर एक सम्यक् अवबोध प्रदान करेगा, साथ ही इस सम्बन्ध में, परम्परा में चली आई भ्रान्तियों का निराकरण करेगा। उनका सम्यक् मार्गदर्शन उनकी कृतियों के माध्यम से समाज को मिलता रहे, यही भावना है।

सागरमल जैन

निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ,
शाजापुर (म.प्र.)

आमुख

तत्त्वचिन्तक, ध्यान—साधक, विद्वद्भार्य एवं गुरुवर्य श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने जैनधर्म—दर्शन में प्रतिपादित जीवादि नवतत्त्वों का नूतन विवेचन किया है। इन नव तत्त्वों पर उनकी क्रमशः 1. जीव—अजीव तत्त्व 2. पुण्य—पाप तत्त्व, 3. आस्रव—संवर तत्त्व एवं 4. निर्जरा तत्त्व पुस्तकें पूर्व में प्रकाशित हो चुकी हैं। उसी शृंखला में यह 'बंध—तत्त्व' पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

'बंध—तत्त्व' पर लिखित यह पुस्तक अनूठी एवं क्रान्तिकारी है। इसमें मात्र बंध तत्त्व का ही नहीं अपितु कर्म—सिद्धान्त विषयक अनेक अवधारणाओं का आलोडन एवं समीक्षण हुआ है। पूज्य लोढ़ा साहब का कर्म विषयक मौलिक चिन्तन इस कृति का प्राण है। पुस्तक में आठ कर्मों एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों का गूढ़ार्थ प्रस्तुत करने का स्तुत्य उपक्रम किया गया है। पूज्य लोढ़ा सा. ने जैन कर्म—सिद्धान्त में प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं एवं विसंगतियों का निराकरण कर ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों एवं कर्मसिद्धान्त विषयक अनेक अवधारणाओं का नूतन विवेचन किया है।

सर्वप्रथम हम ज्ञानावरण कर्म को ही लें। ज्ञानावरण कर्म जो जीव के ज्ञान को आवरित करता है, उसका सीधा सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। जितना मोहकर्म प्रगाढ़ होता है, उतना ही ज्ञानावरण कर्म प्रबल होता है। जितना मोह घटता है उतना ही ज्ञानावरण कर्म का प्रभाव क्षीण होता जाता है एवं ज्ञान गुण प्रकट होता जाता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान गुण के घटने—बढ़ने का सम्बन्ध मोह के घटने—बढ़ने से है। मोह के कारण ज्ञानावरण में तरतमता होती है तथा ज्ञानावरण के कारण ज्ञान का प्रकटीकरण प्रभावित होता है। ज्ञान होना जीव का लक्षण है। जीव कुछ न कुछ अवश्य जानता है। अजीव जानने का साधन तो बन सकता है, किन्तु वह ज्ञाता नहीं बनता। उदाहरण के लिए हम नेत्र पर चश्मा लगाते हैं, तो वह उपकरण का कार्य करता है, किन्तु वह ज्ञाता नहीं होता।

कम्प्यूटर अनेक प्रकार के गणितीय प्रश्नों को हल करने में, ई-मेल द्वारा समाचार प्रेषित करने में इण्टरनेट के माध्यम से दुनियाभर की सूचना को प्रदर्शित करने में सहायक बनता है, किन्तु वह भी एक उपकरण ही है, ज्ञाता नहीं। ज्ञाता तो जीव ही होता है।

बाह्य जगत् का ज्ञान आभिनिबोधक ज्ञान अथवा मतिज्ञान है जो इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होता है अर्थात् इन्द्रियाँ इनमें करण बनती हैं। मतिज्ञान का व्यापक है। यह अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा तक ही सीमित नहीं होता, अपितु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमानजन्य ज्ञान भी मतिज्ञान स्वरूप ही है। बुद्धिजन्य ज्ञान भी मतिज्ञान है तथा जातिस्मरण ज्ञान को भी मतिज्ञान की श्रेणि में लिया गया है। मतिज्ञान के द्वारा शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श युक्त पदार्थों का तो ज्ञान होता ही है, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय एवं परमाणुसदृश सूक्ष्म पुद्गलों का ज्ञान भी मतिज्ञान के अन्तर्गत ही आता है, क्योंकि इसको जानने में बुद्धि एवं तर्क की अपेक्षा होती है। अब प्रश्न है कि मतिज्ञान पर आवरण किस प्रकार आता है? मतिज्ञान के प्रकटीकरण में जो सहायक करण हैं उनके निर्माण का सम्बन्ध तो नामकर्म से है। इन्द्रियादि की रचना नामकर्म से होती है, किन्तु उनमें जानने की क्षमता का आधार दर्शनावरण एवं ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है। मतिज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर जीव में ऐन्द्रियक ज्ञान के स्तर पर, स्मृति, तर्क, चिन्तन एवं बौद्धिक ज्ञान के स्तर पर रुकावट उत्पन्न हो जाती है। लेखक का यह मन्तव्य है कि बाह्य वस्तुओं अथवा विषयों का कितना ज्ञान हुआ है, इससे मतिज्ञान में कोई विशेषता नहीं आती।

श्रुतज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान है। स्वभाव-विभाव, गुण-दोष एवं हेय-उपादेय का स्वाभाविक ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। यह इन्द्रिय का विषय नहीं है, यह जीव को स्वतः प्राप्त वह ज्ञान है जिससे जीव को शान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व, पूर्णता, प्रसन्नता आदि गुण इष्ट होते हैं। वस्तु, शरीर आदि की नश्वरता, संसार की अशरणता आदि का बोध श्रुतज्ञान का स्वरूप है। इसे विवेक भी कहा जा सकता है। ज्ञान का सच्चा स्वरूप श्रुतज्ञान ही है। यही केवलज्ञान में सहायक है। श्रुतज्ञानी यह भी जानता है कि संसार में अशान्ति, अभाव, पराधीनता, चिन्ता, भय, संघर्ष-कलह, युद्ध,

तनाव, दबाव, हीनभाव, अन्तर्द्वन्द्व, नीरसता, जड़ता आदि जितने भी दुःख हैं, उनके मूल में विषयसुख की अभिलाषा है, अतः विषयसुख की अभिलाषा त्याज्य है। विषय—कषाय एवं समस्त पापों के त्याग में धर्म है, यह श्रुतज्ञान है। यह बोध हमें तीर्थकरों द्वारा निरूपित आगमवाणी से भी होता है, अतः उसे भी श्रुतज्ञान कहा है। यह ज्ञान जब चेतना के स्तर पर व्यक्ति को बिना आगमवाणी के अनुभूत होता है तो यह स्वतः उद्भूत श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान के स्वरूप को लोढ़ा सा. ने विस्तार से स्पष्ट किया है तथा 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' सूत्र में स्थित 'अनिन्द्रिय' शब्द का अर्थ मन न मानकर चेतना स्वीकार किया है।

श्रुतज्ञानावरण के कारण श्रुतज्ञान अभिव्यक्त नहीं होता है। श्रुतज्ञानावरण का जितना क्षयोपशम होता है वह उतने अंश में प्रकट होता रहता है। मिथ्यात्व के रहते वह श्रुत—अज्ञान कहलाता है तथा मिथ्यात्व के समाप्त होने पर उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है। श्रुतज्ञान से ही केवलज्ञान तक पहुंचा जा सकता है। अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान न भी हों तो भी श्रुतज्ञान के प्रभाव से सीधे केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। श्रुतज्ञान परोक्ष है एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान एवं मनःपर्यायज्ञान के भी लेखक ने नूतन अर्थ किए हैं। उनके अनुसार लोक का अर्थ शरीर है। शरीर में उठने वाली संवेदनाओं का आत्मप्रदेशों से अनुभव होना अवधिदर्शन है तथा उन्हें जानना अवधिज्ञान है। संवेदनाओं का यह ज्ञान इन्द्रिय एवं मन की सहायता से न होकर सीधे आत्मप्रदेशों से होता है, इसलिए यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। जब जीव अपने समस्त आत्म—प्रदेशों से शरीर के समस्त विषयभूत अर्थ को ग्रहण करता है तो सर्वावधि एवं परमावधि ज्ञान हो जाता है। लोढ़ा सा. के अनुसार लोक के बाह्य रूपी पदार्थों को निश्चित दूरी एवं अवधि तक जानने से अवधिज्ञान का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आत्महित से इसका सीधा प्रयोजन नहीं है। लोढ़ा सा. के अनुसार अवधिदर्शन एवं अवधिज्ञान ध्यान की प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं।

मन की पर्यायों को मन से असंग रहते हुए जानना मनःपर्यायज्ञान है। चिन्तन के न करने पर भी मन की जो पर्यायें प्रकट होती हैं वे मनःपर्याय ज्ञान का विषय बनती हैं। मतिज्ञान में जहाँ मन से सम्बद्ध अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा ज्ञान होते हैं तथा व्यक्ति स्वयं चिन्तन द्वारा मानसिक

क्रियाओं को संचालित करता है वहाँ मनःपर्यायज्ञान में साधक अपनी ओर से चिन्तन—मनन एवं संकल्प—विकल्प न कर मन से असंग एवं तटस्थ रहता है तथा मन में प्रकट होने वाले पूर्व संस्कारों को जानता है। मनःपर्यायज्ञान उन्हीं साधकों को होता है जो संयमी हैं, एवं विषय—भोगों से विरत हैं। मनःपर्यायज्ञान का प्रकट न होना मनःपर्यायज्ञानावरण है।

केवलज्ञान सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है। समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को बिना किसी अन्य करण के सीधे आत्मा से जानना केवलज्ञान है। केवलज्ञान में द्रव्य, गुण एवं पर्याय तीनों को एक साथ जाना जाता है। केवलज्ञान अशेषज्ञान है। इसके होने के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है। वीतराग अवस्था का जो निर्दोष—शुद्ध ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। इसे अनन्तज्ञान, अभेदज्ञान एवं अशेषज्ञान भी कहा गया है। अशेषज्ञान होने से इसे सर्वज्ञता के रूप में भी जाना जाता है।

ज्ञानावरण कर्म का बंध भी जीव ही करता है तथा उसका क्षय एवं क्षयोपशम भी जीव ही करता है। जीव में रही हुई आसक्ति एवं कषाय से कर्म सत्ता को प्राप्त होते हैं। आश्चर्य यह है कि कर्म जिससे सत्ता पाते हैं, उसी जीव को आवरित कर देते हैं और उसी जीव में उनके क्षय का ज्ञान भी होता है। जीव अविवेकजन्य अज्ञान के प्रभाव से विषय—कषाय तथा भोगों का सेवन कर ज्ञानावरण आदि कर्मों को बांध लेता है और विवेकजन्य ज्ञान के प्रभाव से विषय—भोगों का त्याग कर कर्मक्षय कर लेता है।

ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म—बंध के आगमों में छह कारण प्रतिपादित हैं— 1. प्रत्यनीकता 2. अपलाप 3. अन्तराय 4. प्रद्वेष 5. आसादन और 6. विसंवाद। इनमें प्रत्यनीकता का अर्थ है ज्ञान के विपरीत आचरण। अपलाप का तात्पर्य है ज्ञान का प्रभाव अपने पर न होने देना। अन्तराय से आशय है ज्ञान के अनुरूप आचरण को भविष्य हेतु टालना। प्रद्वेष का अर्थ है प्राप्त ज्ञान के प्रति द्वेष कर भोगों को आवश्यक मानना। आसादन का अभिप्राय है निजज्ञान का अनादर करना। श्रद्धेय लोढ़ा साहब के अनुसार इनमें ज्ञान का अनादर प्रमुख कारण है। ज्ञान के अनादर का तात्पर्य है ज्ञान को आचरण में न लाना। लोढ़ा साहब ने अनादर का अर्थ अनाचरण कर नया आयाम प्रस्तुत किया है। इससे अब तक चले आ रहे संकीर्ण अर्थ

पुस्तकों के अनादर आदि की अपेक्षा एक व्यापक अर्थ को स्थान मिला है। वस्तुतः प्राप्त ज्ञान को आचरण में न लाना ही उसका अनादर है तथा उससे ज्ञानावरण कर्म के बंध का सीधा सम्बन्ध है।

ज्ञान, अज्ञान एवं ज्ञानावरण में क्या भेद है? लोढ़ा साहब संक्षेप में लिखते हैं— “जिस ज्ञान से अपना हित हो, वही ज्ञान है तथा जिस ज्ञान से अपना अहित हो वह अज्ञान है।” सम्यग्दृष्टि वाले जीव का ज्ञान ‘ज्ञान’ अथवा सम्यग्ज्ञान है तथा मिथ्यादृष्टि वाले जीव का ज्ञान मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान है। उदाहरणार्थ बाह्य पदार्थ, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि को सुख—दुःख का कारण मानने रूप ज्ञान ‘अज्ञान’ है। अपने सुख—दुःख का कारण व्यक्ति स्वयं है, यह बोध ज्ञान है। इसका आदर न करने पर ज्ञान का प्रकट न होना ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्यादृष्टि जीव के अज्ञान प्रकट होता है।

ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिन कारणों से ज्ञान पर आवरण आता है उन्हीं कारणों से दर्शन गुण पर आवरण आता है। जीव की संवेदनशक्ति को दर्शन कहा गया है। यह संवेदनशक्ति ज्ञान की पूर्वावस्था है। पहले दर्शन होता है एवं फिर ज्ञान। गुण की दृष्टि से तो जीव में ज्ञान एवं दर्शन गुण दोनों एक साथ रहते हैं, किन्तु उपयोग की दृष्टि से इनमें क्रमभाव होता है। पूर्वाचार्यों ने दर्शन को निर्विकल्प, निराकार, अनिर्वचनीय, अविशेष, अभेद आदि विशेषताओं से युक्त बतलाया है तथा ज्ञान को सविकल्प, साकार, विशेष आदि कहा है। वीरसेनाचार्य ने धवला टीका (पुस्तक 13, पृ. 355) में ‘सगसंवेदन’ अर्थात् स्व—संवेदन को दर्शन कहा है। ‘दर्शन’ चेतना का मूल गुण है। इस गुण के विकास पर ही ज्ञान गुण का विकास निर्भर करता है। दर्शन के लिए चिन्मयता, अन्तर्मुख चैतन्य जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। दर्शन को सामान्यज्ञान एवं ज्ञान को विशेषज्ञान के रूप में परिभाषित करने में वह स्पष्टता नहीं आती है जो संवेदनशीलता एवं ज्ञान के रूप में भेद स्थापित करने से आती है।

दर्शन के चार प्रकार हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन। चक्षु की आन्तरिक ग्रहणशक्ति रूप संवेदनशीलता चक्षुदर्शन

है। इस गुण पर आवरण आना चक्षुदर्शनावरण है। शरीर, जिह्वा, नासिका एवं श्रोत्र इन्द्रियों की संवेदनशीलता अचक्षुदर्शन है तथा इनके इस गुण पर आवरण आना अचक्षुदर्शनावरणादि हैं तथा पाँच निद्राओं की भी इसमें गणना होती है। पाँच निद्राएँ हैं— 1. निद्रा 2. निद्रा-निद्रा 3. प्रचला 4. प्रचला-प्रचला एवं 5. स्त्यानगृद्धि। जो आत्मस्वरूप को, चैतन्यगुण को प्रकट न होने दे वह निद्रा है। ये पाँचों निद्राएँ यही कार्य करती हैं। स्वरूप की दृष्टि से इनके भिन्न लक्षण प्राप्त होते हैं। लोढा साहब ने भी इनके प्रायः वे ही प्रचलित लक्षण दिए हैं, यथा— खेद, परिश्रम आदि से उत्पन्न थकावट के कारण आने वाली निद्रा, जिसमें सुगमता से जाग्रत हुआ जा सके वह निद्रा है। निद्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि होना, निद्रा का प्रगाढ़ होना, कठिनाई से जाग्रत होना निद्रा-निद्रा है। चलायमान अवस्था में निद्रा आना प्रचला है, प्रचला की पुनः पुनः आवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है। सुप्त अवस्था में चलना-फिरना या अन्य कार्य करना स्त्यानगृद्धि है।

दर्शनावरण कर्म का भी मोहनीय कर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। मोह कर्म के कारण दर्शन शक्ति आच्छादित होती है। मोहकर्म मूर्च्छा का द्योतक है और मूर्च्छा जड़ता की द्योतक है। अतः जितना मोह बढ़ता है, उतनी ही मूर्च्छा की वृद्धि होती है। जितनी मूर्च्छा बढ़ती है, उतनी ही जड़ता बढ़ती है, जितनी जड़ता बढ़ती है उतना ही चेतन का चेतनतारूप दर्शन गुण आवरित होता है।

मोह के घटने एवं समता के बढ़ने से दर्शन गुण का प्रकटीकरण होता है। जैसे-जैसे दर्शन गुण का विकास या प्रकटीकरण होता जाता है, वैसे-वैसे स्व-संवेदन की स्पष्टता एवं सूक्ष्मता प्रकट होती जाती है, चेतना का विकास होता जाता है। दर्शन के विकास के साथ ज्ञान का विकास होता है। निर्विकल्पक चित्त की अवस्था में ही विचार या विवेक का उदय होता है। दर्शन गुण की प्रथम विशेषता संवेदनशीलता है तथा दूसरी विशेषता निर्विकल्पता है।

निर्विकल्प स्वरूप दर्शनगुण का विकास सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में तथा दर्शनमोह के क्षय में हेतु है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु होता है। दर्शनगुण के विकास में निर्विकल्पता के कारण समता की पुष्टि होती है और वह समता दर्शनावरण एवं दर्शनमोह में कमी लाती है।

दर्शनावरण कर्म बंध के जो छह कारण हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है— संकल्प—उत्पत्ति एवं पूर्ति को ही जीवन मानना तथा निर्विकल्पता के विरुद्ध आचरण करना दर्शन प्रत्यनीकता है। दर्शन—निह्नव का तात्पर्य है स्वतः प्राप्त निर्विकल्पता को सुरक्षित न रखना। निर्विकल्पता की अनुभूति को कालान्तर के लिए टालना दर्शन—अन्तराय है। निर्विकल्पता को अकर्मण्यता समझकर उससे द्वेष करना दर्शन—द्वेष है। दर्शन—आशातना से आशय है निर्विकल्पता की उपेक्षा करना, उसके सम्पादन के लिए प्रयत्नशील न होना। दर्शन— विसंवाद का अभिप्राय है निर्विकल्पता की उपलब्धि में अपने को असमर्थ मानना, उससे निराश होना उसे उचित न मानना।

सुख—दुःख का वेदन वेदनीय कर्म का फल है। आगम की पारिभाषिक शब्दावली में सुख को साता एवं दुःख को असाता कहा गया है। साता का वेदन पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों तथा मन सौख्य, वचन सौख्य एवं काय सौख्य से होता है। इसके विपरीत असाता का वेदन पाँच इन्द्रियों के अमनोज्ञ विषयों, मन दुःखता, वचन दुःखता एवं काया की दुःखता के रूप में होता है। इस आधार पर वेदनीय कर्म दो प्रकार का है— साता वेदनीय एवं असाता वेदनीय।

साता—वेदनीय कर्म का उपार्जन सभी प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों पर अनुकम्पा करने से होता है। उन्हें दुःख न देने से, उनमें शोक उत्पन्न न करने से, खेदित एवं पीड़ित न करने से तथा उनके पीड़ा—परिताप का निवारण करने से होता है। इसके विपरीत असातावेदनीय कर्म का उपार्जन अन्य प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों पर क्रूरता आदि के व्यवहार से यावत् परिताप उत्पन्न करने से होता है। इसका तात्पर्य है कि हमारा व्यवहार दूसरे प्राणियों के साथ कैसा है, इस पर साता एवं असाता का उपार्जन निर्भर करता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन (विलाप) को असातावेदनीय के बंध का कारण तथा भूतानुकम्पा, प्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षमा और शौच को सातावेदनीय के बंध का कारण स्वीकार किया गया है।

क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषाय के शमन से भी साता का अनुभव होता है। क्रोध— विजय से क्षमा, क्षमा से प्रह्लादभाव, प्रह्लादभाव से सब

प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न होता है। सब प्राणियों के प्रति मैत्री को अनुकम्पा भी कहा गया है। अनुकम्पा भाव साता का प्रमुख कारण है।

पुस्तक के लेखक ने दुःख का मूल सुख-दुःख के भोग को माना है। उनके अनुसार सुख के प्रति राग करना एवं दुःख के प्रति द्वेष करना सुख-दुःख का भोग है। अपने सुख का भोग न करके उसे पर पीड़ा से कुरुणित होकर सेवा में लगाना राग की निवृत्ति में सहायक है तथा दुःख से मुक्ति पाने के लिए सुख-दुःख के भोग का त्याग अनिवार्य है।

वेदनीय कर्म अघाती है इसलिए वह हानिकारक नहीं है। हानिकारक है साता की वेदना के प्रति राग एवं असाता की वेदना के प्रति द्वेष करना। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नये कर्मों को जन्म देती है। विद्वान् लेखक श्री लोढ़ा सा. ने विभिन्न तर्क प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बाह्य विषयों की प्राप्ति साता या असाता वेदनीय कर्म के उदय से नहीं होती, हाँ उन विषयों के निमित्त से जीव में साता या असाता का अनुभव वेदनीय कर्म के उदय से होता है। जीव में पहले किस प्रकार के कर्म-संस्कार हैं उसके अनुसार ही उसे उन विषयों के मिलने पर सुख-दुःख का वेदन होता है। लोढ़ा सा. ने उदाहरण देते हुए कहा कि कोई संगीतज्ञ लयताल के साथ संगीत सुनाता है, इससे परीक्षार्थी छात्र को एवं अन्य पड़ोसी को विघ्न उत्पन्न होने से असाता का वेदन होता है तथा संगीत के रसिक अभिलाषी व्यक्ति को उससे साता का अनुभव होता है। यदि संगीतज्ञ के संगीत-गायन को किसी एक के कर्म के उदय का फल माना जाए तो उससे दो प्रकार के फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। तीसरी बात यह भी है कि संगीतज्ञ जो संगीत सुना रहा है एवं स्वयं आनन्दित हो रहा है, उसका अपना भी तो कोई कर्म होगा, जिससे उसे साता का अनुभव हो रहा है। इस तरह विभिन्न प्रश्न खड़े होते हैं, अतः निमित्त से कर्म उदय में आते हैं, यह मानना तो उचित है, किन्तु निमित्त की प्राप्ति कर्म के उदय से होती है, यह मन्तव्य उचित नहीं है। निमित्तों की मनोज्ञता-अमनोज्ञता की वैयक्तिक स्वभाव एवं रुचि पर निर्भर करती है। जिस विष्टा की दुर्गन्ध से मनुष्य नाक सिकोड़ कर असाता का अनुभव करता है, उसी विष्टा का स्वाद एक सूअर को मनोज्ञ प्रतीत होता है। अतः

साता वेदनीय या असाता वेदनीय के उदय से किसी वस्तु की प्राप्ति—अप्राप्ति नहीं होती है। हम सामान्यजन कार्य पर कारण का आक्षेप कर सम्बद्ध वस्तु को भी अपने कर्म का फल मानते हैं, जो एक भ्रम है।

जो कर्म जीव को मोहित करे, मूर्च्छित करे, हित—अहित की पहचान न होने दे वह मोहनीय कर्म है। ज्ञानावरणादि आठों कर्मों में मोहकर्म प्रधान है। इसे कर्मों का राजा कहा जाता है। मोहकर्म के दो पक्ष हैं— दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय व्यक्ति की आन्तरिक दृष्टि का निर्धारण करता है तथा चारित्र मोहनीय उसके भावात्मक आचरण को द्योतित करता है। भीतरी दृष्टि में यदि पर पदार्थों में आसक्ति भाव है तो निश्चित ही दर्शनमोहनीय का प्रभाव है तथा आचरण में यदि क्रोध, मान, माया एवं लोभ का अस्तित्व है तो वह चारित्र मोहनीय कर्म का परिणाम है।

दर्शनमोहनीय के तीन प्रकार हैं— मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय। मिथ्यात्व मोहनीय का दूसरा नाम मिथ्यात्व एवं मिथ्यादर्शन भी है। सत्य तत्त्व के प्रति श्रद्धा न होकर अनित्य पदार्थों के भोगों के प्रति श्रद्धा होना मिथ्यात्व मोहनीय है। सम्यग्दर्शन से जनित शान्ति के सुख में रमणता अथवा उसका भोग सम्यक्त्व मोहनीय कर्म है। दूसरे शब्दों में सम्यक्त्व में मोहित होना, आगे न बढ़ना सम्यक्त्व मोह है। सम्यक्त्व मोह एवं मिथ्यात्व मोह का मिश्रण मिश्र मोह है। इसका उदय एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं होता है। सम्यग्दर्शन होने के पूर्व दर्शनमोहनीय की इन तीनों प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होना अनिवार्य होता है। कर्मबंध के समय मात्र मिथ्यात्वमोहनीय कर्म प्रकृति का बंध होता है, जबकि उदय के समय यह प्रकृति तीन स्वरूपों में प्रकट हो सकती है जिन्हें मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय (सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय) कहा गया है।

स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के व्यावहारिक दृष्टि से 10 प्रकार निरूपित हैं— 1—2. अधर्म को धर्म एवं धर्म को अधर्म श्रद्धा, 3—4. उन्मार्ग को सन्मार्ग एवं सन्मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धा, 5—6. अजीव को जीव तथा जीव को अजीव श्रद्धा, 7—8. असाधु को साधु तथा साधु को असाधु श्रद्धा, 9—10. अमुक्त को मुक्त तथा मुक्त को अमुक्त श्रद्धा। इनकी व्याख्या श्री लोढ़ा सा. ने अपने ढंग से की है। वे लिखते हैं कि वस्तु का स्वभाव धर्म

है और पर के संयोग से उत्पन्न हुई विभाव दशा अधर्म है। इस दृष्टि से सम्पत्ति, संतति, शक्ति, सत्ता, इन्द्रियाँ आदि के संयोग से मिलने वाला सुख विभाव है। इस सुख को स्वभाव मानना अधर्म है। इस सुख को जीवन मानना अधर्म को धर्म मानना है। इस सुख के लिए दूसरों का शोषण करना, धन का अपहरण करना, हिंसा, झूठ आदि पाप करना भी अधर्म है। इस अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है। इसी प्रकार करुणा, क्षमा, मैत्री आदि स्वभाव रूप धर्म को विभाव मानना धर्म को अधर्म मानने रूप मिथ्यात्व है। संभोग को समाधि का हेतु मानना, अतिभोग को मुक्ति का मार्ग मानना, प्रभावना के नाम पर सम्मान, सत्कार, पुरस्कार आदि से अपने मान, लोभ आदि कषायों का पोषण करना उन्मार्ग को सन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है। करुणा, दया, दान, वैयावृत्त्य, मृदुता, क्षमा आदि सत्प्रवृत्तियों को पुण्य-बंध का हेतु कहकर इन्हें संसार-परिभ्रमण का कारण मानना सन्मार्ग को उन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है। अपने को देह मानना जीव को अजीव मानने रूप मिथ्यात्व है और देह के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानना अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है। अपने को देह मान लेने से ही विषय-भोगों की इच्छा, राग-द्वेष, कामना, ममता, माया, लोभ आदि समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। असाधु को साधु मानने रूप मिथ्यात्व से आशय है विषय-भोगों में गृद्ध एवं परिग्रही को सुखी एवं श्रेष्ठ मानना तथा साधु को असाधु समझने का अभिप्राय है संयमी एवं वीतराग मार्ग के आचरणकर्ता को परावलम्बी, अनाथ एवं दुःखी समझना। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, परिस्थिति, सम्पत्ति, सत्ता, सत्कार, परिवार आदि पर के आश्रित व्यक्ति को मुक्त समझना अमुक्त को मुक्त समझने रूप मिथ्यात्व है तथा राग-द्वेष-मोह आदि विकारों से मुक्त को दुःखी एवं पराधीन समझना मुक्त को अमुक्त समझने रूप मिथ्यात्व है।

जब तक इन मिथ्या मान्यताओं का निराकरण नहीं होता तब तक सम्यग्दर्शन एवं वीतरागता की ओर चरण नहीं बढ़ते।

चारित्रमोहनीय कर्म के दो विभाग हैं— कषाय और नोकषाय। दर्शनमोहनीय के रहते जो संसार में आबद्ध रखने वाले प्रमुख भाव हैं वे कषाय हैं तथा इन कषायों के सहयोगी नोकषाय हैं। कषाय के 16 भेद हैं— 1-4. अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ, 5-8. अप्रत्याख्यानावरण

क्रोध, मान, माया एवं लोभ, 9—12. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, 13—16. संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। नोकषाय के 9 भेद हैं— 1. हास्य 2. रति 3. अरति 4. भय 5. शोक 6. जुगुप्सा 7. पुरुषवेद 8. स्त्रीवेद 9. नपुंसकवेद।

लोढ़ा साहब के अनुसार राग—द्वेष के उत्पन्न होने से चित्त का कुपित, क्षुब्ध या अशान्त होना क्रोध कषाय है। वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति से तादात्म्य होना, उनसे जुड़ जाना तथा उनसे अहंभाव होना मान कषाय है। अनित्य पर वस्तुओं के प्रति ममत्व या अपनेपन का सम्बन्ध होना माया कषाय है तथा प्राप्त वस्तु व परिस्थिति को बनाये रखने का भाव लोभ कषाय है। संग्रहवृत्ति लोभ की द्योतक है।

प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के भोग से संतुष्ट न होकर सुखभोग के लिए नवीन—नवीन वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि का अंत कभी नहीं हो उनको सदा बनाये रखने की इच्छा अनन्तानुबन्धी है। विषयसुख की दासता तथा लोलुपता में आबद्ध प्राणी द्वारा दुःखों से छूटने, असंयम को त्यागने अथवा कहें कि प्रत्याख्यान करने का भाव न होना अप्रत्याख्यानावरण है। विषयभोगों का पूर्ण त्याग कर संयमधारण न करना प्रत्याख्यानावरण कषाय है। विषयभोगों की स्फुरणा होना, उनके प्रति आकर्षण होना उनके राग की आग में जलना संज्वलन कषाय है। संक्षेप में अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि 16 भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

अपने सुख में बाधा उत्पन्न करने वाले के प्रति निरन्तर आजीवन वैरभाव रखना, उसे क्षमा न करना अनन्तानुबन्धी क्रोध है। क्रोध को त्यागने या कम करने का भाव उत्पन्न न होना अप्रत्याख्यानावरण क्रोध है। क्रोध को त्यागकर क्षमा व शान्ति धारण करने से प्रसन्नता, निश्चिन्तता, निर्भयता आदि सुखों की उपलब्धि होती है, यह जानते हुए भी क्षमा धारण न करना प्रत्याख्यानावरण क्रोध है। कामना उत्पत्ति से राग—द्वेष की आग का प्रज्वलित होना संज्वलन क्रोध है। देह, धन, बल, बुद्धि, विद्या आदि की उपलब्धि को ही अपना जीवन मानना तथा उन्हें अनन्तकाल तक बनाये रखने की अभिलाषा रखना अनन्तानुबन्धी मान है। मान के कारण उत्पन्न दीनता, गर्व, जड़ता, पराधीनता, हृदय की कठोरता आदि दुःखों की उपेक्षा

करना, उन्हें दूर करने का प्रयत्न न करना अप्रत्याख्यानावरण मान है। मान के त्याग से होने वाले मृदुता आदि गुणों के लिए प्रयत्नशील न होना, मान का त्याग न करना प्रत्याख्यानावरण मान कषाय है। मान की उत्पत्ति से दीनता और अभिमान की अग्नि में जलना संज्वलन मान है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, परिवार, धन—सम्पत्ति आदि सबको सदा अपना मानते रहना, ये सब मेरे बने रहें, इनका वियोग या अंत कभी न हो, यह भाव अनन्तानुबंधी माया है। माया दुःखकारी है, फिर भी उससे छूटने की अभिलाषा उत्पन्न न होना अप्रत्याख्यानावरण माया है। माया के त्याग से स्वाधीनता, सरलता आदि गुणों की उपलब्धि होती है, फिर भी माया का, ममता का त्याग न करना प्रत्याख्यानावरण माया है। माया या ममता की रुचि, उत्पत्ति एवं स्मृति से पराधीनता, विवशता की ज्वाला में जलना संज्वलन माया है। विषय सुख को जीवन मानकर उसके सुख की सामग्री जुटाने एवं उसे बनाये रखने में सदैव सन्नद्ध रहना अनन्तानुबंधी लोभ है। लोभ से होने वाले दुःखों से मुक्त होने की भावना न होना, इच्छाओं को सीमित करने का प्रयत्न न करना अप्रत्याख्यानावरण लोभ है। लोभ के त्याग से मिलने वाले संतोष, शान्ति, ऐश्वर्य आदि गुणों की प्राप्ति के लिए लोभ का त्याग न करना प्रत्याख्यानावरण लोभ है। लोभ की रुचि से उत्पन्न होने वाले अभाव, अतृप्ति, दरिद्रता के अनुभव की आग में जलना संज्वलन लोभ है।

हास्य, रति, अरति एवं शोक के पुस्तक में एकाधिक अर्थ दिए गए हैं। लोढ़ा सा. कहते हैं कि वर्तमान में हास्य कषाय का अर्थ हंसना किया जाता है जो आगम एवं कर्मसिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। उनके अनुसार हास्यादि के अर्थ इस प्रकार हैं—

वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की अनुकूलता का रुचिकर लगना रति है और इनकी प्रतिकूलता का अरुचिकर लगना अरति है। अनुकूलता में हर्ष होना हास्य है तथा प्रतिकूलता में खेद का होना शोक है। रति एवं हास्य का जोड़ा है तथा इसी प्रकार अरति एवं शोक का जोड़ा है। एक अन्य परिभाषा में उन्होंने कहा कि अनुकूलता का भोग रति है तथा रति से प्राप्त होने वाला हर्ष हास्य है। अनचाही वस्तु की भोग—प्रवृत्ति अरति है और उस भोग—प्रवृत्ति के समय होने वाला दुःखद अनुभव शोक है।

भय एवं जुगुप्सा का भी जोड़ा है। शरीर के रक्षण की इच्छा जुगुप्सा है तथा शरीर की हानि की आशंका भय है। जुगुप्सा का एक अर्थ मानसिक ग्लानि भी है। दुःख सभी को अप्रिय है, अतः दुःख आने का भय प्रायः सभी को होता है। नया दुःख न आ जाये यह आशंका भय है और आया हुआ दुःख जो कि अरुचिकर है उसका उपचार विचिकित्सा या जुगुप्सा है। जो प्राणी दुःख से घबराते हैं उन्हीं में भय और जुगुप्सा उत्पन्न होते हैं।

प्रचलित धारणा के अनुसार पुरुषवेद का तात्पर्य स्त्री के साथ संभोग की अभिलाषा, स्त्रीवेद का तात्पर्य पुरुष के साथ सहवास की इच्छा तथा नपुंसकवेद का आशय दोनों के साथ साहचर्य की कामना है। लोढ़ा सा. का मन्तव्य है कि वेद का यह प्रचलित अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि संसार में जितने भी जीव हैं, उनके हर क्षण किसी न किसी वेद का उदय होता है। उनके अनुसार कर्तृत्वभाव पुरुषवेद है, भोक्तृत्व भावना स्त्रीवेद है तथा दोनों की मिली-जुली भावना नपुंसक वेद है। उन्होंने दूसरा अर्थ भी दिया है, जिसके अनुसार जो स्वयं अपने पुरुषार्थ से प्रवृत्ति करते हैं वे पुरुषवेदी हैं, जो प्रवृत्ति करने में पर के आलम्बन की अपेक्षा रखते हैं वे स्त्रीवेदी हैं तथा जो कुछ भी करने में सक्षम नहीं हैं वे नपुंसकवेदी हैं।

आयुकर्म एक ऐसा कर्म है जो किसी जीव का एक भव में स्थितिकाल निर्धारित करता है। उदाहरणार्थ मनुष्यभवं में एक जीव आयुकर्म के अनुसार ही अमुककाल तक जीवित रहता है। लोढ़ा सा. ने आयुष्य को जीवनीशक्ति कहा है तथा आयुष्यबलप्राण उस जीवनीशक्ति का सूचक होता है। आयुकर्म चार प्रकार का है— नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु। नरकायु को पाप प्रकृति में तथा शेष तीन को पुण्य प्रकृति में सम्मिलित किया जाता है।

भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 9 के अनुसार नरकायु का बंध महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार एवं पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से होता है। महारम्भ एवं महापरिग्रह तृष्णा या लोभ के द्योतक हैं, अतः नरकायु के बंध का मुख्य हेतु लोभ कषाय है। तिर्यचायु में माया कषाय की प्रधानता होती है। मनुष्यायु बंध के हेतु हैं— प्रकृति से भद्रता, विनीतता, मृदुता,

ऋजुता, दयालुता, अमत्सरभाव और आरम्भ-परिग्रह की अल्पता। देवायु के बंध के कारण हैं— सरागसंयम, संयमासंयम, बालतप और अकाम निर्जरा।

आयुबन्ध प्रायः वर्तमान जीवन का दो तिहाई भाग व्यतीत होने के पश्चात् होता है। इसका तात्पर्य है कि प्राणी की जैसी प्रवृत्ति प्रगाढ़ हो जाती है तथा वह प्रकृति या आदत का रूप धारण कर लेती है तो उसके अनुरूप ही वह आगे का भव धारण करता है। आयुष्य कर्म जीवन में एक बार ही बंधता है, जबकि गति का बंध निरन्तर होता रहता है।

नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चारों गति भी हैं और आयु भी, किन्तु नरकगति एवं तिर्यचगति को जहाँ अशुभ एवं मनुष्य और देवगति को शुभ माना गया है वहाँ चार आयुओं में मात्र नरकायु को अशुभ तथा शेष तीन को शुभ स्वीकार किया गया है। आठ कर्मों की 148 प्रकृतियों में से तीन शुभ आयु ही ऐसी प्रकृतियाँ हैं, जिनकी स्थिति का बंध विशुद्धि भाव से होता है, शेष 145 प्रकृतियों का स्थिति बंध कषाय से होता है।

नामकर्म शरीर एवं उससे सम्बद्ध नाना रूपों का सूचक तो है ही, साथ ही तीर्थकर एवं यशःकीर्ति सदृश कर्मप्रकृतियों का भी प्रतिनिधित्व करता है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन तथा इनकी सक्रियता से सम्बन्धित है। इसमें गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संहनन, संस्थान आदि शरीर से सम्बद्ध प्रकृतियाँ भी परिगणित हैं तो आतप, उद्योत, उपघात, पराघात, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थकर नामकर्म जैसी विशिष्ट प्रकृतियाँ भी सम्मिलित हैं।

नामकर्म अघाती कर्म है। इसकी 36 पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का सम्बन्ध शरीर विज्ञान से है, यथा— 5 शरीर, 3 अंगोपांग, 6 संहनन, 6 संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आतप, उद्योत, उपघात, पराघात, अगुरुलघु, निर्माण, शुभ—अशुभ, स्थिर—अस्थिर, प्रत्येक और साधारण।

मन, वचन और तन की दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ नामकर्म का तथा इनकी सदप्रवृत्तियों से शुभ नामकर्म का बंध होता है।

पुस्तक में नामकर्म की अनेक प्रकृतियों के लक्षणों का लेखक ने मौलिक रीति से प्रतिपादन एवं विवेचन किया है। तदनुसार क्रूरता एवं

विषय—कषाय की अतिगृद्धता नारकीय गति की द्योतक एवं जनक है। प्राप्त विषय—भोग में गृद्धता एवं मूर्च्छा होने तथा उसी को जीवन मानने पर जड़ता जैसी स्थिति को तिर्यच गति कहते हैं। विषयभोग के दुःखद परिणाम को जानकर उससे छूटने एवं उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करने के साथ उदारता, करुणा, आत्मीयता आदि का व्यवहार मनुष्य गति का सूचक है। दिव्य सात्त्विक प्रकृति के सुखभोग में डूबे रहना, अपने विकास के लिए उद्यत न होना देवगति का सूचक है। प्रकारान्तर से कहें तो अप्राप्त अनेक वस्तुओं की कामना करने वाला घोर अभावग्रस्त जीव नरकगामी, प्राप्त वस्तुओं के भोगों की दासता में आबद्ध रहने वाला तिर्यचगामी, प्राप्त वस्तुओं का परोपकार या सेवा में सदुपयोग करने वाला देवगामी एवं प्राप्त विषय—भोगों का त्याग करने वाला जीव मुक्तिगामी होता है।

जन्म से इन्द्रियों की प्राप्ति के आधार पर जाति के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पाँच भेद किए जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव में मात्र स्पर्शनेन्द्रिय पायी जाती है। जब उसकी चेतना का विकास होता है तो वह द्वीन्द्रिय एवं फिर क्रमशः चेतना का विकास होने पर त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय बनता है। स्पर्शन का ही विकास रसना, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र में होता है।

ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव में ज्ञान एवं दर्शन की शक्ति बढ़ती है। इससे वह स्थूलतर, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पदार्थों के संवेदन रूप से ग्रहण करने एवं उन्हें जानने की क्षमता प्राप्त करता है। उस क्षमता की अभिव्यक्ति पाँच इन्द्रियों के क्रमिक विकास से प्रकट होती है।

नामकर्म की 93 प्रकृतियों में कुछ के लक्षण लोढ़ा सा. ने एकदम नये दिए हैं, उनका उल्लेख यहाँ अभिप्रेत हैं—

अगुरुलघु— शरीर में संतुलन रखने वाली थायराइड, एड्रीनल आदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को अगुरुलघु नामकर्म कह सकते हैं। निर्माण— शरीर में जब कहीं हड्डी टूट जाती है तो उसे पुनः जोड़ने, निर्माण करने का कार्य निर्माण प्रकृति करती है।

उपघात— अपने ही अंग द्वारा अपने शरीर को हानि पहुँचाना। आहार करने से शरीर बनने पर उसमें विजातीय पदार्थ उत्पन्न होना उपघात नामकर्म है। पराघात— शरीर की प्रतिरक्षात्मक शक्ति पराघात नामकर्म है।

अशुभता आपेक्षिक होती है। एकान्तरूप से किसी वर्ण को शुभ एवं अशुभ नहीं कहा जा सकता है। जो वर्ण किसी के लिए किसी समय शुभ होता है वही दूसरे के लिए अथवा अन्य समय में उसी के लिए अशुभ माना जाता है।

गोत्र कर्म का सम्बन्ध जन्म से प्राप्त गोत्र से नहीं और न ही उच्च एवं नीच कुल में जन्म लेने से है। वस्तुतः सदाचरण ही उच्च गोत्र का एवं दुराचरण ही नीच गोत्र का द्योतक है। सामान्यतया उत्तमकुल में जन्म लेना उच्च गोत्र एवं लोकनिंद्य कुल में जन्म लेना नीच गोत्र माना जाता है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र में विद्यमान हरिकेशी मुनि का प्रकरण इस तथ्य को स्पष्ट प्रतिपादित करता है कि लोकनिंद्य या नीच कुल में जन्म लेने से कोई नीचगोत्री नहीं होता, अपितु अपने निंद्य आचरण से वह नीच गोत्री होता है तथा साधु बन जाने पर वही उच्चगोत्री हो जाता है। लोढ़ा साहब के अनुसार व्यक्तित्व के मोह या अहंभाव रूप मद से ग्रस्त व्यक्ति हीनता—दीनता—दासता एवं परतन्त्रता में आबद्ध रहता है। दासता या परतन्त्रता में आबद्ध रहना ही नीचगोत्र का उदय है तथा इस दासता पर विजय प्राप्त करना एवं इससे स्वतंत्र होना ही उच्चगोत्र का प्रतीक है।

लोढ़ा साहब लिखते हैं—भूमि, भवन आदि जड़, विनाशी एवं पर वस्तुओं के आधार पर अपना मूल्यांकन करना दीनता का सूचक है। नीच गोत्र का द्योतक है तथा भोग से ऊपर उठना अर्थात् साधुत्व का होना उच्चगोत्र है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों का आच्छादन, असद्गुणों का प्रकाशन— ये नीच गोत्र के बंध हेतु हैं। इसके विपरीत पर—प्रशंसा, आत्मनिन्दा, दूसरों के सद्गुणों का प्रकाशन एवं निरभिमानता उच्चगोत्र के बंध हेतु हैं।

गोत्र कर्म के साथ मद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो रूप, धन, बल, तप, श्रुत आदि का मद करता है वह नीच गोत्र का उपार्जन करता है तथा जो इनका मद नहीं करता है वह उच्चगोत्र का उपार्जन करता है। गोत्र कर्म का जब पूर्णक्षय हो जाता है तो अगुरुलघु गुण प्रकट होता है। गोत्रकर्म पुद्गलविपाकी, भवविपाकी एवं क्षेत्रविपाकी नहीं है, अपितु जीवविपाकी है, जीव विपाकी होने से इसका सम्बन्ध जीव के भावों से है, शरीर की

सुन्दरता—असुन्दरता से नहीं, जन्म किस घर हुआ इससे भी नहीं तथा किस आर्य—अनार्य क्षेत्र में हुआ, इससे भी नहीं।

अन्तरायकर्म के सम्बन्ध में लोढा साहब ने सर्वथा नूतन चिन्तन दिया है, जो इस कर्म से सम्बद्ध अनेक विसंगतियों का निराकरण करता है। अन्तराय का अर्थ है विघ्न। अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं— दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। सामान्यतः यह माना जाता है कि दान देने में विघ्न दानान्तराय, आहारादि का लाभ मिलने में विघ्न लाभान्तराय, भोग में बाधा भोगान्तराय, उपभोग में बाधा उपभोगान्तराय तथा पुरुषार्थ करने में विघ्न वीर्यान्तराय कर्म है। ये अर्थ अनेक विसंगतियों से युक्त हैं, क्योंकि जो इन कर्मों से रहित अरिहन्त होते हैं उनके कौनसा दान, लाभ, भोग एवं उपभोग होता है जो दानान्तराय आदि के क्षय से प्राप्त होता है। वहाँ तो अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग एवं अनन्तवीर्य होते हैं जो उपर्युक्त अर्थों को मानने पर घटित नहीं हो पाते हैं। अरिहन्त अनन्तदान किस प्रकार करते हैं? उन्हें अनन्त लाभ किस प्रकार होता है? इसी प्रकार अनन्त भोग एवं उपभोग उनमें किस रूप में घटित होते हैं? अनन्तवीर्य तो उनमें पुरुषार्थ की पराकाष्ठा के कारण स्वीकार किया जा सकता है।

प्रबुद्ध लेखक श्री लोढा साहब ने दान का अर्थ उदारता स्वीकार किया है, अतः वे उदारता के अभाव और स्वार्थपरता को दानान्तराय मानते हैं। दानान्तराय के होने पर दान देने की भावना नहीं जगती। उदारता की उदात्त भावना का होना दानान्तराय का क्षयोपशम है तथा उदारता का परिपूर्ण हो जाना दानान्तराय का क्षय है। अनन्तदानी पुरुष शरीर, बुद्धि, ज्ञान, बल, योग्यता आदि अपना सर्वस्व जगत् के हित के लिए समर्पित कर देता है, अपने सुखभोग के लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखता है। वीतराग क्री-अनन्त करुणा, अनन्त मैत्रीभाव एवं अनन्त वत्सलता अनन्तदान के ही विभिन्न रूप हैं।

कामना—अपूर्ति की अवस्था में अभाव का अनुभव होना ही लाभान्तराय है। कामना के न रहने पर कुछ भी अभाव एवं प्राप्त करना शेष नहीं रहता है। अभाव एवं प्राप्त करना शेष न रहना ही सच्ची समृद्धि एवं सम्पन्नता है। जहाँ वीतरागता है वहाँ कामनाओं का अभाव है, अतः वहाँ अनन्त लाभ

है। अनन्त लाभ इसलिए है कि वहाँ कुछ भी प्राप्त करना एवं अभाव शेष नहीं रहता है।

भोगान्तराय में भोग शब्द का अर्थ बाह्य विषयभोग न होकर अनन्त सौन्दर्य है। निज स्वभाव के सुख की बाधक इच्छा ही भोगान्तराय है। भोगान्तराय के पूर्ण क्षय से अनन्त भोग अर्थात् अनन्त सौन्दर्य प्रकट होता है। अनन्त रसरूप जीवन ही अनन्त भोग अथवा अनन्त सौन्दर्य की उपलब्धि है। यह विषयसुख के भोग के त्याग से ही प्राप्य है। वीतराग का जीवन निर्विकार होता है, निर्विकारता में ही अनन्त सौन्दर्य है, अनन्त भोग है।

आत्मिक भोग—जन्य सुख का बार—बार या निरन्तर मिलते रहना उपभोग है, माधुर्य है। इसमें बाधा उत्पन्न होना उपभोगान्तराय है। सबके प्रति मैत्री एवं प्रेम का रस नित नूतन बना रहता है। यह क्षति, निवृत्ति, अपूर्ति, तृप्ति एवं अतृप्ति से रहित विलक्षण रस या सुख है। यही अनन्त उपभोग है।

वीर्य शब्द सामर्थ्य का द्योतक है। वीतराग केवली अनन्त सामर्थ्यवान् हैं, यद्यपि वे अपने से भिन्न शरीर, संसार आदि को बनाने या बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं, किसी का मरण टालने, आयु बढ़ाने, किसी के कर्म काटने में भी वे समर्थ नहीं हैं, किन्तु अपने लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करने में पूर्ण समर्थ है इसके लिए उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं है, अतः उनके लेशमात्र भी अन्तराय कर्म का उदय नहीं रहता है। दोषों को त्यागने का सामर्थ्य ही वीर्य है। वीतराग ऐसे अनन्तवीर्य से युक्त होते हैं।

घर—सम्पत्ति आदि की प्राप्ति को लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना तथा विषय—भोगों की सामग्री को भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना कर्म—सिद्धान्त एवं आगम से सम्मत नहीं है। यदि लाभान्तराय, भोगान्तराय आदि के क्षयोपशम एवं क्षय से घर—सम्पत्ति एवं भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति हो तो यथाख्यात चारित्रवान् साधक के इनकी प्राप्ति सबसे अधिक होनी चाहिए, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। विषय—भोग दोष है, फिर उसकी पूर्ति में सहायक सामग्री की उपलब्धि को अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना भयंकर भूल है।

दानान्तराय आदि पाँच अन्तरायों में जितने अंशों में कमी होती जाती है उतने ही अंशों में उदारता, निर्लोभता, ऋजुता, निर्विकारता, निर्दोषता, माधुर्य एवं सामर्थ्य की प्राप्ति होती जाती है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय— इन चारों घाती कर्मों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से किसी भी एक कर्म का क्षयोपशम, उदय और बंध होते ही शेष तीनों घाती कर्मों का क्षयोपशम, बंध और उदय प्रायः स्वतः होता है। इन चारों कर्मों में प्रमुख मोहनीय कर्म है। उसके कारण ही अन्य तीन कर्मों का बंध होता है। मोह में क्षयोपशम होने पर अन्य तीन कर्मों का क्षयोपशम होता है तथा मोह का क्षय होने पर शेष तीन घाती कर्मों का भी क्षय हो जाता है। जितनी राग—द्वेष—मोह में कमी होती है उतने ही विकल्प घटते हैं। विकल्पों के घटने से निर्विकल्पता आती है, जो दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। विकल्पों के घटने से चित्त शान्त होता है, शान्त चित्त में विचार का उदय होता है, ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है अर्थात् ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। मोह—राग—द्वेष के घटने से वस्तुओं को पाने की कामना तथा भोग करने की इच्छा कम होती है। इच्छाएं जितनी कम होती हैं, उतना ही अभाव का अनुभव कम होता है। अभाव का कम अनुभव होना अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

बंधतत्त्व के विवेचन के निमित्त से जैन कर्म—सिद्धान्त की अनेक मान्यताओं का इस पुस्तक में पुनरीक्षण हो गया है। कर्म—सिद्धान्त विषयक कई भ्रान्तियाँ निराकृत हुई हैं तथा कर्म—प्रकृतियों के नूतन अर्थ प्रस्फुटित हुए हैं। इन अर्थों में श्रद्धेय लोढ़ा साहब की साधना एवं विचारशीलता की स्पष्ट छाप दृग्गोचर होती है। आशा है पाठक इससे लाभान्वित होंगे तथा विद्वज्जगत् में भी यह पुस्तक अनेक नवीन स्थापनाओं को जन्म देने में सक्षम बनेगी एवं विद्वान् प्रचलित असंगत अर्थों का निराकरण अनुभव कर विचार के क्षेत्र में एक कदम आगे रख सकेंगे।

यह पुस्तक जैन दर्शन के कर्म—सिद्धान्त विषयक विवेचन के क्षेत्र में एक नवीन चरण—निक्षेप है, जिसका आशा है विद्वज्जन स्वागत करेंगे।

— धर्मचन्द जैन

ज्ञानावरण कर्म

ज्ञानावरण कर्म का स्वरूप

जैन-दर्शन में कर्म आठ हैं। इनमें ज्ञानावरण कर्म पहला है। 'ज्ञानावरण' शब्द 'ज्ञान' और 'आवरण' इन दो शब्दों से बना है, जिसका अर्थ है, ज्ञान पर आवरण आना। जो वस्तु विद्यमान हो उसे ढक देना, प्रकट न होने देना, आवरण है। जैसे सूर्य है, परन्तु बादलों के आ जाने से वह दिखाई नहीं देता है, उसकी प्रभा पूर्ण प्रकट नहीं होती है। बादल सूर्य व उसकी प्रभा पर आवरण है। इसी प्रकार ज्ञान गुण की प्रभा प्रकट न होना अर्थात् ज्ञान का पूर्ण प्रभाव (प्रभा) न होना, ज्ञानावरण है। यदि वस्तु का अभाव हो तो उस पर आवरण नहीं हो सकता। ज्ञान की विद्यमानता के अभाव में ज्ञान पर आवरण नहीं आ सकता अर्थात् प्राणिमात्र में ज्ञान सदैव विद्यमान है। वह है जीव का निज ज्ञान, स्वभाव का ज्ञान, स्वाभाविक ज्ञान। स्वाभाविक ज्ञान का अभाव जीव को कभी नहीं हो सकता। स्वभाव का ज्ञान सभी जीवों को सदैव ज्यों का त्यों रहता है, केवल उस पर आवरण आता है।

ज्ञान और दर्शन— ये दोनों जीव के मुख्य लक्षण हैं, जीव के स्वभाव हैं। स्वभाव का नाश कभी नहीं होता। यदि स्वभाव का नाश हो जाय, तो वस्तु का अभाव हो जाय अर्थात् ज्ञान और दर्शन गुण के अभाव में जीव जीव न रहकर अजीव हो जायेगा। इसलिये जीव में ज्ञान व दर्शन गुण सदैव ज्यों के त्यों रहते हैं। इन पर न्यूनाधिक आवरण आने से इनकी प्रभा या प्रभाव न्यूनाधिक होता रहता है।

ज्ञान पर आवरण होता है— मोह रूप बादल के कारण। अतः जितना—जितना मोह घनीभूत होता जाता है, उतना—उतना ज्ञान को ढकने वाला आवरण भी घनीभूत होता जाता है। जितना मोह घटता जाता है, उतना ज्ञान का आवरण घटता जाता है। यही कारण है कि जीव साधना करते समय जितना मोह का उपशम व क्षय करता है, उतना ही गुणस्थान

आरोहण करता जाता है और उतना ही ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि ज्ञान के आवरण का तथा ज्ञान गुण के घटने-बढ़ने का सम्बन्ध मोह के घटने-बढ़ने से है। ज्ञान गुण की न्यूनाधिकता का सम्बन्ध बाह्य जगत् की वस्तुओं को अधिक या कम जानने से नहीं है, कारण कि गुणस्थान चढ़ते समय कोई साधक बाह्य जगत् गणित, खगोल, भूगोल आदि को अधिक जानने लगता हो तथा गुणस्थान उतरते समय इनका ज्ञान कम हो जाता हो, ऐसा नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य वस्तुओं, भाषा, साहित्य, विज्ञान, कला, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित, खगोल, भूगोल आदि के जानने या न जानने से ज्ञानावरणीय कर्म की न्यूनाधिकतता का अंकन व मापन नहीं किया जा सकता। आज इन विषयों का जितना विशद ज्ञान महाविद्यालय के सामान्य छात्र को है, उतना प्राचीनकाल के ख्यातिप्राप्त विद्वानों को भी नहीं था। कारण कि इसकी साधकों को आवश्यकता भी नहीं थी। यही नहीं, साधुओं को इन विषयों का अध्ययन बहिर्मुखी ही बनाता है, अन्तर्मुखी बनाने में सहायक नहीं होता है। अतः यह जिज्ञासा होती है कि फिर ज्ञानावरणीय कर्म क्या है? इसका क्षयोपशम, क्षय व बन्ध कैसे व क्यों होता है? इसी का विवेचन आगे किया जा रहा है।

कर्म-सिद्धान्त में ज्ञान पर आवरण आने को ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय कर्म कहा है। ज्ञान के पाँच भेद हैं :—1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनःपर्यवज्ञान और 5. केवलज्ञान।

मतिज्ञान एवं मतिज्ञानावरण

मतिज्ञान को आगम में आभिनिबोधक ज्ञान कहा है। आभिनिबोधक की निर्युक्ति करते हुए कहा है— अर्थाभिमुखो नियतो यो बोधः स अभिनिबोधः, अभिनिबोध एव आभिनिबोधकम्। अर्थात् इन्द्रिय और मन के अभिमुख-सम्मुख आए पदार्थ को जानना मतिज्ञान अथवा आभिनिबोधक ज्ञान कहलाता है। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना व स्पर्शन इन्द्रियों एवं मन का संपर्क व सम्बन्ध होने पर शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि के विषय में यह जानना कि कुछ है 'अवग्रह', क्या है 'ईहा', यह है 'अवाय' और यही है ऐसा दृढ़ हो जाना 'धारणा' मतिज्ञान है। इस प्रकार पाँच इन्द्रिय व मन इनके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा से होने वाला ज्ञान, मतिज्ञान है। मतिज्ञान का और भी

व्यापक स्वरूप है, जिसके अनुसार इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान भी मतिज्ञान के ही रूप हैं। इस पर आवरण आना मति ज्ञानावरण है।

इन्द्रिय और मन से इनके सम्मुख आए दृश्य जगत के पदार्थों के विषय में जानकारी के लिए ऊहापोह करना, विचार-विमर्श करना, अन्वेषण-गवेषण करना, स्मरण करना, चिंतन करना आदि समस्त जानकारी अभिनिबोधक व मतिज्ञान में ही गर्भित हैं। भाषा, साहित्य, वाणिज्य, कला, आदि समस्त दृश्यमान (रूपी) जगत से संबंधित ज्ञान मतिज्ञान है एवं मतिज्ञान की उपयोगिता का विस्तार है। ज्ञान गुण की उपयोगिता के बढ़ने, घटने व अभाव होने से ज्ञान गुण घटता-बढ़ता नहीं है, उदाहरणार्थ:- कोई व्यक्ति अपने चक्षु से वस्तुओं को देख रहा है अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय मतिज्ञान का उपयोग कर रहा है। इस समय इसके श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय आदि अन्य इन्द्रियों के मतिज्ञान का, श्रुतज्ञान का, दर्शन का अंश मात्र भी उपयोग नहीं हो रहा है। उपयोग नहीं होने से, उपयोग का अभाव होने से, इसके श्रोत्रेन्द्रिय मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, दर्शन आदि गुणों का अभाव हो जाता हो, सो नहीं है। इन गुणों का आवरण घट-बढ़ जाता हो, ऐसी बात भी नहीं है। उसे चक्षुइन्द्रिय से अधिक स्पष्ट दिखने से, अधिक संख्या में वस्तुओं के दिखने से उसके चक्षुइन्द्रिय मतिज्ञान के आवरण में कमी हो गई हो, उसका क्षयोपशम बढ़ गया हो, ऐसा भी नहीं है। यदि वस्तुओं के दिखने में या अधिक वस्तुएँ दिखने में मतिज्ञान का क्षयोपशम कारण माना जाय, तो चक्षु-मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का हेतु ऐनक हो जायेगा क्योंकि ऐनक से अधिक दिखने लगता है, ऐनक हटाने से दिखना बन्द व मंद हो जाता है। अतः ऐनक जैसे जड़ पदार्थ को ज्ञान गुण के क्षयोपशम का कारण मानना होगा, जो उचित नहीं है। कारण कि ज्ञान आत्मा का गुण है। इस गुण की वृद्धि व ह्रास ऐनक- लेंस जैसी बाह्य व जड़ वस्तु पर निर्भर मानना, जड़ को चेतन के गुणों को उत्पन्न करने वाला मानना होगा, जो न तो आगम सम्मत है, न कर्म-सिद्धान्त सम्मत है और न युक्तियुक्त है। तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति दृश्यमान जगत से संबंधित साहित्य, वाणिज्य, कला, विज्ञान आदि विषयों में पी-एच.डी. या डी.लिट् हो जाये, तो इसका सम्बन्ध ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता व अधिकता से नहीं है।

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम व क्षय होता है ज्ञान का आदर करने से अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान श्रुतज्ञान के अनुरूप आचरण कर कषाय को क्षीण करने से, चारित्र मोहनीय कर्म को क्षीण करने से, चारित्र की शुद्धि से। इसलिए कोई व्यक्ति भूगोल, खगोल, गणित, इतिहास, साहित्य, कला, विज्ञान आदि विषयों को न जाने या बहुत जान ले, इससे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होने वाले ज्ञान गुण में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, ज्ञान गुण घटता-बढ़ता नहीं है। वर्तमान में इन विषयों का जितना ज्ञान है, कुछ शताब्दी पूर्व तक इसका शतांश भी ज्ञान किसी को नहीं था। इससे यह मान लेना कि वर्तमान में पहले से ज्ञान सैकड़ों गुना अधिक बढ़ गया है, भूल है। ज्ञान नहीं बढ़ा है, इन्द्रियज्ञान का उपयोग घटता-बढ़ता है। क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का गुण है। गुण की वृद्धि कभी अहितकर नहीं हो सकती। जिस ज्ञान से विषय-कषाय, राग-द्वेष-मोह में वृद्धि हो, वह ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, अपितु ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, ज्ञान का अनादर है। जिस ज्ञान से विषय भोगों की रुचि जगे, आरंभ-परिग्रह की वृद्धि हो, काम, क्रोध, मद, लोभ, अहं का पोषण हो, वह ज्ञान के अनादर का फल है, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का फल नहीं है, औदयिक भाव है। अतः विषय-कषायवर्धक ज्ञान को ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम मानना, युक्तिसंगत नहीं है।

श्रुतज्ञान एवं श्रुतज्ञानावरण

श्रूयते आत्मना तदिति श्रुतं (विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति, गाथा 81) अर्थात् अपने आप से सुनना श्रुत है। कहा भी है— श्रुतमनिन्द्रियस्य (तत्त्वार्थ सूत्र अ. 2 सूत्र 22) अर्थात् श्रुतज्ञान इन्द्रिय का विषय नहीं है। अतः इसका श्रोत्रेन्द्रिय से सुनाई देने वाले अक्षर, शब्द आदि से सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध निज स्वभाव के स्वाभाविक ज्ञान से है, यथा— प्राणिमात्र को स्वभाव से ही अमरत्व (ध्रुवत्व), स्वाधीनता, प्रसन्नता आदि सिद्धों के गुण इष्ट हैं। यह ज्ञान स्वयं सिद्ध है, निज ज्ञान है। यह किसी पुरुष की देन नहीं है, अतः अपौरुषेय है। इसे श्रुति या वेद ज्ञान भी कहा जा सकता है। इसका कार्य है मतिज्ञान के द्वारा ज्ञात विषयों में हेय-उपादेय का, इष्ट-अनिष्ट का निर्णय करना। इस पर आवरण आना—इसका प्रभाव न होना, श्रुतज्ञानावरण है। प्रकारान्तर से कहें तो जो

इन्द्रिय और मन का जाना हुआ तथा देखा हुआ ज्ञान नहीं है, वह श्रुतज्ञान है। अर्थात् जिस ज्ञान में स्वभाव का, स्वरूप का, सिद्धत्व का ज्ञान निहित है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान प्राणिमात्र को सदैव, सर्वत्र रहता है। जैनागमों में जीव के स्वभाव, स्वरूप, सिद्धत्व का ज्ञान निहित है, अतः आगमों को श्रुतज्ञान निबद्ध कहा गया है। तात्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान, श्रोत्रेन्द्रिय से संबंधित नहीं है क्योंकि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जिन जीवों के श्रोत्रेन्द्रिय (कान) नहीं है, ऐसे जीवों के भी श्रुतज्ञान (मिथ्यात्व युक्त होने से श्रुत अज्ञान) होना कहा गया है। मतिज्ञानजन्य इन्द्रिय विषयों के भोगों के सुख (आसक्ति व प्रलोभन) रूप विकारों से मुक्त होने के लिए ही श्रुतज्ञान की उपचार रूप में आवश्यकता होती है। मतिज्ञान का प्रभाव जन्य विषय सुख लोलुपता नहीं हो तो श्रुतज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती है, इसीलिए श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक कहा है। मतिज्ञान के प्रभाव का अन्त होते ही श्रुतज्ञान केवलज्ञान में लीन हो जाता है।

श्रुतज्ञान सभी प्राणियों को सर्वदा, सर्वत्र एक समान होता है। इस ज्ञान में एकता होती है, भेद व भिन्नता नहीं होती। श्रुतज्ञान में जो भेद व भिन्नता दिखाई देती है वह श्रुतज्ञान के प्रभाव की न्यूनाधिकता की द्योतक है। श्रुतज्ञान जब पूर्ण प्रकट हो जाता है, तब केवलज्ञान हो जाता है।

श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में अन्तर केवल यह होता है कि जब यह ज्ञान माँग के रूप में होता है, अनुभव के रूप में नहीं होता तब श्रुतज्ञान कहा जाता है। अनुभव के रूप में नहीं होने से इसे परोक्ष ज्ञान कहा है और जब माँग की पूर्ति होकर श्रुतज्ञान पूर्ण अनुभव के बोध के रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है, तब केवलज्ञान कहलाता है।

संक्षेप में कहें तो स्वभाव-विभाव का, गुण-दोष का, हेय-उपादेय का ज्ञान ही श्रुतज्ञान है और स्वभाव के ज्ञान का प्रभाव प्राणी पर न होना अर्थात् आचरण में नहीं आना अनादर होना श्रुत ज्ञानावरण कर्म है। इसी से विभाव अर्थात् राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि दोष उत्पन्न होते हैं, जिन्हें चारित्र मोहनीय कहा गया है। प्राणी जितना-जितना स्वभाव के अनुरूप आचरण करता है, उतना-उतना ही चारित्र मोहनीय अर्थात् कषाय क्षीण होता (घटता) जाता है, जिससे चारित्र गुण बढ़ता जाता है और गुणस्थान आरोहण होता जाता है। जब जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान के अनुरूप

आचरण करता हुआ कषाय का ह्रास करता है और दशवें गुणस्थान पर पहुँचता है, तब वहाँ सूक्ष्म संपराय अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म कषाय संज्वलन लोभ का उदय रह जाता है, जो ज्ञान के प्रभाव की पूर्णता में कमी रहने का अर्थात् चारित्र की अपूर्णता का द्योतक है, इसलिए यहाँ तक ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। जब राग के उदय का पूर्ण अभाव हो जाता है, तब ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है। वीतराग अवस्था प्रकट हो जाती है और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

यह नियम है कि जितना— जितना ज्ञान गुण का प्रभाव होता जाता है, उतना—उतना ज्ञान के अनुरूप आचरण होता जाता है अर्थात् विभाव घटता जाता है, स्वभाव प्रकट होता जाता है। स्वभाव का प्रकट होना ही चारित्र में वृद्धि होना है। चारित्र में वृद्धि होकर चारित्र की पूर्णता हो जाती है, तब ज्ञानावरणीय आदि कर्म नहीं बंधते हैं। पूर्णता में तरतमता, न्यूनाधिकता नहीं होती है। इसीलिए यथाख्यात चारित्र का पज्जव (पर्याय—अवस्था) एक ही होता है। (भगवती सूत्र शतक 25 उद्देशक 7 में चारित्रिक पज्जव में यथाख्यात चारित्र का एक पज्जव कहा है।) यथाख्यात चारित्र मोहनीय कर्म की अनुदय अवस्था अर्थात् उपशान्त मोहनीय या क्षीण मोहनीय की अवस्था है। अशुभ योग (प्रवृत्ति) की पूर्ण निवृत्ति और शुभ योग में स्वतः प्रवृत्ति ही चारित्र की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में कहें तो संयम का, समिति—गुप्ति का पूर्ण पालन करना ही चारित्र की पूर्णता है। इसलिए जिन्हें केवल पाँच समिति— तीन गुप्ति का ज्ञान है, वे भी अपने इस ज्ञान का पूर्ण आदर कर बारहवें गुणस्थान क्षीण मोहनीय में पहुँच जाते हैं और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अभिप्राय यह है कि मुक्ति—प्राप्ति के लक्ष्य वाले साधक के लिए जानकारी से अधिक महत्त्व ज्ञान के अनुरूप आचरण करने का है। ज्ञान के अनुरूप आचरण करने से ज्ञानावरणीय तथा मोहनीय कर्म क्षीण होता है, जिससे सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र होता है। चारित्र की पूर्णता में ही वीतरागता है। वीतरागता का फल मुक्ति है। अभी मिथ्यात्वी जीव भी नौ पूर्व का ज्ञान कर लेता है, परन्तु उस ज्ञान का प्रभाव उस पर नहीं होता है अर्थात् वह उस ज्ञान को अपने आचरण में नहीं लाता है। अतः नौ पूर्व का ज्ञान होने पर भी वह पहले गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट ज्ञान गुण मिथ्यात्व

के कारण अज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। इससे उसके ज्ञान गुण का उपयोग ही बढ़ा, क्षयोपशम नहीं बढ़ा। जबकि केवल पाँच समिति—तीन गुप्ति का ज्ञान रखने वाला, उस ज्ञान को अपने आचरण में लाकर वीतराग केवली हो जाता है। अतः महत्त्व ज्ञान के आचरण का है।

रागग्रस्त प्राणी विषय—सुख की दासता में आबद्ध होकर अपने ज्ञान का अनादर करता है अर्थात् ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करता है, उसके जीवन में अपने ज्ञान की प्रभा या प्रभाव प्रकट नहीं होता है अर्थात् उसके ज्ञान पर आवरण रहता है। परन्तु जैसे—जैसे राग में कमी आती जाती है, वैसे—वैसे ज्ञान के अनुरूप आचरण होने लगता है, जिससे ज्ञान के प्रभाव रूप प्रभा जीवन में प्रकट होने लगती है। ज्ञान और जीवन में भिन्नता व दूरी कम होने लगती है अर्थात् ज्ञान का आवरण हटता जाता है। ज्ञान और जीवन में एकता आती जाती है। अर्थात् ज्ञान के अनुरूप आचरण होता जाता है। राग का सर्वथा अभाव हो जाने पर, वीतराग होने पर, ज्ञान के अनुरूप पूर्ण आचरण हो जाता है। फिर ज्ञान और आचरण में, ज्ञान और जीवन में भिन्नता, भेद व दूरी नहीं रहती है, अर्थात् ज्ञान का आवरण पूर्ण हटकर ज्ञान की पूर्ण प्रभा व प्रभाव सदा के लिए प्रकट हो जाता है। यह ज्ञान राग आदि दोषों व विकृतियों से रहित होने से शुद्ध ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान रूप होता है तथा पूर्ण व सदा के लिए होने से अनन्त ज्ञान रूप होता है।

अथवा यों कहें कि जब तक विषय सुख भोगने का राग है, तब तक ही संसार से कुछ पाना व करना शेष रहता है। राग रहित होने पर न तो शरीर, इन्द्रिय, संसार से सुख भोगना शेष रहता है और न कुछ पाना शेष रहता है। भोगना व पाना शेष नहीं रहने पर करना शेष नहीं रहता है। भोगना, पाना व करना शेष न रहने पर जानना शेष नहीं रहता। कारण कि जिस गाँव जाना ही नहीं, उस गाँव का रास्ता जानना व्यर्थ है, निष्प्रयोजन है। यदि निष्प्रयोजन रास्ता जानना उचित व आवश्यक होता तो संसार के करोड़ों गाँवों के रास्तों का ज्ञान करना होता। परन्तु ऐसा नहीं होता है। आशय यह है कि वीतराग को कुछ जानना शेष नहीं रहता अतः वह सर्वज्ञ होता है। अशेष ज्ञान पूर्ण ज्ञान होता है। यह पूर्ण ज्ञान अन्त रहित होता है, अनन्त ज्ञान होता है।

वीतराग का ज्ञान निज ज्ञान होता है। सुना हुआ, पढ़ा हुआ, पराया ज्ञान नहीं होता अर्थात् स्वयंसिद्ध ज्ञान होता है। यह नियम है कि स्वयं ज्ञान या स्वयं सिद्धि रूप ज्ञान सार्वलौकिक व त्रैकालिक होता है। लोक में आबद्ध न होने से सार्वलौकिक या अलौकिक होता है। वह तीनों कालों में समान रूप से एके—सा होता है। वह कालातीत होता है। उसमें परिवर्तन नहीं होता है। जैसे पराधीनता, मृत्यु, दुःख एवं रोग बुरा है तथा स्वाधीनता, अमरत्व, सुख एवं आरोग्य अच्छा है, अभीष्ट है, यह ज्ञान स्वयं सिद्ध होने से तीनों लोकों व तीनों कालों में समान रूप से रहता है। यह ज्ञान पुरातन, अद्यतन, नूतन न होकर सनातन व शाश्वत होता है। अतः यह त्रिकालवर्ती होता है। अविनाशी या अन्तरहित होने से यह ज्ञान अनन्त ज्ञान है।

श्रुतज्ञान से केवलज्ञान का प्रकटीकरण

सारांश यह है कि अनन्त ज्ञान या केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण श्रुतज्ञान ही है, अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान नहीं है। अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान के अभाव में भी केवलज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में जातीय एकता है और गुणों की भिन्नता है क्योंकि श्रुतज्ञान और केवलज्ञान, ये दोनों जीव के स्वभाव के, साध्य के, सिद्ध अवस्था के सूचक हैं, अतः इनमें जातीय एकता है। गुण की दृष्टि से केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में यह अन्तर है कि केवलज्ञान में श्रुतज्ञान के अनुरूप पूर्ण शुद्ध आचरण होता है, अनुभव होता है, दर्शन होता है अर्थात् केवल दर्शन होता है जबकि श्रुतज्ञान में ज्ञान के अनुरूप आंशिक आचरण होता है, परन्तु दर्शन नहीं होता है। जैसा कि कहा है—

सुदणाणं केवलं च दोष्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।

सुद णाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं ॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 369

श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं, परन्तु श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। यही तथ्य श्वेताम्बर आगम नन्दीसूत्र आदि में भी उपलब्ध है। आशय यह है कि श्रुतज्ञान में साध्य की उपलब्धि की माँग होती है जबकि केवलज्ञान में उसकी उपलब्धि व अनुभूति होती है। जैसा कि नन्दीसूत्र में कहा है कि श्रुतज्ञानी केवल जानता है और केवलज्ञानी जानता भी है और देखता भी है।

श्रुतज्ञान और इसका माहात्म्य

मतिज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों में साधक के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान के पश्चात् होता है। मतिज्ञान है इन्द्रिय और मन के माध्यम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। कान से शब्द, आँख से रंग, नाक से गंध, जीभ से रस, स्पर्श से शीत, उष्ण, कोमल, कठोर आदि विषयों का ज्ञान होता है। इसी इन्द्रिय ज्ञान के प्रति मनोज्ञ—अमनोज्ञ भाव पैदा होता है। मनोज्ञ विषयों के प्रति भोग की रुचि व राग और अमनोज्ञ विषयों के प्रति अरुचि व द्वेष उत्पन्न होता है। यही राग—द्वेष समस्त दोषों, कर्मबंध एवं संसार—परिभ्रमण का कारण है।

मतिज्ञान से जिन विषयों की जानकारी हुई, उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष व निर्णय दो दृष्टियों से होता है, जिन्हें क्रमशः श्रुत अज्ञान एवं श्रुतज्ञान कहा जा सकता है। जो इस प्रकार है—प्रथम दृष्टि यह है कि मतिज्ञान से जिन विषयों को जाना है, उनका सुनना, दिखना, खाना, पीना आदि विषयों के भोग में ही सुख है, सुख इन्द्रियों और मन से संबंधित भोग भोगने से ही मिलता है, भोगों का सुख ही जीवन है, भोग्य पदार्थ सुन्दर, स्थायी व सुखद है। इस सुख के बिना जीवन व्यर्थ है, अतः भोगों के सुख को सुरक्षित रखना व संवर्धन करना है। इस ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है। इस मिथ्यात्व—युक्त श्रुतज्ञान को श्रुतअज्ञान कहा है, क्योंकि इस श्रुत अज्ञान के रहते इन्द्रिय व मन से जिन विषयों का ज्ञान होता है, उससे भोग की इच्छा जागृत होती है, तथा वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के प्रति ममता, कामना, राग—द्वेष पैदा होते हैं एवं देहाभिमान पुष्ट होता है। इस श्रुतअज्ञान के कारण अवधिज्ञान में भी जिन रूपी पदार्थों का साक्षात्कार होता है उनके प्रति भी कामना, ममता, राग—द्वेष आदि पैदा होते हैं, इसलिये वह विभंगज्ञान कहा जाता है। श्रुतअज्ञान जिस मतिज्ञान व अवधिज्ञान के साथ होता है, वह ज्ञान विषय—कषाय की वृद्धि करने वाला होता है। अतः जीव के लिये अहितकर होता है। जिस ज्ञान से जीव का अहित हो, उसे आगम में अज्ञान व मिथ्यादर्शन कहा है।

द्वितीय दृष्टि यह है कि मतिज्ञान ने इन्द्रियों के जिन विषयों को जाना है, उन विषयों के भोग से जिस सुख की प्रतीति होती है, वह सुख क्षणिक है, सुखाभास है, वास्तविक सुख नहीं है। यह दृष्टि सम्यक्दर्शन

है और वह ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानी सोचता है— यदि वह सुख वास्तविक सुख होता तो यह सुख इस जीवन में प्रतिदिन भोगते हैं। अतः इस सुख का संग्रह होकर सुख में वृद्धि होनी चाहिए थी, परन्तु सुख की सामग्री पर्याप्त संगृहीत होने पर भी सुख में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि इन्द्रिय के विषयों से जो सुख मिलता है, वह अगले क्षण ही नष्ट होने लगता है। अतः क्षणिक है, विनाशी है, उत्पाद-व्यययुक्त है जबकि जीव को अविनाशी— शाश्वत सुख चाहिये, जो इससे नहीं मिलता है। विषय-सुख की प्राप्ति अपने से भिन्न पदार्थों के अधीन होती है, अतः यह पराधीनता में आबद्ध करता है। विषय-सुख के भोगी को विवश होकर दुःख भोगने ही पड़ते हैं। अतः इस सुख के साथ दुःख लगा ही रहता है। इस सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। संसार में अशान्ति, अभाव, पराधीनता, चिन्ता, भय, संघर्ष—कलह, युद्ध, तनाव, दबाव, हीनभाव, अन्तर्द्वन्द्व, नीरसता, जड़ता आदि जितने भी दुःख हैं, उनके मूल में विषय-सुख ही है। अतः दुःख से सर्वथा मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय विषय-सुखों का त्याग ही है। इनके त्याग से राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय और हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि पापमय दुष्प्रवृत्तियाँ स्वतः छूट जाती हैं। अतः विषय-कषाय व पापों का त्याग ही धर्म है। श्रुतज्ञान के इस निर्णय से सार यह निकलता है कि पदार्थ व पदार्थ से मिलने वाला सुख उत्पाद-व्यययुक्त है, उसका भोग दुःख रूप है, अतः त्याज्य है। इस सुख के त्याग से अक्षय, अखंड, अव्याबाध, अनन्त, ध्रुव सुख की उपलब्धि होती है। सुख के इस उत्पाद-व्यय-ध्रुव रूप त्रिपदी का ज्ञान ही सम्यक् श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान से युक्त मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान से भी त्याग व संयम की ही भावना पुष्ट होती है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव रूप त्रिपदी का ज्ञान किसी न किसी अंश में सभी प्राणियों को होता है। प्राणिमात्र को ध्रुवत्व-अविनाशित्व इष्ट है। किसी को भी व्यय या विनाश पसंद नहीं है। दूसरे शब्दों में इसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व के ज्ञान को अनित्य-नित्य का ज्ञान, क्षर-अक्षर का ज्ञान भी कह सकते हैं। जो 'उत्पाद-व्यय' रूप है, क्षर है, विनाशी है, अनित्य है, वह स्वभावतः किसी को भी पसन्द नहीं है और जो ध्रुव है, अविनाशी है, अक्षर रूप है, वह सभी को पसन्द है। इस अक्षर का, अविनाशी का, ध्रुवत्व का

ज्ञान निगोद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीरधारी जीव को भी किसी न किसी अंश में होता है। इस अक्षर ज्ञान के कारण निगोद का जीव भी अपना विनाश नहीं चाहता है, अमरत्व चाहता है। जीने की भावना, जीवत्व का भाव स्वाभाविक होने से वह पारिणामिक भाव है, जो जीव मात्र में है। इसीलिये जैनागम में निगोद के जीवों में अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान कहा है। वर्तमान में अक्षर का अर्थ लिपि में आये वर्णमाला के अक्षर, क, ख, ग आदि से लिया जाता है, परन्तु यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता है, क्योंकि इस अक्षर के टुकड़े होने पर यह अर्थहीन, व्यर्थ हो जाता है। जैसा कि हम टेपरिकोर्डर में देखते हैं। जो निगोद का जीव अक्षर सुनता ही नहीं है, तो उसमें अक्षर ज्ञान कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि आगम में अक्षर शब्द का प्रयोग हुआ है, वह अमरत्व, ध्रुवत्व अर्थ के रूप में ही हुआ है।

संसार में किसी भी जीव को मृत्यु पसंद नहीं है। सभी जीवों को अमरत्व, ध्रुवत्व, अविनाशित्व इष्ट है। अमरत्व-ध्रुवत्व की प्रियता का ज्ञान प्राणिमात्र को है। यह ज्ञान प्राणिमात्र को सदैव ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है, न्यूनाधिक व नष्ट नहीं होता है, अर्थात् इसका क्षरण नहीं होता है। इसे शास्त्रीय भाषा में अक्षर ज्ञान कहा है। यह अक्षर ज्ञान श्रुतज्ञान है, मतिज्ञान नहीं है, क्योंकि यह इन्द्रिय व मन से नहीं होता है, जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है— **श्रुतमनिन्द्रियमन्य।-तत्त्वार्थसूत्र 1.22**

श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय का विषय है। अर्थात् श्रुतज्ञान इन्द्रियों के विषय से रहित है। कतिपय विद्वान् 'अनिन्द्रिय' का अर्थ मन लगाते हैं, परन्तु यह उचित नहीं लगता है, कारण कि एकेन्द्रिय आदि 'मन रहित' सभी असन्नी प्राणियों के श्रुतज्ञान या कुश्रुतज्ञान नियम से होता है। यदि सूत्रकार को श्रुत का विषय मन इष्ट होता, तो 'श्रुतं मनसः' सूत्र ही रच देते। विधिपरक 'मनसः' शब्द के स्थान पर निषेधात्मक अनिन्द्रियस्य शब्द लगाया ही इसलिए गया है कि इन्द्रिय, मन आदि मतिज्ञान के विषय को श्रुतज्ञान न समझा जा सके। यह अक्षर श्रुतज्ञान जीव मात्र में सदैव विद्यमान है। केवल उस पर आवरण आ गया है। आवरण विद्यमान वस्तु पर ही होता है, अविद्यमान वस्तु पर आवरण नहीं आ सकता। आशय यह है कि अक्षर श्रुतज्ञान का अर्थ क, ख, ग आदि अक्षरों से संबंधित नहीं होकर क्षरण रहित अमरत्व, ध्रुवत्व व अविनाशित्व के ज्ञान से संबंधित है।

कुछ अनुवाद एवं टीकाग्रन्थों में 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' (तत्त्वार्थसूत्र 1.23) सूत्र के 'अनिन्द्रिय' शब्द का अर्थ मन किया है, जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है, कारण कि मन से सम्बन्धित ज्ञान चार प्रकार का है— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। ये चारों प्रकार मतिज्ञान के स्वरूप हैं। यही नहीं, 'बुद्धि' ज्ञान को भी मतिज्ञान में ही स्थान दिया गया है। अतः अनिन्द्रिय ज्ञान को मानसिक ज्ञान मानना उचित नहीं लगता है। इस भ्रान्ति का कारण सम्भवतः आगम में प्रयुक्त 'नो इन्द्रिय' शब्द है, जो मन का सूचक है। जो इन्द्रिय के लिए सहायक है वह नो इन्द्रिय है। 'नो इन्द्रिय' में 'नो' निषेधात्मक अर्थ का द्योतक नहीं है, प्रत्युत सहायक एवं निमित्त अर्थ का बोधक है। उदाहरणार्थ नोकषाय, नोकर्म आदि शब्दों में नोकषाय का अर्थ कषाय में सहायक एवं निमित्त होना माना गया है। नोकषाय के जो रति—अरति, हर्ष—शोक आदि नौ भेद हैं वे मोह के सहायक रूप हैं। 'नोकर्म' शब्द का अर्थ कर्मोदय में सहायक होना है। (देखें, गोम्मटसार कर्मकाण्ड) जबकि अनिन्द्रिय में विद्यमान अन् (न) का मुख्य अर्थ निषेधात्मक है, अभाव, अल्प आदि अर्थ भी गृहीत हैं।

1. गोम्मटसार में श्रुतज्ञानावरण का नोकर्म अर्थात् निमित्त कारण मतिज्ञान को कहा है अर्थात् मतिज्ञान के प्रभाव से श्रुतज्ञान पर आवरण आना निरूपित है। जो श्रुतज्ञान के आवरण का कारण है अर्थात् श्रुतज्ञान में बाधक है, उससे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति मानना भूल है।

पडविअयपहुदि दव्वं मदिअुदवाघादकणअंजुतं।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 70

पट (वस्त्र) आदि इन्द्रिय—विषयों पर आवरण का कारण होने से उन्हें मतिज्ञानावरण का नोकर्म कहा है और इन्द्रिय विषयों की भोगासक्ति को श्रुतज्ञान का नोकर्म कहा है। तात्पर्य यह है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान के प्रकट होने में व्याघातक है। इस प्रकार जो श्रुतज्ञान का बाधक है, उसे श्रुतज्ञान का सहायक एवं प्रकट करने वाला मानना कहाँ तक उचित है?

2. पाँचों इन्द्रिय और मन इन छहों के ज्ञान के चार भेद ही हैं, अन्य भेद नहीं हैं। चार भेद हैं— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अतः मनोजन्य ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के अतिरिक्त नहीं हो सकता।

3. नन्दीसूत्र के सूत्र 56 से 60 तक में मन को नो इन्द्रिय कहा है, अनिन्द्रिय नहीं कहा है।

4. यदि मन से श्रुतज्ञान या श्रुतअज्ञान की उत्पत्ति मानी जाय तो एकेन्द्रिय से असन्नी पंचेन्द्रिय तक मन नहीं होने से श्रुतज्ञान का अभाव होने का प्रसंग उत्पन्न हो जाएगा, जो आगमविरुद्ध है।

5. नोकषाय, नोकर्म आदि में नो निषेध का वाचक नहीं है, अपितु निमित्त कारण रूप में कार्य में सहायक रूप है, अतः अकषाय का अर्थ नोकषाय नहीं है।

6. अनिन्द्रिय का अर्थ मन या नोइन्द्रिय लगाना युक्तिसंगत नहीं है। जैसे अकषाय का अर्थ कषायरहित होना है, नोकषाय नहीं है, अकर्म का अर्थ कर्मरहित होना है, नोकर्म नहीं है, इसी प्रकार अनिन्द्रिय का अर्थ इन्द्रियरहित होना है, नो इन्द्रिय (मन) नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम प्राणिमात्र को है अर्थात् ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिसे किसी न किसी अंश में श्रुतज्ञान न हो। प्राणिमात्र में किसी न किस अंश में श्रुतज्ञान सदैव रहता है, भले ही उसके श्रोत्र इन्द्रिय (कान) नहीं हो। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो श्रोत्रेन्द्रिय से सुना जाय, वह ज्ञान श्रुतज्ञान नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार जो कान से सुनाई दे, उसे श्रोत्रेन्द्रिय मतिज्ञान कहा है, जिसके अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा भेद हैं और जिसे श्रोत्रेन्द्रिय मतिज्ञान नहीं होता है, उसके भी श्रुतज्ञान होता है। मिथ्यात्वी प्राणी का वही श्रुतज्ञान श्रुतअज्ञान कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान सुनाई देने या नहीं सुनाई देने से संबंधित नहीं है, प्रत्युत इससे भिन्न है। कान से सुनाई देने वाला श्रोत्रेन्द्रिय मतिज्ञान या मति अज्ञान है। इस ज्ञान या अज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह अचक्षु दर्शन है। इस अचक्षुदर्शन के श्रोत्रेन्द्रिय अचक्षुदर्शन, घ्राणेन्द्रिय अचक्षुदर्शन आदि भेद नहीं हैं कारण कि श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा स्पर्शनेन्द्रिय से होने वाला दर्शन समान ही होता है उसमें विकल्प या भेद नहीं होता है।

केवलज्ञानी के ज्ञान और अन्य प्राणियों के श्रुतज्ञान में जातीय एकता है। आवरण के कारण अभिव्यक्ति का अन्तर है। केवलज्ञानी के ज्ञान से अन्य प्राणियों का श्रुतज्ञान भिन्न जाति का हो ऐसा नहीं है, केवल

प्रकटीकरण में न्यूनाधिक होने से भिन्नता है, जातीय भिन्नता नहीं है। समयपाहुड में कहा गया है—

जो हि ऋदेणादि गच्छदि अप्याणमिणं तु केवलं ऋद्धं।

तं ऋदकेवलिमिभिणो भणति लोगप्पदीवयन्ना॥ (गाथा—9)

जो श्रुतज्ञान से इस आत्मा को केवल शुद्ध जानता है, लोक को प्रकाशित करने वाले ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं।

यही बात प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार में भी कही गई है—

जो हि ऋदेण विजाणदि अप्याणं जाणणं अल्लवेण।

तं ऋदकेवलिमिभिणो भणति लोगप्पदीवयन्ना॥ (गाथा, 33)

जो श्रुतज्ञान से अपने को ज्ञायक स्वभाव युक्त समझता है, उसे लोक को प्रकाशित करने वाले ऋषि, श्रुतकेवली कहते हैं।

सर्व श्रुतज्ञानी को श्रुतकेवली भी कहा गया है—

जो ऋदणाणं अल्लं जाणदि ऋदकेवलिं तमाहु जिणा।

ऋदणाणमाद अल्लं जम्ह ऋदकेवली तम्ह॥

जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिनेन्द्र भगवान श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि सर्व श्रुतज्ञान आत्मा ही है, इसी कारण वे श्रुतकेवली हैं।

उपर्युक्त सब तथ्यों से यह फलित होता है कि श्रुतज्ञान का विषय शाब्दिक ज्ञान व इन्द्रियज्ञान नहीं है, कारण कि यह प्राणिमात्र को किसी न किसी अंश में अवश्य होता है, फिर भले ही वह सुश्रुत के रूप में प्रकट हो अथवा कुश्रुत के रूप में।

श्रुतज्ञान परोक्ष क्यों?

प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान क्यों कहा? उत्तर में कहना होगा कि श्रुतज्ञान स्वाभाविक माँग का सूचक है, परन्तु इस माँग का बोध या अनुभव नहीं है। स्वभाव का अनुभव ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्वभाव का अनुभव नहीं होने से श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहकर परोक्ष ज्ञान कहा है। श्रुतज्ञानजन्य शान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व की तीव्र माँग को संवेग कहा है। संवेग के प्रभाव से विभाव का अभाव हो जाने पर जब पूर्ण तत्त्व का बोध होता है तब केवलज्ञान होता है। फिर मतिज्ञान के प्रभाव का अंत हो जाता है और श्रुतज्ञान की उपयोगिता व आवश्यकता भी नहीं रहती है। अतः केवलज्ञान होने पर इन दोनों ज्ञानों का कोई अर्थ नहीं रह जाता है, ये निष्प्रयोजन हो जाते हैं।

यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ज्ञानावरणीय कर्म का बंध भी आत्मा ही करती है और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय भी आत्मा ही करती है। संसारी छद्मस्थ जीव के हर समय ज्ञानावरणीय कर्म के निर्जरा और बंध होते रहते हैं। ये दोनों कार्य परस्पर विरोधी हैं, अतः एक ही समय में आत्मा ये दोनों कार्य कैसे करती है?

उपर्युक्त जिज्ञासा पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि ज्ञानावरण कर्म को सत्ता आत्मा से ही मिली है। आत्मा में रही हुई आसक्ति व कषाय से ही कर्म सत्ता को प्राप्त होते हैं। पर बड़े आश्चर्य की बात यह है कि कर्म जिससे सत्ता पाते हैं, उसी आत्मा को ढक देते हैं, आवरित कर देते हैं और उसी आत्मा से उनके क्षय का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सूर्य की धूप के ताप से जल की भाप उत्पन्न हो, बादल बनकर वे सूर्य को ढक लेते हैं और उन बादलों को छिन्न-भिन्न करने में सूर्य ही समर्थ होता है, इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान जब विषय-भोगों की वस्तुओं से भेदभाव व अभेदभाव का सम्बन्ध स्थापित करता है अर्थात् वह जड़ वस्तुओं के अस्तित्व को अपना जीवन मान लेता है तथा वस्तुओं में अपनत्व भाव करता है, तब उसमें जड़ता आ जाती है और उसका ज्ञान गुण आवरित हो जाता है और जब वही आत्मा अपने विवेक से वस्तुओं की क्षणभंगुरता, अनित्यता, असारता, पराधीनता आदि के ज्ञान के प्रभाव को अपनाता है, तो वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिससे वस्तुओं से अतीत अवस्था का अर्थात् निजस्वरूप का अनुभव हो जाता है, फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है अर्थात् पूर्ण तत्त्वज्ञान, केवलज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा अविवेकजन्य अज्ञान के प्रभाव से विषय-कषाय तथा भोगों का सेवन कर ज्ञानावरण आदि कर्मों को बांध लेता है और विवेकजन्य ज्ञान के प्रभाव से विषय-भोगों का त्याग कर कर्म क्षय कर लेता है।

इन्द्रियों से रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान होता है, फिर इनके भोग की इच्छा उत्पन्न होती है या भोग्य पदार्थों के प्रति अहंभाव व ममभाव पैदा होता है। ममभाव से वस्तुएँ सुन्दर-सुखद लगती हैं, यह मति अज्ञान का प्रभाव है। इससे शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों के अस्तित्व में ही अपना अस्तित्व और वस्तुओं के अभाव में अपना अभाव भासने लगता

है। यह श्रुत अज्ञान का प्रभाव है, यह श्रुत अज्ञान विवेक विहीन है, अविवेक जन्य है। अतः कुश्रुत और कुज्ञान है। यह दोषों व दुःखों को बढ़ाने वाला व जीव का अहित व अकल्याण करने वाला है। भव—भ्रमण का कारण है।

मतिज्ञान से श्रुतज्ञान का भेद

जो मन से व इन्द्रियों से अनुभव करके जाना जाता है, उस देखे हुए और जाने हुए ज्ञान को मतिज्ञान कहा गया है। मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान होता है। यदि यह श्रुतज्ञान भी देखे हुए व जाने हुए ज्ञान का ही एक रूप या प्रकार होता तो मतिज्ञान के एक भेद के रूप में ग्रहण किया जाता। परन्तु मतिज्ञान से श्रुतज्ञान भिन्न है, इससे यह स्पष्ट है कि देखा हुआ और जाना हुआ ज्ञान श्रुतज्ञान नहीं है। श्रुतज्ञान है— देखे हुए, जाने हुए मतिज्ञान से अपने इष्ट और अनिष्ट का, हित—अहित का, हेय—उपादेय का ज्ञान करना। प्राणिमात्र का हित स्वभाव के अनुभव में है। अतः अपने स्वभाव का ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। इसे श्रुतज्ञान इसलिए कहा है कि यह स्वतः प्राणिमात्र को सदैव प्राप्त है, देखा हुआ अथवा जाना हुआ नहीं है। श्रुतज्ञान सभी प्राणियों को स्वतः प्राप्त है, यह स्वयं सिद्ध ज्ञान है, इसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है। यह श्रुतज्ञान सभी को है, परन्तु जब यह श्रुतज्ञान इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि जन्य ज्ञान (मतिज्ञान) से प्रभावित हो जाता है, तो इसकी गति दृश्यमान पौद्गलिक जगत् की ओर, इन्द्रिय विषयों की ओर, भोग—उपभोग की ओर हो जाती है, फिर उसे दृश्य जगत्, इन्द्रियों के विषय—भोगोपभोग ही स्थायी, सत्य, सुंदर व सुखद प्रतीत होने लगते हैं। इनका संयोग इष्ट और इनका वियोग अनिष्ट लगने लगता है। प्राणी इनकी प्राप्ति में स्वाधीनता व सुख और अभाव में अपने को पराधीन व दुःखी अनुभव करने लगता है। यद्यपि प्राणी के चाहते हुए भी सभी इष्ट पदार्थ किसी को भी नहीं मिलते हैं, अतृप्ति—नीरसता सदैव बनी रहती है और जो इष्ट पदार्थ मिलते हैं, उन्हें सदा बनाये रखने की एवं उनका वियोग कभी न हो, यह प्रबल इच्छा होते हुए भी एक दिन उनका वियोग हो ही जाता है। जिससे उसे भयंकर दुःख होता है। इस प्रकार प्राणी बाह्य भोगोपभोग के इष्ट पदार्थों के संयोग की प्राप्ति व पूर्ति की कामना में तथा इनके वियोग के भय की प्रज्वलित, संज्वलित अग्नि के दुःख में सदा संतप्त रहता है।

प्राणी अपने श्रुतज्ञान की, स्वाभाविक माँग की पूर्ति इन्द्रिय जन्य ज्ञान से प्रभावित हो, भोगोपभोगों के द्वारा करने लगता है, तो उसे क्षणिक सुखाभास होता है। साथ ही वह भयंकर दुःख की आग में सदैव जलता रहता है। परन्तु प्राणी भोगों में प्रतीत होने वाले सुखाभास में आबद्ध हो अनन्तकाल से तृष्णा की आग में जल रहा है, आर्तग्रस्त हो रहा है, दुःखी हो रहा है, विषय-सुखों के मधु-बिंदु को पाने के लिए अपना भयंकर अहित कर रहा है। जब सम्यक् श्रुतज्ञान के प्रभाव से इन्द्रियजन्य ज्ञान का अंकित प्रभाव मिट जाता है, तो प्राणी की स्वाभाविक माँग पूरी हो जाती है, फिर श्रुतज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों से प्राणी ऊपर उठ जाता है।

श्रुतज्ञान स्वयंसिद्ध

ज्ञान चेतना का अविनाभावी गुण है। जहाँ चेतना है वहाँ ज्ञान है। ज्ञान और चेतना को भिन्न नहीं किया जा सकता, ज्ञान और चेतना अभिन्न हैं। चेतना अविनाशी है, अतः ज्ञान भी अविनाशी है। जो ज्ञान अविनाशी है, वही वास्तविक ज्ञान है। जैसे अमरत्व (अविनाशिपन), स्वाधीनता (मुक्ति), पूर्णता, शान्ति, प्रसन्नता, अक्षय-अव्याबाध-अनन्त सुख आदि चाहिये या नहीं चाहिये? यदि यह प्रश्न किसी से भी किया जाय, तो सभी का सदैव-सर्वत्र एक ही उत्तर मिलेगा, ये सब अवश्य चाहिये। कोई भी यह नहीं कहेगा कि नहीं चाहिये और न यही कहेगा कि मैं सोच कर फिर जवाब दूँगा। इसका मतलब यह है कि यह ज्ञान स्वयंसिद्ध है। यदि यह स्वयंसिद्ध न होता, तो सबका उत्तर एक न होता और तत्काल उत्तर नहीं मिलता। अतः यह सबका ज्ञान है, सार्वजनिक ज्ञान है, बिना कुछ काल की अपेक्षा किये तत्काल उत्तर मिलता है एवं सदैव सर्वत्र, एक-सा उत्तर मिलता है, इसलिए स्वयं सिद्ध ज्ञान है। स्वयं सिद्ध ज्ञान सार्वजनीन, सार्वकालिक, सार्वदेशिक तर्करहित एवं अकाट्य होता है। इस ज्ञान को स्वयं की देन मान ज्ञान का अभिमान करना भूल है। यह नियम है कि जो स्वयं-सिद्ध है, स्वतः सिद्ध है, वही तथ्य है। जो तथ्य है, वही सत्य है। जो सत्य है, वह अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, सनातन है, शाश्वत है। इसी अविनाशी ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं, जैसा कि कहा है—

‘**सुदृढाणं लद्धिं अक्वचन्यं।**’ —गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 322 व टीका

अर्थात् लब्धि से अक्षरज्ञान है अर्थात् जो अविनाशी ज्ञान है, इसे ही श्रुतज्ञान कहा है। यह ज्ञान सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भी होता है।

अब जानना यह है कि स्वयंसिद्ध अविनाशी ज्ञान क्या है? तो कहना होगा कि जो स्वयं के ज्ञान से, निजज्ञान से, स्वयं के अनुभव से सिद्ध है, वह स्वयं सिद्ध है। स्वयं सिद्ध ज्ञान में निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं—

1. स्वयं सिद्ध ज्ञान, सबका समान होता है अर्थात् वह सार्वजनीन होता है।
2. इस ज्ञान में इन्द्रिय, मन व बुद्धि की अपेक्षा नहीं होती। कारण कि यह ज्ञान न इन्द्रिय से होता है, न बुद्धि से। अतः इन्द्रियज्ञान व बुद्धिज्ञान से परे का ज्ञान है, अलौकिक ज्ञान है, फिर भी परोक्ष है। इन्द्रिय ज्ञान और बुद्धि ज्ञान सब का समान नहीं होता है। प्रत्येक प्राणी के मति आदि ज्ञानों में विचार भेद और भिन्नता पाई जाती है, परन्तु स्वयंसिद्ध ज्ञान अर्थात् निजज्ञान भेद और भिन्नता से रहित होता है। इसे ही विवेक भी कहा जाता है।
3. यह ज्ञान स्वाभाविक होता है, बुद्धि जन्य नहीं होने से अथवा स्वाभाविक होने से इसमें तर्क नहीं होता, अतः यह अकाट्य होता है। कहा भी है—“**स्वभावोऽतर्कः**” अर्थात् स्वभाव में तर्क नहीं हो सकता है।
4. यह ज्ञान सब देश, सब काल में समान रहता है, देशकाल से प्रभावित नहीं होता है। अतः सार्वदैशिक, सार्वभौमिक, सार्वकालिक होता है।
5. यह अपरिवर्तनशील, अविनाशी, अन्तरहित अनन्त होता है।
6. इस ज्ञान पर आधारित सिद्धान्त अकाट्य होने से सर्वमान्य होते हैं।
7. यह किसी की देन नहीं होता है। अतः व्यक्तिगत या वर्गगत नहीं होता है।
8. इसे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है, यह स्वयं प्रमाण होता है।
9. यह नूतन पैदा नहीं होता है, स्वतः प्राप्त होता है, इसका प्रकटीकरण होता है।

तात्पर्य यह है कि स्वभाव—विभाव का ज्ञान श्रुतज्ञान है। अतः साधक के लिए पाँचों ज्ञानों में महत्त्व श्रुत ज्ञान का है। शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता, पूर्णता, चिन्मयता, अमरत्व, अविनाशी आदि जितने भी सिद्ध भगवान् के, ईश्वर के गुण हैं, वे प्राणिमात्र को सदा, सर्वदा, सर्वत्र इष्ट हैं। ये ही आत्मा के स्वभाव हैं। आगमों में जितना भी वर्णन है, वह जीव के स्वभाव को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है और इसे ही श्रुतज्ञान कहा है। यह श्रुतज्ञान मिथ्यात्वी के भी होता है, परन्तु वह विपरीत रूप में होता है। उसका श्रुतज्ञान मिथ्यात्व के कारण अज्ञान रूप में परिणत हो जाता है, जो श्रुत अज्ञान कहलाता है। मिथ्यात्वी के भी जितना कषाय घटता है, उतना श्रुतज्ञान का आवरण घटता है, श्रुतज्ञान अधिक प्रगट होता है। परन्तु वह मिथ्यात्व के कारण अज्ञान का रूप धारण कर लेता है। अज्ञान न तो जीव का कोई गुण है और न इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व है। प्राणी की अपनी भूल से, मिथ्यात्व से ही 'ज्ञान' अज्ञान रूप धारण करता है। यदि अज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व होता अर्थात् यह आत्मा का गुण या स्वभाव होता, तो इसका अंत या नाश कभी भी नहीं होता। अभिप्राय यह है कि किसी ज्ञान व दर्शन गुण का उपयोग होने या न होने से अथवा उपयोग न्यून व अधिक होने से ज्ञान—दर्शन गुण घटता—बढ़ता नहीं है। गुण का प्रकटीकरण घटता—बढ़ता है, इसका कारण कषाय का घटना—बढ़ना है। अतः जितना कषाय घटता जाता है, आत्मा के सब गुणों के प्रकटीकरण में उतनी ही वृद्धि होती जाती है।

पहले भी कहा है कि जो सिद्धों का स्वरूप है, वही स्वभाव है। उस स्वभाव का ज्ञान ही श्रुतज्ञान है और यह श्रुतज्ञान प्राणिमात्र को स्वभाव से ही स्वतः प्राप्त है, यह किसी कर्म का फल नहीं है। कर्म से तो इस ज्ञान पर आवरण आता है। इस ज्ञान का प्रभाव न होना ही इस पर आवरण आना है। प्रभाव न होने का कारण इन्द्रियों के विषय सुखों में आबद्ध होना है। उस सुख में आबद्ध होना ही श्रुतज्ञान से विमुख होना है, उसका अनादर करना है, उसकी उपेक्षा करना है, उसके विपरीत आचरण करना है, अपने को धोखा देना है, यह प्रवंचना है, विडम्बना है। यही श्रुत ज्ञान पर आवरण आना है। मिथ्यात्व के कारण इन्द्रियों के भोगों की पराधीनता को स्वाधीनता समझना श्रुतअज्ञान है। इन्द्रिय भोगों में जीवन बुद्धि होना— इन

भोगों का कभी अंत न हो, ये भोग सदा बने रहें, यह प्रयत्न करना अनन्तानुबंधी कषाय है। इन भोगों (असंयम) के साथ लगे दुःखों का प्रभाव न होना, अप्रत्याख्यानावरण है। संयम जन्य सुखों की माँग न होना प्रत्याख्यानावरण है तथा भुक्त भोगों के प्रभाव से भोग भोगने की स्फुरणा होना, भोगों के प्रति आकर्षण होना संज्वलन कषाय है। ये सभी कषाय ज्ञान-दर्शन गुणों के घातक व आवरण के हेतु हैं। इन कषायों के क्षीण होने से ज्ञान-दर्शन गुण का आवरण घटता जाता है और कषायों का पूर्ण क्षय होते ही ये गुण पूर्ण ज्ञान व पूर्ण दर्शन के रूप में प्रकट होते हैं, जिन्हें केवल ज्ञान व केवल दर्शन कहा जाता है।

श्रुतज्ञान का प्रभाव न होना ही श्रुतज्ञान पर आवरण आना है। अर्थात् स्वाधीनता की माँग का जागृत न होना, इन्द्रिय भोगजन्य पराधीनता में आबद्ध रहना, यह अपने निज ज्ञान का, श्रुतज्ञान का अनादर करना है। अनेक विषयों की अधिक व कम जानकारी होने या न होने से श्रुतज्ञान घटता-बढ़ता नहीं है, क्योंकि जानकारी होना और न होना, ज्ञान के उपयोग का घटना-बढ़ना है, ज्ञान गुण का घटना-बढ़ना नहीं है। ज्ञान गुण के आवरण का घटना-बढ़ना तो अपने स्वाभाविक ज्ञान के आदर करने या न करने पर निर्भर है। जो अपने निजज्ञान का, स्वाभाविक ज्ञान का, श्रुतज्ञान का जितना आदर करता है अर्थात् विषयभोगों के सुखों को छोड़ता है, उतना ही उसके ज्ञान का आवरण हटता है। आगमों में व उनकी टीका, भाष्य आदि में पाँच ज्ञानों में श्रुतज्ञान का विशेष महत्त्व बताया है।

श्रुतज्ञान के प्रकार

ज्ञान-निरूपण के प्रमुख आगम 'नंदीसूत्र' में श्रुतज्ञान के 14 प्रकार कहे हैं, यथा— 1. अक्षर श्रुत, 2. अनक्षर श्रुत, 3. संज्ञी श्रुत, 4. असंज्ञी श्रुत, 5. सम्यक् श्रुत, 6. मिथ्या श्रुत, 7. सादि श्रुत, 8. अनादि श्रुत, 9. सपर्यवसित श्रुत, 10. पर्यवसित श्रुत, 11. गमिक श्रुत, 12. अगमिक श्रुत, 13. अंग प्रविष्ट श्रुत और 14. अंग बाह्य श्रुत।

इनका क्रमशः स्वरूप इस प्रकार है—

1. **अक्षर श्रुत**— क्षरण रहित, अविनाशी ध्रुवत्व एवं सत्य का ज्ञान अक्षरश्रुत है अर्थात् ध्रुवाचरण इष्ट होना अक्षर श्रुत है।

2. **अनक्षर श्रुत**— क्षरणयुक्त विनश्वर—असत् या अनित्य का ज्ञान अनक्षर श्रुत है। अनित्य एवं अनिष्ट त्याज्य है, यह ज्ञान अनक्षर श्रुत है।
3. **संज्ञी श्रुत**— जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिंता (चिंतन) और विमर्श (परामर्श) हो उसे संज्ञी कहते हैं। जिसमें ये शक्तियाँ नहीं हैं, वह असंज्ञी है। अपने स्वाभाविक गुणों का चिन्तन, मनन, विचार—विमर्श, अन्वेषण (खोज) करने में रत होना संज्ञी श्रुत का लक्षण है।
4. **असंज्ञी श्रुत**— जो एकेन्द्रिय सहित अविकसित जीव हैं तथा संज्ञी के उपर्युक्त लक्षण से रहित हैं, उनका ज्ञान असंज्ञी श्रुत है। उन्हें भी मृत्यु, अशांति, दुःखरूप अस्वाभाविकता इष्ट नहीं है, जीवन अमरत्व, शांति, स्वाधीनता आदि स्वाभाविकतया इष्ट हैं।
5. **सम्यक् श्रुत**— शांति, मुक्ति, स्वाधीनता, प्रीति (परमानंद), पूर्णता आदि के यथार्थ स्वरूप को समझना सम्यक् श्रुत है।
6. **मिथ्या श्रुत**— पराश्रय—पराधीनता को स्वाधीनता समझना, इन्द्रिय विषयों से जनित सुखाभास को सुख समझना आदि विपर्यय रूप से समझना मिथ्याश्रुत है।
- 7—8. **अनादि अपर्यवसितश्रुत**— जीवन (अमरत्व, स्वाधीनता आदि) के स्वाभाविक ज्ञान की मांग सब जीवों में अनादिकाल से है। इस प्रकार मांग रूप में श्रुतज्ञान अनादि है और यह मांग सदैव रहेगी, इसका अवसान (अंत) कभी नहीं होगा इस रूप में यह अपर्यवसित श्रुत है। इस प्रकार मांग रूप में श्रुतज्ञान अनादि—अपर्यवसित श्रुत है।
- 9—10. **सादिसपर्यवसित श्रुत**— पराधीनता को स्वाधीनता जानना मिथ्याश्रुत है। मिथ्याश्रुत के समय सम्यक्श्रुत पर आवरण आ जाता है, सम्यक्श्रुत ज्ञान प्रकट नहीं होता है। जब मिथ्याश्रुत मिटकर सम्यक्श्रुत प्रकट होता है तब वह सादि श्रुत होता है। पुनः मिथ्याश्रुत ज्ञान से सम्यक्श्रुत ज्ञान आवरित हो जाता है, प्रकट नहीं होता है तब वह सपर्यवसित श्रुत कहा जाता है अर्थात् क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि सपर्यवसित होता है।

11. **गमिक श्रुत**— लक्ष्य एवं साध्य की अपेक्षा श्रुतज्ञान बार-बार अभेद रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार साध्य की अपेक्षा श्रुतज्ञान गमिक श्रुत है।
12. **अगमिक श्रुत**— साधना की अपेक्षा से किसी को विचार पथ में अनित्य, अशरण रूप श्रुतज्ञान इष्ट होता है, किसी को सदप्रवृत्ति व कर्त्तव्य रूप इष्ट होता है। कोई साधक सर्वांश में कामना के त्याग को, कोई सर्वांश में ममत्व के त्याग को, कोई सर्वांश में अहंत्व के त्याग को, कोई अनित्य के संग के त्याग को, कोई अशरण भावना को इत्यादि साधना को अपनाता है। ये सब श्रुतज्ञान के ही रूप या भेद हैं। अतः भेद रूप में साधना का ज्ञान अगमिक श्रुत है।
13. **अंगप्रविष्ट श्रुत**— अपने ही शरीर के भीतर अंतरंग में ध्यान की गहराई में प्रवेश कर अनित्य बोध जगना, समत्व पुष्ट होना, वीतरागता की ओर बढ़ना अंगप्रविष्ट श्रुत है।
14. **अंगबाह्य श्रुत**— रोग, शोक, वियोग आदि शरीर की बाह्य स्थितियों को देखकर वैराग्य उत्पन्न होना, वैराग्य द्वारा राग को खाकर वीतरागता की ओर बढ़ना अंग बाह्य श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञान के जो दो प्रमुख भेद अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य कहे जाते हैं, उनका उल्लेख उपर्युक्त 14 प्रकारों में हो गया है। अंगबाह्य को अनंगप्रविष्ट भी कहा जाता है।

अवधिज्ञान एवं अवधिज्ञानावरण

इन्द्रिय एवं मन के आधार के बिना अन्तर्मुखी होने पर आत्मप्रदेशों में संवेदनात्मक अनुभव होता है, वह अवधि दर्शन है। दर्शन के पश्चात् संवेदनाओं के प्रकार का ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है। इसका साधना परक अर्थ है—

“**ऋपिष्ववधिः**”—तत्त्वार्थ सूत्र अ.1 सूत्र 28

अधोगतभूतद्रव्यविषयो ह्यवधिः।

अधोऽधो विन्तृतं धीयते पत्रिच्छियते ऋपि वन्तु येन ज्ञानेनेत्यवधिः।

‘अवधिज्ञान’ रूपी पदार्थों को ही जानता है। अवधिज्ञान शरीर में अधोगतभूत अर्थात् नीचे भीतर की ओर बहुत से पदार्थों को विषय करता

है अथवा जो ज्ञान (अंतर्मुखी हो) पदार्थों को विषय करता है, वह अवधिज्ञान है। जब एकाग्र व शान्त चित्त से अंतर्मुखी हो शरीर के भीतर अन्तर में प्रवेश करते हुए आत्म-प्रदेशों से रूपी पदार्थों का अनुभव करता है, वह अवधि दर्शन है और उन्हें जानता है, वह अवधि ज्ञान है।

तत्त्वार्थ सूत्र 1—9 सर्वार्थ सिद्धि टीका — अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः ।

अर्थ— नीचे के विषय को परिमित जानने वाला होने से इसे अवधिज्ञान कहते हैं।

षट्खंडागम खंड 4 भाग 1 सूत्र 3 — यहाँ रूपी का अर्थ पुद्गल नहीं समझना चाहिए बल्कि कर्म व शरीर में बद्धजीव द्रव्य व संयोगी भाव भी समझना चाहिए।

षड्खंडागम खंड 5 भाग 5 सूत्र 52—53 अवधिज्ञान दो प्रकार का है—
1. भवप्रत्यय— यह नरक व देव भव में होता है। 2. सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञान के कारण है, वह गुण प्रत्यय अवधिज्ञान है॥53॥

षड्खंडागम खंड 5 भाग 5 सूत्र 57, 58, 59

धवला टीका पुस्तक 13, पृष्ठ 296 से 298

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 1 पृष्ठ 192

जिस प्रकार शरीर और इन्द्रियों का प्रतिनियम आकार होता है, उस प्रकार अवधिज्ञान का नहीं होता है, किन्तु अवधिज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा शरीर प्रदेश में अनेक संस्थान संस्थित होते हैं॥ 57॥ श्रीवत्स, कलश, शंख, साथिया (स्वस्तिक) और नंदावर्त आदि (अनेकानेक) आकार जानने योग्य हैं, चिह्नों का आकार नियत नहीं है॥ 58॥ प्रतिक्षण, प्रत्येक समय नया ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् प्रतिक्षण अवधिज्ञान में परिवर्तन होता रहता है॥ 59॥

अवधिज्ञान श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन पाँचों इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से नहीं होता है। अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा रूप मतिज्ञान से नहीं होता है, अतः यह मतिज्ञान नहीं है। निजस्वरूप में संबंधित नहीं होने से यह श्रुतज्ञान भी नहीं है। क्योंकि इस अनुभव में हेय व उपादेय का बोध नहीं होता है, अतः यह श्रुतज्ञान भी नहीं है। फिर भी

शरीर के स्तर पर ही होता है, अतः यह रूपी पदार्थों को ही विषय करता है। इस दृष्टि से इसे अवधिज्ञान कहा जा सकता है। जब साधक इस ज्ञान से अंतर्मुखी होते हुए संवेदनाओं को देखते, अनुभव करते व जानते हुए अधिक से अधिक अन्तर को पार करते हुए अंतिम छोर तक पहुँच जाता है और अपने समस्त आत्म-प्रदेशों से विषयभूत अर्थ को ग्रहण करता है, तब सर्वावधि व परमावधि ज्ञान हो जाता है। (जिससे देह में रहते हुए देहातीत—निर्विकार—वीतराग, कैवल्य अवस्था का अनुभव हो जाता है।) इस ज्ञान पर आवरण आना, इसका प्रकट न होना अवधि ज्ञानावरण है।

षड्खंडागम खंड 1 भाग 1 सूत्र 1 — सूत्र का अध्ययन करने वालों की असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से प्रति समय कर्म निर्जरा होती है, यह बात अवधिज्ञानी और मनःपर्याय ज्ञानियों को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध (अनुभव) होती है।

मनःपर्याय ज्ञान एवं मनःपर्यायज्ञानावरण

इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना सीधे आत्मा से दूसरे के एवं स्वयं के मनोगत भावों (पर्यायों) को जानना मनः पर्यायज्ञान है। इसका साधना परक अर्थ है:—

किसी भी पदार्थ या विषय का मन से चिंतन करने से चिन्तनीय पदार्थों की भिन्नता के अनुसार मन भिन्न—भिन्न वृत्तियों व आकृतियों को धारण करता है। ये मानसिक वृत्तियाँ व आकृतियाँ ही मन की पर्यायें हैं। चिंतन के द्वारा मन की जो अवग्रह, ईहा आदि रूप क्रियाएँ की जाती हैं, वह मतिज्ञान है और जो मन की पर्यायें चिंतन न करने पर भी स्वतः प्रकट होती हैं, उनको मन से असंग रहते हुए जानना मनःपर्याय ज्ञान है। इस ज्ञान से मन की पर्यायें जानी जाती हैं, परन्तु चिंतनीय पदार्थ नहीं जाना जा सकता। मानसिक पर्यायें विकल्प युक्त होती हैं, अतः मनःपर्याय—दर्शन नहीं होता है, कारण कि दर्शन निर्विकल्प होता है।

जब ध्यान साधक (योगी) का चित्त शान्त व निर्मल हो जाता है तब अपने सान्निध्य या सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति के चित्त में उठने वाली तरंगों के प्रवाह का अनुभव कर सकता है। उन तरंगों के, संवेदनाओं के अनुभव से वह यह जान सकता है कि जिस व्यक्ति की तरंगें आ रही हैं उस व्यक्ति की चित्त—दशा कैसी है, अर्थात् उसका चित्त कितना विकार ग्रस्त या विशुद्ध है, कितना खिन्न, तनाव युक्त अथवा कितना प्रसन्न, प्रमुदित है।

मनःपर्याय ज्ञान और मतिज्ञान में अन्तर यह है कि मतिज्ञान में मन से संबंधित अवग्रह, ईहा आदि होती है। मतिज्ञान में स्वयं के द्वारा संचालित मानसिक क्रियाएँ, संकल्प—विकल्प, चिंतन—मनन होता है। इसमें जीव का मन संचालन करने वाला, कर्त्ता—भोक्ता होता है। मनः पर्याय ज्ञान में साधक अपनी ओर से कुछ भी चिंतन—मनन, संकल्प—विकल्प नहीं करता है। मन से असंग व तटस्थ रहता है। साधक के न चाहने पर भी स्वतः मानसिक चिंतन, व्यर्थ चिंतन होता है। इस चिंतन में अपने पूर्व जीवन में भोगे हुए विषयों का तथा भविष्य में भोगने की इच्छा किए गए विषय—सुखों का अंकित प्रभाव प्रकट (उदय) होता है। इसमें साधक मन की पर्यायों का कर्त्ता—भोक्ता नहीं होता है, उनका विरोध— निरोध तथा अनुरोध नहीं करता है, प्रत्युत उनसे असंग, तटस्थ रहता हुआ उनको जानता है। इससे अंतःकरण (कारण—कर्मण शरीर) में स्थित भोगों का अंकित भाव व्यर्थ चिंतन के रूप में उदय(उत्पन्न) होकर नष्ट (निर्जरित) हो जाता है, क्योंकि यह नैसर्गिक नियम है कि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश होता है।

मनःपर्याय ज्ञान उन्हीं साधकों को होता है, जो संयमी हैं, विषय—भोगों के सुख से विरत हैं। वे ही अंतर्मुखी हो मन की पर्यायों को मन से असंग होकर जान सकते हैं। विषय— भोगों के सुख में आबद्ध भोगी (असंयमी) जीव का मानसिक चिंतन भोगासक्ति से युक्त होता है। उसके मन में भोगों से संबंधित संकल्प—विकल्प का प्रवाह चलता रहता है। किसी न किसी विषय सुख से संबंधित चिंतन उसके मन में चलता रहता है। अतः वह अंतर्मुखी नहीं हो पाता। वह मन से अलग हटकर, तटस्थ होकर जान नहीं सकता। अतः भोगी (असंयमी) व्यक्ति को मनःपर्याय ज्ञान नहीं हो सकता। संयमी साधक अंतर्मुखी हो मन को शांत करता है, तब पहले के भुक्त—अभुक्त भोगों का अंकित प्रभाव व्यर्थ चिंतन के रूप में प्रकट (उदय) होता है। मन की इन प्रवाहमान, परिवर्तनशील पर्यायों को उनसे परे, तटस्थ रहते हुए समभावपूर्वक जानना मनःपर्याय ज्ञान है। इस ज्ञान का प्रकट न होना इस पर आवरण आना, मनःपर्याय ज्ञानावरण है।

केवलज्ञान और केवलज्ञानावरण

बिना किसी अन्य माध्यम के आत्मा के द्वारा समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। अर्थात् जिसमें कुछ भी

जानना शेष नहीं रहता है, ऐसा अशेष, अनन्त ज्ञान केवलज्ञान है। इस ज्ञान पर आवरण आना केवल ज्ञानावरण है। केवलज्ञान के सम्बन्ध में धवला टीका में कहा गया है—

द्व-गुण-पञ्जए जे जन्मुदण य ण जाणदे जीवो।

तन्म कवण ओ च्चिय जाणदि अळ वयं जुगवं॥

—धवला पुस्तक 7, पृ. 14

जिस ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव जिन द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीनों को नहीं जानता है, उसी ज्ञानावरण कर्म के क्षय से वही जीव इन सभी तीनों को एक साथ जानने लगता है।

केवलज्ञान को आवरित करने वाला कर्म केवल ज्ञानावरण कहा जाता है। जिज्ञासा पैदा होती है कि आवरण किसी वस्तु पर होता है, यदि वस्तु ही नहीं हो, तो फिर आवरण किस पर होगा। इस दृष्टि से केवलज्ञान का अस्तित्व होने पर ही केवलज्ञानावरण कर्म का होना संभव है और यह सर्वमान्य है कि सभी प्राणियों के केवलज्ञानावरण कर्म का बंध, सत्ता, उदय है। अतः विचार यह करना है कि प्राणिमात्र में सदैव केवलज्ञान विद्यमान रहता है, इसे कैसे समझा जा सकता है।

इसी जिज्ञासा का समाधान ढूँढने के पूर्व केवलज्ञान किसे कहते हैं, यह जानना आवश्यक है। इसके लिए कषाय पाहुड की टीका में श्री वीरसेनाचार्य द्वारा प्रतिपादित व्याख्या यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं:—

‘केवलममलयं इन्द्रियालोकमनस्काननिपेक्षत्वात्।’

—कषाय पाहुड पुस्तक 1/1.1, पृष्ठ 15

अर्थात् असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित होता है। अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश, मन (चिन्तन) आदि किसी भी आश्रय या माध्यम की सहायता के बिना ही हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं। प्रकारान्तर से कहें, तो जो ज्ञान बिना किसी ‘पर’ के आश्रय से स्वतः प्रादुर्भूत हो, स्वयंभू हो, स्वतः उद्भूत हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इसमें तर्क नहीं होता।

यहाँ विचार यह करना है कि ऐसा ज्ञान कौनसा है जिसमें तर्क उत्पन्न नहीं होता, तो कहना होगा कि ऐसा स्वयं सिद्ध स्वभाव का ज्ञान

होता है। स्वभाव स्वयंसिद्ध होने से उसमें तर्क नहीं होता। कहा भी है—
‘वितर्कः श्रुतम्।’ (तत्त्वार्थसूत्र, 9.45), आचार्य सिद्धसेनगणि ने इस सूत्र की टीका में वितर्क का अर्थ विगततर्क (तर्क रहित होना) किया है। **‘चुदं वितक्क’** (भगवती आराधना, गाथा 1875 एवं 1878) अर्थात् वितर्कज्ञान ही श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। जब तक यह स्वभाव का स्वाभाविक स्वयंसिद्ध ज्ञान आवश्यकता, मांग और साध्य के रूप में होता है तब तक श्रुतज्ञान कहा जाता है और जब यह श्रुतज्ञान वीतराग अवस्था में एकत्व, वितर्क, अविचार शुक्लध्यान में ज्ञाता से एकरूप हो जाता है अर्थात् अनुभव व बोधरूप हो जाता है तो केवलज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान एवं केवलज्ञान में दूसरा भेद यह है कि श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है, जबकि केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। श्रुतज्ञान पूर्णज्ञान नहीं है और केवलज्ञान पूर्णज्ञान है।

सामान्यतः यह मान्यता है कि जिनके राग-द्वेष क्षय हो गये हैं ऐसे वीतराग केवली संकल्प-विकल्प रहित होते हैं। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि केवली में केवलज्ञानोपयोग व केवल दर्शनोपयोग ये दोनों उपयोग माने हैं अर्थात् साकार, अनाकार, सविकल्प और निर्विकल्प दोनों उपयोग माने गये हैं और कषाय पाहुड की गाथा 20 के अनुसार इन उपयोगों का उत्कृष्ट काल दो श्वासोच्छ्वास से कम है। इसका आशय यह हुआ कि दो श्वासोच्छ्वास के जितने अल्पकाल में केवली में ज्ञानोपयोग होता है और ज्ञानोपयोग सविकल्प ही होता है। ज्ञानोपयोग निर्विकल्प भी होता है, ऐसा आगम व प्राचीन टीकाओं में कहीं नहीं कहा गया है। अतः केवली के ज्ञान को निर्विकल्प मानना आगम सम्मत नहीं है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि केवली को क्या जानना शेष रहा, जिसके लिए वे विचार या विकल्प करते हैं। यदि जानना शेष रहा, तो मानना होगा कि उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में चिन्तन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि केवली को किसी विषय या सिद्धान्त को समझने रूप जिज्ञासा, चिन्तन, विचार या विकल्प नहीं रहता है। किन्तु उनको वर्तमान परिस्थिति में क्या है, यह विचार होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ केवली सहजभाव से वीतरागता पूर्वक चल रहे हैं। उनके समक्ष कुआ, पेहाड़, खाई, कीचड़ आ गया, तो विचारपूर्वक ही मार्ग निश्चित करेंगे, बदलेंगे। वीतराग भगवान

महावीर ने अपने शिष्य को कहा कि रेवती ने भोजन बनाया है, उसमें से अमुक मत लाना, अमुक लाना। अथवा हे मेघ! तुझे रात को यह विचार आया कि मैं प्रातः घर जाऊँगा आदि....। इस प्रकार भगवान महावीर ने जितने भी प्रश्नों के उत्तर दिये वे बिना विचारे जड़ यंत्रवत् नहीं दिये। उनके मुख से अपने आप बलात् यंत्रवत् नहीं निकले। यह सारा ऊहा-पोह, विचार-विनिमय, पूछताछ चेतना की निष्क्रिय (अयोग) अवस्था में नहीं हुआ। विचार-विहीन अवस्था में नहीं हुआ। तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली अयोग अवस्था में एक क्षण मात्र भी नहीं रहते और चेतना से संबंधित हुए बिना मन, वचन, काया के स्पंदन रूप योग प्रवृत्ति संभव नहीं है।

केवली के मन, वचन, तन ये तीनों करण हैं और करण अपने आप में न भले होते हैं और न बुरे होते हैं। कर्त्ता का भाव ही प्रतिबिम्ब के रूप में करण में भले-बुरे रूप में प्रकट होता है। केवली में ये तीनों करण या योग माने गये हैं। आगम में द्रव्य-वचन और भाव-वचन या द्रव्य-तन या भाव-तन जैसा भेद नहीं है। वैसे ही द्रव्य-मन, भाव-मन जैसा भेद भी नहीं है। आगम में केवली के भाव मन नहीं होता, ऐसी बात कहीं नहीं कही गई। केवली भी मन, वचन, काया की सभी बाहरी प्रवृत्ति वैसे ही करता है, जैसे साधारण पुरुष। उसका विचार ठीक वैसा ही है, जैसे अन्य पुरुषों का। अन्तर है, तो केवल इतना ही कि साधारण पुरुष के साथ उनके राग-द्वेष आदि विकार जुड़े हुए हैं। केवली खाता-पीता, चलता नहीं हो और विचार नहीं करता हो, ऐसी बात नहीं है। उसके मार्ग में चलते हुए सामने गड़ढा आ जाए, कांटे आ जाए, पेड़ आ जाये तो उनसे अलग हटकर ही चलेगा। यह अलग हटना विचारपूर्वक ही होता है। उसे देवता आकर के अलग नहीं हटाते हैं। स्वतः कुछ नहीं होता है। यहाँ तक कि मूक केवलियों के समक्ष साधक आता है, तब भी वे उपदेश नहीं देते हैं। उनकी वाणी नहीं खिरती, सभा नहीं होती है।

हमारे लिए कल्याण की बात है— केवली के द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलकर, राग-द्वेष छोड़ कर वीतराग बनने की साधना करना, नश्वर वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़कर ध्रुव, अविनाशी तत्त्व से सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् अविनाशित्व को प्राप्त होना। जिस प्रकार जिसे शराब नहीं पीनी है, शराब को त्यागना है, उसके लिए शराब कितने प्रकार की होती है, उससे किस

प्रकार सुख—दुःख मिलता है, लाभ—हानि होते हैं, आदि के ज्ञान की उसे कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसी प्रकार जिस साधक को शरीर—संसार आदि के भोग छोड़ने व त्यागने हैं, उसके लिये शरीर व संसार से संबंधित लोक—परलोक, नरक—स्वर्ग आदि का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। उसे तो केवल इतने ही ज्ञान की आवश्यकता है कि इनसे मिलने वाला भोगों का सुख अनुपयोगी, अहितकर, अकल्याणकारी है, दुःखद है। अतः इनका स्वरूप कैसा भी हो, उसे तो इनसे सम्बन्ध तोड़ना ही है। जैसे जिस गाँव नहीं जाना है उसके लिए उस गाँव के बारे में जानना या उसका रास्ता पूछना कोई अर्थ नहीं रखता है, उसी प्रकार साधक के लिए किस प्रान्त, देश, विदेश तथा संसार में कितने पर्वत, नदी, झील हैं और कहाँ हैं, उनका विस्तार कितना है आदि बातों से संबंधित ज्ञान कोई अर्थ नहीं रखता है। उसे तो इस देह के रहते हुए ही इन सबसे असंग हो, देहातीत, इन्द्रियातीत, लोकातीत, कालातीत होना है।

आशय यह है कि जो ज्ञान सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में सदैव ज्यों का त्यों रहता है अर्थात् जिससे कोई भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव बाहर नहीं है अर्थात् जो सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण व पर्याय को जानता है, जिसे कुछ भी जानना शेष नहीं रहा है, दूसरे शब्दों में जिसके ज्ञान से पूर्ण आवरण हट गया है, पूर्ण निरावरण हो गया है, आवरण का पूर्ण क्षय हो गया है, जिसका अन्त कभी भी नहीं होने वाला है, जो शाश्वत है, ऐसा अशेष, शुद्ध, पूर्ण व अनन्त ज्ञान केवलज्ञान है। यह ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से होता है। पहले विवेचन कर आए है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से जीव द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीनों को एक साथ जानने लगता है। द्रव्य का स्वभाव ही गुण है। वस्तु का ध्रुवत्व रूप द्रव्य उसका गुण है और उत्पाद—व्यय वाला रूप द्रव्य—गुण की पर्याय है। अतः द्रव्य, गुण और पर्याय के ज्ञान का अभिप्राय है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का ज्ञान। उत्पाद—व्यय, ध्रुवत्व इन तीनों के ज्ञान को त्रिपदी ज्ञान कहते हैं। इस त्रिपदी के ज्ञान में समस्त ज्ञान समाहित है।

त्रिपदी का ज्ञान

संसार की समस्त ऐन्द्रियक वस्तुएँ पुद्गल निर्मित हैं। उत्पाद, व्यय, सड़न, गलन, विध्वंसन इन पुद्गलों का स्वभाव है। अतः संसार की समस्त वस्तुओं में जातीय एकता है। जातीय एकता होने से जो नियम, जो सच्चाई

एक वस्तु पर लागू होती है वही समस्त वस्तुओं पर लागू होती है। जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष चावलों की हांडी में एक चावल को देखकर उस हांडी के समस्त चावलों के विषय में यह जान लेता है कि ये चावल पक गए हैं या कच्चे हैं अथवा अधपके हैं (उसे एक चावल के ज्ञान से सब चावलों का ज्ञान हो जाता है।) उसी प्रकार विवेकी पुरुष किसी एक वस्तु की, किसी एक घटना की, किसी एक स्थिति की सच्चाई को जानकर संसार की समस्त वस्तुओं, घटनाओं व स्थितियों का ज्ञान कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

संसार में जो भी वस्तु दिखाई देती है, वह उत्पन्न होती है! जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नष्ट भी होती है। उत्पाद-व्यय के इस ज्ञान में ही सम्पूर्ण संसार का ज्ञान समाया हुआ है। जिस वस्तु का नाश अवश्यभावी हो, उससे प्राणी को कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। जो प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है, वह भी रहता नहीं है। परिणाम में शून्य ही शेष रहता है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों के भोग से कुछ भी उपलब्धि नहीं होती है। अतः भोगों से बचने में ही प्राणी का कल्याण है। नश्वर पदार्थों से सम्बन्ध-विच्छेद करते ही अविनश्वर, अविनाशी से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है एवं अभिन्नता हो जाती है तथा स्वरूप में स्वतः स्थिरता हो जाती है अर्थात् वह ध्रुवचारी हो जाता है। यही आचारांग सूत्र में कथित ध्रुवचारी बनने की साधना है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी में ध्रौव्य ग्राह्य है, यही भगवान महावीर ने सम्पूर्ण ज्ञान के सार-रूप में फरमाया है। शेष ज्ञान इसी त्रिपदी ज्ञान का विस्तार मात्र है, जो गणधरों द्वारा निरूपित है।

जैन दर्शन में पदार्थ की उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तनशील अवस्था को 'पर्याय' तथा ध्रौव्य अवस्था को 'द्रव्य' कहा है। इन दोनों का ज्ञान पदार्थ का संपूर्ण ज्ञान है, सर्वज्ञत्व है। इसी विचार का समर्थन करते हुए स्व.पंडित श्री सुखलाल जी ने लिखा है कि 'जैन परम्परा का सर्वज्ञत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समान भाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है।' यह मन्तव्य पंडितजी के 'दर्शन और चिन्तन' ग्रन्थ में 'सर्वज्ञत्व और उसका अर्थ' निबन्ध में आगमानुसार युक्ति पुरस्सर रूप में प्रस्तुत किया है, जो विचारणीय है।

अनन्त ज्ञान

उत्पाद—व्यय—युक्त पदार्थ विनाशी हैं, नश्वर हैं, क्षर हैं। अतः इन पदार्थों का ज्ञान क्षर का ज्ञान है, विनाशी का ज्ञान है। निज का ध्रुव—स्वरूप अविनाशी है, अक्षर है। अतः अपने शाश्वत अस्तित्व का ज्ञान अक्षर ज्ञान है, अविनाशी ज्ञान है। अपने अस्तित्व का ज्ञान प्राणिमात्र को है, यहाँ तक कि एक शरीर में रहने वाले अनन्त निगोद जीवों को भी न्यूनाधिक रूप में यह ज्ञान रहता है, अतः उनमें भी अक्षरज्ञान का किञ्चित् अंश रहता ही है। अक्षर—अविनाशी, ध्रुव का पूर्ण ज्ञान उस साधक को ही संभव है, जो क्षर—पदार्थ, देह आदि से अपना सम्बन्ध पूर्णरूपेण विच्छेद कर लेता है। यह नियम है कि उत्पाद—व्यय—युक्त, क्षर—विनाशी पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद होते ही साधक अपने अक्षर, ध्रुव, अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसे अक्षर, अविनाशी का अनुभव व बोध (ज्ञान) सदैव के लिए हो जाता है। जो अक्षर है वह अविनाशी है और जो अविनाशी है वह अनन्त है। अनन्त का ज्ञान भी अनन्त रूप होता है। इस दृष्टि से जो अपने आपको पूर्ण जानता है, अपने में पूर्ण स्थित हो जाता है, वह अनन्त ज्ञान का धनी हो जाता है। त्रिपदी का ज्ञाता साधक किसी एक वस्तु या व्यक्ति के वियोग को देखकर संसार की समस्त वस्तुओं, व्यक्तियों के संयोग में वियोग के दर्शन कर लेता है। किसी एक वस्तु के नाश से, एक व्यक्ति के मरण से, संसार की समस्त वस्तुओं के नाश का, अपने तथा समस्त अन्य व्यक्तियों के जीवन में मरण का दर्शन कर लेता है अर्थात् अनित्यता का दर्शन कर लेता है। किसी एक विषय भोग के सुख के साथ जुड़े क्षीणता, जड़ता, शक्ति—हीनता, अभाव आदि दुःख का अनुभव कर वह समस्त विषय—सुखों में दुःख का दर्शन कर लेता है। यह नियम है कि जो समस्त संयोगों में वियोग के दर्शन कर लेता है, वह सब संयोगों से परे (असंग) हो जाता है फिर उसका संयोग—वियोग से सम्बन्ध टूट जाता है, तदनन्तर उसका अविनाशी से नित्य योग हो जाता है। जो समस्त वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना में अनित्यता का दर्शन कर लेता है, वह उस अनित्यता से परे हो जाता है, फिर वह ध्रौव्य का, अमरत्व का अनुभव कर लेता है। जो विषय—सुख में दुःख का दर्शन (अनुभव) कर लेता है, वह सुख—दुःख से परे हो, सच्चिदानन्द का अनुभव कर लेता है। वह पराश्रय का, पर की

शरण का त्याग करके, दूसरे शब्दों में परिग्रह का एवं पराधीनता का त्याग करके स्वाधीन (मुक्त) हो जाता है। जो अविनाशी है, वही अमर है, जो अमर है वही मुक्त है, जो मुक्त है, वही सच्चिदानन्द है। अविनाशित्व, अमरत्व, मुक्तत्व, पूर्णत्व आदि गुणों में जातीय एकता है। अतः इनमें से किसी भी एक गुण की पूर्णता से अन्य समस्त गुणों का आविर्भाव उपलब्धि स्वतः हो जाता है। सब गुण परस्पर ओतप्रोत हो जाते हैं, भिन्नता मिट जाती है और वह सर्वज्ञ, वीतराग, परमात्मा हो जाता है। उदाहरणार्थ—केवल एक अनित्यता के बोध से भरत चक्रवर्ती वीतराग हो सर्वज्ञ हो गये। एक मात्र अशरणत्व के बोध से ही अनाथी मुनि वीतराग सर्वज्ञ हो गए। एक मात्र संसार की असारता, दुःखमयता के बोध से शालिभद्र तथा एकत्व के बोध से नमिराज ऋषि वीतराग—सर्वज्ञ हो गए।

जो वीतराग हो जाता है, वह निर्विकार हो जाता है, शुद्ध हो जाता है। जो निर्विकार और शुद्ध हो जाता है, उसका ज्ञान भी निर्विकार व शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसके ज्ञान में किसी प्रकार की मिलावट या दोष नहीं रहता है। जिसमें किंचित् भी दोष या मिलावट न हो, उसे निर्मल, शुद्ध या केवल (ज्ञान) कहते हैं। इस दृष्टि से वीतराग अवस्था का जो निर्दोष—शुद्ध ज्ञान है, वह केवलज्ञान कहा जाता है। इसे अनन्तज्ञान, अभेद ज्ञान एवं अशेष ज्ञान भी कहा गया है।

केवलज्ञान—सर्वज्ञता

केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है और केवलज्ञान होने से सर्वज्ञता की उपलब्धि होती है फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है। आगे इसी पर प्रकाश डाला जा रहा है।

सर्वज्ञ का अर्थ है—सबको जानने वाला। जो सबको जानता है, वही सर्वज्ञ है। जैनागम में उल्लेख है कि सबको वही जानता है, जो एक को जानता है तथा जो एक को जानता है, वह ही सबको जानता है। जैसाकि कहा है—

‘जे एगं जाणइ अे अळं जाणइ।

जे अळं जाणइ अे एगं जाणइ॥’ (आचारांग सूत्र)

आचारांग के इस सूत्र का अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि विश्व में जो नियम एक में काम करता है, वही नियम सब में काम करता है अर्थात्

सम्पूर्ण विश्व में प्राकृतिक विधान (नियम) एक ही है। अतः जो नियम अणु में कार्य कर रहा है, वही नियम ब्रह्माण्ड में काम कर रहा है। यही नहीं, जो नियम जीवन की एक घटना में काम कर रहा है, वही नियम सबके जीवन की सब घटनाओं में काम करता है। इसीलिए जो प्रकृति के एक नियम को अर्थात् तथ्य को जान लेता है, वह प्रकृति के सब तथ्यों को जान लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। सम्पूर्ण संसार (ब्रह्माण्ड) का संचरण—संसरण एक ही नियम से हो रहा है। यह है गुरुत्वाकर्षण का नियम, आकर्षण—विकर्षण का नियम। यही नियम परमाणु से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में काम करता है। इसी नियम से पूरा संसार बंधा हुआ है। संसार में, जड़ और चेतन में जो संचरण—गति—हलचल हो रही है, वह इसी आकर्षण—विकर्षण के नियमानुसार हो रही है। चेतन में वह आकर्षण राग रूप में और विकर्षण द्वेष रूप में प्रकट होता है। इसी राग—द्वेष से जीव बंधन को प्राप्त होकर संसार—परिभ्रमण कर रहा है। राग से ही जीव शरीर और संसार से बंधा हुआ है।

राग—द्वेष एवं मोह से, कामना—वासना एवं ममता—अहंता से, आरम्भ—परिग्रह एवं विषय कषाय से अशान्ति, पराधीनता और दुःख उत्पन्न होता है और इनके त्याग से शान्ति, मुक्ति, प्रसन्नता की उपलब्धि होती है। यही धर्म है, यही अनुभूत सत्य है और यही नियम है। इस एक नियम के जानने से धर्म या जीवन के सारे नियमों का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार संसार के सम्बन्ध में एक नियम है कि जो उत्पन्न होता है, वह व्यय (नाश) को भी प्राप्त होता है। अर्थात् उस रूप में उसका अस्तित्व नहीं रहता है। उसमें निरन्तर रूपान्तर होता रहता है। यही नियम देश—प्रदेश, परमाणु—स्कन्ध आदि सब पर समान रूप से लागू होता है। स्कन्ध, परमाणुओं का एवं प्रदेशों का समुदाय मात्र है। यदि परमाणु स्नेह (आकर्षण) गुण से रहित हो जाएँ, तो वे बंधनरहित हो स्वतंत्र—स्वाधीन हो जाएंगे। स्कन्ध का निर्माण ही नहीं होगा। अतः सम्पूर्ण संसार के संचरण में उत्पाद—व्यय, आकर्षण—विकर्षण, स्नेह—रुक्ष का नियम ही काम कर रहा है। जो भी संसार में उत्पन्न होता है, उसका विनाश, लोप या अभाव अवश्यम्भावी है, उससे राग—द्वेष करना भूल है, प्रमाद है। जहाँ प्रमाद है, वहाँ विनाश है। प्रमाद के त्याग में ही विकास निहित है।

आकर्षण (राग) से ही कामना, ममता, अहंता उत्पन्न होती है। कामना से अशान्ति, ममता से पराधीनता और अहंता से जड़ता उत्पन्न होती है। कामना (आरम्भ) के त्याग से शान्ति व प्रसन्नता, ममता (मूर्च्छा—परिग्रह) के त्याग से मुक्ति व स्वाधीनता एवं अहंता के त्याग से चिन्मयता व अनन्त—सुख की अभिव्यक्ति होती है। जिसे शान्ति चाहिए, उसे कामना, चाह, इच्छा का त्याग करना ही होगा। जिसे स्वाधीनता या मुक्ति चाहिए उसे ममता—परिग्रह का त्याग करना ही पड़ेगा। जिसे अनन्त, अविनाशी, अक्षुण्ण, अव्याबाध सुख चाहिए, उसे विनाशी शरीर आदि से तादात्म्य एवं तदरूपता—रूप अहंता का त्याग करना ही होगा। यह नियम सब प्राणियों पर भूत, वर्तमान, भविष्य, इन सब कालों में समान रूप से लागू होता है।

संसार की समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं, अतः इनकी प्राप्ति—अप्राप्ति का कोई अर्थ ही नहीं है, सब निरर्थक हैं। स्वरूपतः संसार के सब पौद्गलिक पदार्थों में एकरूपता है। ये सब एक ही जाति के हैं। अतः इनमें से किसी एक का ज्ञान, सभी का ज्ञान है। ज्ञान मूलतः एक ही है और सनातन है। जो ज्ञान में अन्तर दिखाई देता है, वह उस ज्ञान में प्रकाशित होने वाली स्थितियों, अवस्थाओं, पर्याओं में है। मूल ज्ञान अभेद ज्ञान है, निर्विकल्प (तर्करहित) ज्ञान है, अनन्त (अन्तरहित—सनातन) ज्ञान है, अशेष (कुछ भी जानना शेष न रहने योग्य) ज्ञान है। अभेद ज्ञान, अनन्त ज्ञान एवं अशेष ज्ञान का होना ही सर्वज्ञता है।

आशय यह है कि सम्पूर्ण संसार में एक ही नियम काम कर रहा है। उस नियम को चाहे कर्म—सिद्धान्त कहें, चाहे प्राकृतिक विधान कहें, चाहे नैसर्गिक नियम कहें, चाहे स्वभाव कहें, चाहे धर्म कहें अथवा किसी अन्य नाम से पुकारें; ये सब एक ही नियम के विविध रूप हैं। अतः जो एक नियम (तथ्य) को जान लेता है, वह सब को जान लेता है, फिर उसे कुछ भी जानना, पाना, करना शेष नहीं रहता। उसे संसार में कुछ पाने, करने, जानने की इच्छा नहीं रहती है। यह ही घाति कर्मों का क्षय है।

ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय के क्षय से जानना व अनुभव करना शेष नहीं रहता है, मोहनीय कर्म के क्षय से प्रयास रूप प्रवृत्ति करना शेष नहीं

रहता है। अन्तराय कर्म के क्षय से पाना व भोगना शेष नहीं रहता है। इस प्रकार समस्त घाति—कर्मों का क्षय हो जाता है। इसीलिए साधक के लिए अनेक ग्रंथों का पठन करना अनिवार्य नहीं है। जघन्य ज्ञान केवल पाँच समिति, तीन गुप्ति का ही अनिवार्य बताया है। कारण कि शेष ज्ञान की उपयोगिता समिति—गुप्ति के पालन रूप सम्यक्-प्रवृत्ति में सजग रहना ही है।

ज्ञानावरण कर्म—बंध के कारण

भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 9 में ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म—बंध के छः छः कारण बताये हैं। यथा—

णाणावन्नणिज्जकम्मअनीवप्पओगबन्धे णं भन्ते? कम्मं कम्मं उदएणं?

गोयमा! णाणपडिणीययाए, णाणनिण्ठवणयाए, णाणंतत्ताएणं, णाणप्पओम्भेणं, णाणच्चात्तादणयाए, णाणविअंवायणाजोगेणं णाणावन्नणिज्जकम्मअनीवप्पओगणामाए कम्मं कम्मं उदएणं णाणावन्नणिज्जकम्म—अनीवप्पओग—बंधे। दन्निअणावन्नणिज्जकम्मअनीवप्पओगबन्धे णं भन्ते? कम्मं कम्मं उदएणं? गोयमा! दंअणपडिणीययाए एवं जत्त णाणावन्नणिज्जं णवन् दंअणणाम घेतत्तं जाव दंअणविअंवायणाजोगेणं दन्निअणावन्नणिज्जकम्मअनीवप्पओगणयाए कम्मं कम्मं उदएणं जाव पओगबन्धे।—भगवती सूत्र 8.9, सूत्र 98-99

अर्थ— भगवन्! ज्ञानावरणीय कर्मण—शरीर प्रयोग—बंध किस कर्म के उदय से होता है?

गौतम! ज्ञान की प्रत्यनीकता (विपरीतता) करने से, ज्ञान का अपलाप करने से, ज्ञान में अन्तराय डालने से, ज्ञान के प्रति द्वेष करने से, ज्ञान की आशातना करने से, ज्ञान के विसंवादन योग से और ज्ञानावरणीय कर्मण—शरीर—प्रयोग नाम कर्म के उदय से, ज्ञानावरणीय कर्मण शरीर प्रयोग बंध होता है।

भगवन्! दर्शनावरणीय कर्मण—शरीर प्रयोग—बंध किस कर्म के उदय से होता है?

गौतम! दर्शन की प्रत्यनीकता से, इत्यादि जिस प्रकार ज्ञानावरणीय के कारण कहे हैं, उसी प्रकार दर्शनावरणीय के भी जानना चाहिए, किन्तु

ज्ञानावरणीय के स्थान में 'दर्शनावरणीय' कहना चाहिए यावत् दर्शन विसंवादन योग और दर्शनावरणीय कर्मण—शरीर प्रयोग नामकर्म के उदय से दर्शनावरणीय कर्मण—शरीर प्रयोग—बंध होता है।

ऊपर ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म—बंध के छः कारण बताये गये, ये छः—छः कारण तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6 सूत्र 11 में इस प्रकार बताये गये हैं, यथा—

“तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायाः आसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।”

अर्थात् 1. प्रदोष 2. निह्नव 3. मात्सर्य 4. अन्तराय 5. आसादन और 6. उपघात। ये ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव (बंध—हेतु) हैं।

ऊपर ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय के छः—छः कारण कहे गये हैं, परन्तु आगमों में समुच्चय कर्म—बंध के कारणों को अलग प्रकार से भी कहा गया है यथा— पन्नवणासूत्र के 23 वें पद के प्रथम उद्देशक में तथा उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में 'रागो य दोसो विय कम्मबीयं' अर्थात् राग और द्वेष को ही कर्म—बंध का कारण व बीज कहा है। कर्म—सिद्धान्त में सामान्य रूप से योग और कषाय को ही बंध का कारण बताया है। इस प्रकार आगम में व कर्म—सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों में विशेष रूप से अलग—अलग कर्म के भिन्न—भिन्न कारण तथा सामान्य रूप से मूल कारण बताये गये हैं। यहाँ ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म के उत्तर कारणों का अभिप्राय मूल कारणों को ध्यान में रखकर समझने का प्रयास किया जा रहा है।

समस्त कर्म—बंध का मूल कारण विषय—सुखों का भोग है। जिससे विषय—भोगों की पूर्ति होती है, उसके प्रति राग उत्पन्न होता है और जिनसे विषय—भोगों में बाधा उपस्थित होती है, उनके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् विषय—भोगों की अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष उत्पन्न होता है। राग की अभिव्यक्ति माया (ममता) और लोभ (लुब्धता) के रूप में होती है और द्वेष की अभिव्यक्ति क्रोध (क्षोभ—विषाद) एवं मान (अहंकार) के रूप में होती है। इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय राग—द्वेष रूप हैं एवं विषय—भोगों की देन हैं। विषय—भोग की रुचि से इन्द्रिय की अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति होती है जिसे योग

कहा है। भोग युक्त योग से ही कषाय पैदा होता है। इस प्रकार योग और कषाय ही कर्म-बंध के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म-बंध के कारण राग-द्वेष तथा योग-कषाय हैं और इनका कारण विषय-भोग है। यह सबका अनुभव है कि विषय-भोग की कामना उत्पन्न होते ही चित्त अशान्त-क्षुब्ध होता है और विषय-भोगों की पूर्ति पर-पदार्थों पर आश्रित है। अतः विषय-सुख के भोगी को पराधीन होना ही पड़ता है। विषय-सुख पराधीन होने से सभी विषय भोगों की पूर्ति हो जाय, यह प्राणी के वश की बात नहीं है और आज तक किसी के भी सभी विषय-भोगों की इच्छा की पूर्ति नहीं हुई है, अतः जिस इच्छा की पूर्ति नहीं होती अथवा जब तक पूर्ति नहीं होती, उस इच्छा की अपूर्ति रूप अभाव का दुःख भोगना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि विषय-भोग के सुख के साथ अशान्ति, अभाव, पराधीनता, नश्वरता आदि दुःख लगे हुए हैं, जो किसी को इष्ट नहीं हैं। यह ज्ञान प्राणी मात्र को है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को कोई अन्य मारे-पीटे, कष्ट दे, उसके साथ झूठ बोले, चोरी करे, निंदा करे, हानि पहुँचाये, तो उस व्यक्ति को अपने साथ की गई मार-पीट, कष्ट देना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि सारे व्यवहार व कार्य बुरे लगते हैं। यहाँ हर व्यक्ति अपने निज ज्ञान से इन कार्यों को बुरा एवं अकर्तव्य मानता है। अर्थात् अपने प्रति अकर्तव्य का व्यवहार करना, अपने अधिकारों का हनन होना किसी को भी इष्ट नहीं है। सभी इसे अपने निजज्ञान से बुरा मानते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म का सम्बन्ध अपने स्वाभाविक निजज्ञान के, श्रुतज्ञान के अनादर से है, अर्थात् विषय-भोगों का सेवन करना, अकर्तव्य है। अपने अधिकारों का हनन करने वाले को, अपने को दुःख पहुँचाने वाले को व्यक्ति बुरा मानता है। अतः जिस कार्य को वह अपने लिए बुरा मानता है, अहितकर मानता है, उन कार्यों को करना व वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति करना, दूसरों के अधिकारों का हनन करना, उनके प्रति अकर्तव्य का व्यवहार करना, निज ज्ञान का अनादर करना है, ज्ञान का प्रभाव नहीं होना है। यही ज्ञान पर आवरण आना है, ज्ञानावरण है, जो छः कारणों से होता है, यथा—

1. **प्रत्यनीकता**— ज्ञान के विपरीत आचरण करना। विषयभोग के साथ अशान्ति, अभाव, पराधीनता, चिन्ता, वियोग का भय, नश्वरता आदि

दुःख लगे हुए हैं, जो किसी को भी स्वभाव से ही पसंद नहीं हैं। यह ज्ञान सबको है। अतः विषय-भोग भोगना अपने ज्ञान के विपरीत आचरण करना है। दूसरों के प्रति हिंसा, झूठ आदि अकर्तव्य का व्यवहार करना, उनके अधिकारों को छीनना, राग-द्वेष करना आदि 18 पापों का सेवन करना, निज ज्ञान के विपरीत आचरण करना है। अतः यह प्रत्यनीकता है।

2. **अपलाप**—(निहनवता)—अपने ज्ञान को छिपाना—गोपन करना, उस ज्ञान का प्रभाव अपने पर न पड़ने देना। यथा—विषय-भोगों के साथ दुःख लगे होंगे तो लगे रहें, उन्हें स्मरण करने से क्या लाभ? अभी तो सुख मिल रहा है, इसे भोग लें। इस प्रकार ज्ञान के आचरण की उपेक्षा करना निहनवता है।
3. **अन्तराय**— यह माना कि विषय-भोग के साथ दुःख लगे हुए हैं। इनके त्यागने से ही शान्ति—स्वाधीनता आदि सुखों की उपलब्धि होती है, अतः इनके त्याग में ही हित है। त्यागना तो है, परन्तु अभी तो सुख भोग लें, भविष्य में, कालान्तर में त्याग देंगे। इस प्रकार विषय-सुखों के त्याग को वर्तमान में अंगीकार न कर कालान्तर के लिए टाल देना—ज्ञान के आचरण में अन्तराय डालना है।
4. **प्रद्वेष**—अहिंसा, संयम (त्याग), अपरिग्रह आदि धार्मिक अनुष्ठानों से हमारे व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र का विकास रुक गया, हम पिछड़ गये। अतः भोगों का त्याग हमारे विकास के लिए बाधक व घातक है, भोग ही जीवन है। भोग को त्यागना अपने सब सुखों को खोना है। अतः भोगों का त्याग करना, अपनी सबसे बड़ी हानि है। यह अपने निज ज्ञान सत्य-सिद्धान्त के प्रति द्वेष करना है।
5. **आसादन**— निजज्ञान का अनादर करना। विषय सुख क्षणिक है, तब भी सुख तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त अन्य सुख संभव ही नहीं है। अतः विषय-सुख के साथ दुःख लगा है, तो लगा रहे, हमें तो सुख भोगना है। जीवन की सार्थकता विषय-भोग में ही है। इस प्रकार सुखासक्ति में आबद्ध रहना आसादन है।
6. **विसंवाद**— विषय-भोग त्यागने पर शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता आदि मिलती है या नहीं मिलती है, इसको कौन जानता है? अतः

हमें इस पचड़े में न पड़कर अपने सुख का भोग कर लेना चाहिए, यह विसंवाद है।

इन्हीं छः कारणों को अविनाशित्व, स्वाधीनता, शान्ति, चिन्मयता आदि किसी भी स्वाभाविक गुण, निज ज्ञान के साथ घटित किया जा सकता है। संक्षेप में कहें तो विषय-भोग समस्त दुःखों की जड़ है, इस ज्ञान का प्रभाव अपने पर न होने देना, इस ज्ञान के अनुरूप आचरण न करना, विपरीत आचरण करना, इस ज्ञान की उपेक्षा करना, इसके आचरण को वर्तमान की वस्तु न मानकर भविष्य के लिए टालना, इसे अपनाने में अपने को असमर्थ समझना, निराश होना, निज ज्ञान के प्रभाव को प्रकट न होने देना है। ज्ञान पर आवरण आना है, ज्ञानावरण कर्म है।

ज्ञानावरणीय-कर्म के बंध का सम्बन्ध मोह से है। इन्द्रिय-विषय के राग रूप मोह के कारण से ही जीव अपने ज्ञान का अनादर करता है। अतः जहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय है वहीं तक ही ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। मोहनीय कर्म का क्षय व उपशम होते ही ज्ञानावरणीय कर्म का बंध रुक जाता है।

ज्ञानावरण का प्रमुख कारण : ज्ञान का अनादर

उपर्युक्त दोनों स्थलों पर अथवा अन्यत्र भी ज्ञानावरणीय कर्म के बंध के कारणों में ज्ञान के अनादर की ही बात कही गई है। यहाँ पर एवं अन्यत्र किसी भी आगम में कहीं पर भी ज्ञान के साथ ज्ञानी एवं ज्ञान के उपकरण के अनादर आदि का उल्लेख नहीं है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने ज्ञान के अनादर का अर्थ ज्ञानी व ज्ञान के साधन उपकरणों का अनादर करना लिया है। इसका कारण यही लगता है कि ज्ञान तो कोई वस्तु या व्यक्ति है नहीं, जिसका अनादर किया जाता। इसलिये गुणी में गुण का आरोप कर उपचार से ज्ञानी के अनादर को ज्ञान का अनादर कहा है, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु यह अर्थ औपचारिक ही है, वास्तविक अर्थ तो ज्ञान का अनादर करना है। यदि शास्त्रकार को ज्ञानी का अनादर अभीष्ट होता, तो ज्ञान शब्द के साथ ज्ञानी शब्द भी लगा देते अथवा ज्ञान के स्थान पर ज्ञानी शब्द का ही प्रयोग करते, परन्तु आगम में सर्वत्र ज्ञान शब्द का ही प्रयोग किया है, ज्ञानी एवं ज्ञान के साथ साधनों, उपकरणों के अनादर का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। इससे लगता है कि आगमकार को ज्ञान शब्द ही अभीष्ट था। आगे इसी सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से विचार किया जा रहा है।

ज्ञानावरणीय कर्म—बंध का मुख्य कारण है— ज्ञान का अनादर करना। ज्ञान का अनादर है— जानते हुए भी तदनुरूप आचरण न करना। उदाहरणार्थ—जैसे हमने संसार में लोगों को मरते देखा, श्मशान में जलकर राख का ढेर होते देखा, इससे प्रकृति के इस नियम का ज्ञान हुआ कि संसार में जो जन्मता है, वह मरता है, सब अनित्य है। अनित्य है, उसे नित्य बनाये रखने का प्रयत्न करना तथा उससे राग करना व्यर्थ है। फिर भी हम अपने इस ज्ञान का आदर न कर अनित्य पदार्थों से सम्बन्ध जोड़ते एवं उनका संग्रह करते रहें, तो यह ज्ञान या विवेक व्यर्थ हो जायेगा, इससे कुछ भी लाभ नहीं होगा।

जो वस्तु है ही नहीं उसका अनादर, उसका विरोध, उसकी आशातना आदि हो ही नहीं सकते। ये सब बातें जो उपस्थित या विद्यमान हैं उनके साथ ही हो सकती हैं। जैसे कोई व्यक्ति जिस शास्त्र को नहीं जानता अर्थात् परिचित नहीं है, उससे उस शास्त्रीय ज्ञान का क्या अनादर हो सकता है? शास्त्र जिस पुस्तक में लिखा है उस पुस्तक में जैसा कागज है और अक्षर लिखे हुए हैं, वैसा कागज और वे ही अक्षर अन्य क्रम से समाचार पत्र में भी हैं। समाचार पत्र में भी किसी न किसी प्रकार का ज्ञान तो है ही, तो क्या समाचार पत्र में वस्तु रखकर खाना ज्ञान का अनादर है? आगम—मुद्रण के लिए जिन अक्षरों को कम्पोज किया और मशीन पर कागज दाबकर छपाई की गई, तो क्या यह कार्य ज्ञान का अनादर हुआ? क्या इससे ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हुआ? फिर अन्य पुस्तकों की छपाई के लिये कम्पोज के उन अक्षरों को बिखेरा गया, तो क्या ज्ञान के नाश रूप अनादर का दोष लगा? क्या गणित, भूगोल, भाषा, इतिहास, विज्ञान, संगीत, नृत्य आदि विद्याएँ सीखना, साहित्य पढ़ना ज्ञान है? यदि ज्ञान है, तो साधु मुनिराज जो इन विद्याओं को नहीं सीखते, इनकी उपेक्षा या अनादर करते हैं, तो क्या उनके ज्ञान का आवरण हुआ? एकेन्द्रिय निगोद जीव तो एक शरीर में अनन्त होते हैं, वे तथा विकलेन्द्रिय आदि जीव इन छः कारणों में से उपर्युक्त व्याख्याओं के अनुसार किसी भी कारण का सेवन नहीं करते हैं। अतः इनके ज्ञानावरणीय कर्म का बंध नहीं होना चाहिए। परन्तु आगम में कहा गया है कि उन निगोद जीवों के भी ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म का बंध उसी प्रकार सदैव निरन्तर होता रहता है, जिस प्रकार मोहनीय आदि अन्य कर्मों का बंध होता है।

यदि राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, सांख्य, योग, मीमांसक, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि के ग्रंथों को ज्ञान माना जाय और उनके अनादर को कर्म बंध का कारण माना जाए, तो जैनाचार्यों ने उनको बुरा बताकर खण्डन किया है अर्थात् इनका बहुत अनादर किया है। अतः उनके ज्ञानावरणीय का बहुत बंध हुआ, ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा माना नहीं गया है। अतः कहना होगा कि यहाँ ज्ञान शब्द से अभिप्राय में उपर्युक्त शास्त्रों के ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है तब कर्मोदय के प्रसंग में ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से गणित, दर्शन, न्याय, भाषा आदि विषयों, शास्त्रों का ज्ञान हो यह कैसे संभव है? इन विषयों का ज्ञान सीखने से होता है। यदि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता, तो क्षयोपशम होते ही स्वतः हो जाता, सीखने का श्रम नहीं करना पड़ता अर्थात् इन ग्रंथों का अधिक या कम ज्ञान होने या बिल्कुल नहीं होने से ज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

ज्ञान के अनादर का अभिप्राय किसी आगम या सूत्र की पुस्तक का अनादर भी नहीं माना जा सकता है कारण कि भगवान महावीर के समय में कोई पुस्तक थी ही नहीं। अतः उस समय ज्ञान के अनादर सूचक सूत्र की रचना ही व्यर्थ हो जाती है साथ ही ग्रंथ या पुस्तक को ज्ञान मानने पर, पुस्तक जलने पर ज्ञान का भी जलना माना जायेगा। सूत्र पुस्तक के लिये जो ज्ञान का अनादर कहा जाता है, वह कथन उपचार से हो सकता है, वस्तु स्थिति से नहीं है। अतः किसी पुस्तक का अनादर, ज्ञान का अनादर नहीं माना जा सकता।

यदि ज्ञान शब्द के अर्थ में ज्ञानी व्यक्ति, ज्ञेय वस्तुएँ, ज्ञान की पुस्तकें ग्रहण करेंगे, तब दर्शनावरणीय शब्द में प्रयुक्त दर्शन के अर्थ में भी दर्शक व्यक्ति, दृश्य वस्तुएँ, दर्शन कराने में सहायक ऐनक आदि को ग्रहण करना होगा। क्योंकि जैनागमों में दर्शनावरणीय कर्म बंध के भी वे ही छः कारण दर्शन के साथ लगाकर बताये गये हैं, जो ज्ञान के साथ लगाकर बताये हैं अर्थात् दर्शन का अनादर करना, विरोध करना आदि। इन सबके अर्थ यहाँ दर्शनपरक होंगे और चक्षुदर्शनीय शब्द में अभिप्रेत मनुष्य, पशु-पक्षी, मक्खी, मच्छर, मनुष्य आदि के साथ कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, आग, जल, पृथ्वी आदि दृश्य पदार्थों का भी व इनका दर्शन करने वाले द्रष्टा का भी

ज्ञानी के समान आदर करना होगा तथा दर्शन में सहायक ऐनक का भी आदर करना होगा। ऐसे अर्थ करना हास्यास्पद तथा निष्प्रयोजन भी होंगे। आशय यह है कि वहाँ ज्ञान-दर्शन शब्द से अभिप्रेत अर्थ आत्मा का ज्ञान-दर्शन गुण ही है, न कि उनके स्वामी ज्ञानी व उनकी साधन भूत सामग्री पुस्तक आदि, क्योंकि प्राणिमात्र ज्ञान-दर्शन गुण युक्त होने से ज्ञानी व दर्शनी है। कोई भी प्राणी ज्ञान-दर्शन रहित नहीं है। अतः प्राणिमात्र का अनादर, ज्ञान व दर्शन का अनादर होगा। परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है। यदि ज्ञानी व दर्शनी शब्द का अभिप्राय सम्यक् ज्ञानी व सम्यक् दृष्टि व्यक्ति को लिया जाय और उनका अनादर माना जाए, तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय के ज्ञान-दर्शनावरणीय का बंध ही नहीं होगा कारण कि सम्यग्ज्ञानी और सम्यक् दृष्टि व्यक्ति तो विरले ही होते हैं। इनका उनसे संपर्क ही नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रसंग में ज्ञान शब्द ज्ञानी व ज्ञान की साधनभूत सामग्री से संबंधित नहीं है, कारण कि कोई व्यक्ति पाकशास्त्र के ज्ञाता एवं पाक-शास्त्र को हजार बार प्रणाम करे, पाकशास्त्र की पूजा करे, तो उससे भोजन नहीं बनने वाला है, कोई लाभ नहीं होने वाला है, भूख नहीं मिटने वाली है। वस्तुतः यहाँ ज्ञान के अनादर से अभिप्राय उस ज्ञान व विवेक से है, जो शाश्वत है, जो जीव का स्वभाव है। उस ज्ञान से नहीं है, जो इन्द्रिय जन्य है, परिवर्तनशील है। जैसे मैंने चक्षुइन्द्रिय से कश्मीर की प्राकृतिक छटा का सौन्दर्य देखा, उसका ज्ञान हुआ, मैंने संगीत सुना उसके माधुर्य का ज्ञान हुआ, मैंने मिष्ठान्न खाया उसकी मधुरता का ज्ञान हुआ। अर्थशास्त्र पढ़ा, काम-शास्त्र पढ़ा, गणितशास्त्र पढ़ा, भाषा का अध्ययन किया, इन सबका ज्ञान हुआ और मैंने इन सब ज्ञानों को अनावश्यक माना, व्यर्थ माना, बंधन का कारण माना या अन्य किसी कारण से मैंने उनकी उपेक्षा की, अनादर किया, भूल गया, इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध नहीं होने वाला है— ज्ञान गुण की हानि नहीं होने वाली है, क्योंकि यह सारा ज्ञान इन्द्रियों के भोग से संबंधित ज्ञान है। नश्वर ज्ञान है, जिसे किसी न किसी दिन भूलना ही है और भूलने में ही हित है। अतः यहाँ ज्ञान शब्द से इन शास्त्रों का ज्ञान अभिप्रेत नहीं है। इसीलिए जैनागमों में साधकों के लिए इन शास्त्रों के पढ़ने का निषेध किया गया है। अर्थात् इन शास्त्रों का पढ़ना ज्ञान का अनादर है।

जैनागम में आया ज्ञान शब्द स्वाध्याय के अर्थ में है— पराध्याय अर्थात् पर के अध्ययन के रूप में नहीं है। अपने दोषों या विकारों की उपस्थिति, विकारों के परिणाम, विकारों के निवारण के उपाय व निर्दोषता को जानना अर्थात् स्व का अध्ययन करना, वस्तु-स्वभाव को जानना ही स्वाध्याय है, स्वाध्याय करना ही वास्तविक ज्ञान है। दोषों को दोष रूप या दुःखद जानने से दोष-त्याग का सामर्थ्य आता है, जिससे दोष का त्याग होता है। जीवन निर्दोष व निष्पाप बनता है अर्थात् आत्मा के गुणों का घात करने वाले ज्ञानावरणीय आदि पाप कर्मों का क्षयोपशम व क्षय होता है, जो स्वाध्याय करने से अर्थात् ज्ञान का आदर करने से ही संभव है। सत् शास्त्र का पठन, चिंतन व चर्चा स्वाध्याय का सहयोगी अंग है। इस दृष्टि से सत् शास्त्र का पठन भी ज्ञान का आदर है।

यद्यपि ज्ञानावरणीय-कर्म के उपर्युक्त छः बंध के कारणों में आगम में सर्वत्र ज्ञान से संबंधित अनादर शब्द का ही प्रयोग हुआ है। कहीं पर भी इन कारणों के साथ ज्ञानी व ज्ञान के साधनों का उल्लेख नहीं है। परन्तु, वर्तमान में ज्ञान के साथ ज्ञानी व ज्ञान के साधनों को भी इन छः कारणों के साथ जोड़ दिया गया है और मुख्य स्थान दिया गया है, जो उचित व उपयुक्त नहीं लगता है। ज्ञानी शब्द के साथ 6 कारणों को लगाते से अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम तो आगम में ज्ञानी उसे माना है जो सम्यक्दृष्टि है, सम्यक्दृष्टि जीव तो विरले ही होते हैं। अतः वनस्पतिकाय के अनन्तानन्त जीव पृथ्वी, पानी आदि स्थावर व विकलेन्द्रिय के असंख्यात जीवों के लिये तो ज्ञानियों के अनादर आदि इन छः कारणों का प्रसंग ही उत्पन्न नहीं होता। अतः इन अनन्तानन्त जीवों के तो ज्ञानावरणीय-कर्मबंध ही नहीं होना चाहिये, जबकि कर्म-सिद्धान्त में इन सभी जीवों के प्रतिक्षण ज्ञानावरणीय-कर्म का बंध होना माना है। यदि ज्ञानी शब्द से मिथ्यात्वी जीवों को भी ग्रहण किया जाय, तो सभी प्राणी ज्ञानी हैं, कोई भी अज्ञानी नहीं है। अतः प्राणिमात्र का अनादर ही ज्ञानावरणीय-कर्मबंध का कारण हो जायेगा। फिर इन छः कारणों के साथ ज्ञानी शब्द लगाना ही व्यर्थ हो जायेगा। तथ्य तो यह है कि प्राणी के अनादर करने से ज्ञान पर आवरण आना न तो युक्तियुक्त है और न ही उपयुक्त। फिर निगोद के जीव जो एक शरीर में अनन्त होते हैं, वे किसी

भी प्राणी का अनादर कर ही नहीं सकते, उनके ज्ञानावरणीय—कर्म का बंध ही संभव नहीं होगा। यदि आगमकार को ज्ञानावरणीय—कर्म के बंध के कारणों में ज्ञानी शब्द अभीष्ट होता, तो ज्ञान के साथ ज्ञानी शब्द भी सूत्र में लगा देते, मात्र ज्ञान शब्द लगाकर ही न रह जाते।

दूसरा तथ्य यह है कि जो छः कारण ज्ञानावरणीय—कर्म के साथ लगाये गये हैं, वे ही छः कारण में दर्शनावरणीय कर्म में दर्शन शब्द के साथ लगाये गये हैं। अतः जो नियम ज्ञानावरणीय—कर्म पर लागू होता है, वही नियम दर्शनावरणीय—कर्म पर लागू होगा। इस तथ्य को समझ लेने के लिए दर्शनावरणीय—कर्म को लेते हैं। यदि ज्ञान से ज्ञानी व ज्ञान के साधन को ग्रहण किया जाय, तो दर्शन व दर्शन के साधनों का ग्रहण करना होगा। सभी जीवों में अचक्षु दर्शन तो है ही। अतः सभी जीव दर्शनयुक्त हैं, कोई भी दर्शन रहित नहीं है। अतः सभी जीवों का अनादर दर्शनावरणीय—कर्मबंध का कारण होगा, यही ज्ञानावरणीय—कर्मबंध का भी कारण होगा। दर्शन का अर्थ है—देखना। अतः दर्शन के अनादर का अर्थ हुआ दृश्यमान वस्तुओं को न देखना, परन्तु दृश्यमान वस्तुओं के न देखने से, आँख बन्द कर लेने से, आँख का संयम करने से दर्शनावरणीय—कर्म बढ़ जाता हो, ऐसा नहीं है। यही सिद्धान्त ज्ञानावरणीय पर भी चरितार्थ होता है अर्थात् अधिक ज्ञेय पदार्थों को न जानने से तथा वस्तुओं, खगोल, भूगोल, गणित, भाषाएँ, व्याकरण, इतिहास आदि लौकिक विषयों का ज्ञान न होने से ज्ञानावरणीय—कर्म अधिक हो जाता हो, ऐसा नहीं है।

ज्ञान एवं अज्ञान में तात्त्विक भेद

अज्ञानावरणीय कोई कर्म नहीं है। अतः अज्ञान का क्षयोपशम स्वतंत्र रूप से नहीं है। मोहनीय कर्म की, कषाय की हानि से, विशुद्धि भाव से दर्शनावरणीय का क्षयोपशम होता है। जिससे दर्शन गुण प्रकट होता है—चेतनता का विकास होता है। इन्द्रियों की उपलब्धि होती है, जिनके माध्यम से मतिज्ञान होता है। मोहनीय कर्म में जितनी कमी होगी, उतना ही दर्शन व ज्ञान गुण का आदर होता है, विकास होता है। जिससे दर्शन व ज्ञान की उपयोगिता की क्षमता बढ़ती है। उस क्षमता का उपयोग करना या न करना, कम करना या अधिक करना प्राणी पर निर्भर है। इन सबसे ज्ञान गुण घटता—बढ़ता नहीं है। उस क्षमता का दुरुपयोग (विषय—कषाय

का सेवन) करने से मोहनीय कर्म के नवीन बंध में वृद्धि होती है, जिससे दर्शनावरणीय—ज्ञानावरणीय कर्म के अनुभाव एवं स्थिति बंध में वृद्धि होती है। क्षयोपशम में कमी होती है।

मोहनीय कर्म की कमी से, ज्ञान गुण का आदर होने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होकर ज्ञान गुण का विकास होता है। यही ज्ञानावरणीय कर्म का विकास मिथ्यात्व के कारण विपरीत—विपर्यास अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसे ही अज्ञान कहा जाता है। अज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अज्ञान ज्ञान का ही विपरीत रूप है। अतः मिथ्यात्वी का जितना ज्ञान बढ़ता है, उसका यह ज्ञान ही अज्ञान का रूप धारण करता है। इसीलिए मिथ्यात्वी के ज्ञानावरण के क्षयोपशम को ही अज्ञान का क्षयोपशम कहा जाता है। इस अज्ञान में से मिथ्यात्व को निकाल दें तो वही अज्ञान ज्ञान कहलाता है। जो पहले मति अज्ञान था, वही अब मतिज्ञान हो जाता है और इस ज्ञान में कुछ भी घट—बढ़ नहीं होती है अर्थात् मिथ्यात्व के हटने से वह मतिअज्ञान व मतिज्ञान घटता—बढ़ता नहीं है। अज्ञान का उपयोग घटने—बढ़ने से अज्ञान व ज्ञान का क्षयोपशम घटता—बढ़ता नहीं है। दर्शनोपयोग के समय अज्ञान का उपयोग बिल्कुल नहीं होता। उपयोग न होने से अज्ञान घट—बढ़ एवं मिट नहीं जाता है। ज्ञान गुण जो जीव का स्वभाव है उसी का विपरीत रूप 'अज्ञान' है। ज्ञान गुण प्रकट न हो, तो अज्ञान संभव ही नहीं है। मिथ्यात्व युक्त ज्ञान ही अज्ञान है।

वस्तुओं का आकार—प्रकार, रंग—रूप दिखाई देना, चक्षु दर्शन का उपयोग नहीं है। यह चक्षु मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमजन्य ज्ञान के उपयोग का परिणाम है। चक्षु दर्शन व चक्षु मतिज्ञान या अज्ञान, ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग तथा ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय कर्म का उदय कर्म बंध के कारण नहीं हैं। इनका उपयोग चारित्र मोहनीय कर्म में करना दुरुपयोग है। यह दुरुपयोग पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाग के बंध का कारण है तथा इनका सर्वहितकारी प्रवृत्ति में किया गया सदुपयोग पुण्य कर्म के अनुभाग वृद्धि का कारण है। इनका दुरुपयोग चारित्र मोहनीय है और सदुपयोग चारित्र मोहनीय में कमी होना है। कर्म की स्थिति व अनुभाग बंध का कारण एक मात्र कषाय चारित्र मोहनीय है, ज्ञान—दर्शन नहीं है। ज्ञान के सदुपयोग से, आदर से चारित्र मोहनीय में कमी अवश्य

होती है। ज्ञान का दुरुपयोग (विषय-भोग) ही ज्ञान का अनादर है। यह चारित्र मोहनीय की वृद्धि का हेतु है। पाँच ज्ञान में महत्त्व श्रुतज्ञान का ही है। श्रुतज्ञान के ज्ञानरूप होने से मतिज्ञान और अवधिज्ञान ज्ञान रूप होते हैं। श्रुत के अज्ञान रूप होने से मतिज्ञान व अवधि ज्ञान, अज्ञान रूप होते हैं। मतिज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है। इन्द्रिय ज्ञान के प्रभाव से भोगेच्छा जागृत होती है। भोगवती बुद्धि इस प्रभाव को पुष्ट करती है, यही मति अज्ञान है। विवेकवती बुद्धि इस प्रभाव को क्षीण करती है, यह मतिज्ञान है। विवेक का सम्बन्ध श्रुतज्ञान से है। विवेक है— निज ज्ञान, सहज—स्वाभाविक, सत्य—सनातन ज्ञान, जो मानव मात्र को सदैव प्राप्त है। विवेक आत्मा का गुण है, किसी कर्म की देन एवं फल नहीं है।

ज्ञान-अज्ञान का जीवन पर प्रभाव

महत्त्व या मूल्य उसी का है, जिससे जीव का हित हो। यही बात ज्ञान पर भी चरितार्थ होती है। जिस ज्ञान से अपना हित हो, वही ज्ञान है, जिस ज्ञान से अहित हो, वह अज्ञान है। जिस ज्ञान का अनुसरण करने से परिणाम में दुःख मिले, वह ज्ञान अहितकर है। वह अज्ञान है। यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। प्रत्युत भ्रान्त ज्ञान है। जैसे यह मानना कि बाह्य पदार्थ, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सुख—दुःख के कारण हैं—यह ज्ञान भ्रान्त ज्ञान है, अज्ञान है, क्योंकि वस्तुतः बाह्य पदार्थ या घटनाएँ सुख—दुःख के कारण नहीं हैं। यदि ये सुख—दुःख के कारण होते, तो सुखद वस्तु सदा सुख ही देती रहती, परन्तु ऐसा नहीं होता है। उदाहरणार्थ ताजमहल देखने के सुख को ही लें, एक व्यक्ति ताजमहल के सौन्दर्य की प्रशंसा पढ़कर या सुनकर, हजारों रुपया व्यय कर विदेश से भारत आया और आगरा गया, वहाँ ताजमहल देखा और उसके सौन्दर्य को देखकर बड़ा हर्षित हुआ। परन्तु वह हर्ष या सुख कुछ ही घंटों में क्षीण होता हुआ खत्म हो गया। अब उसे ताजमहल देखने में कोई रस या सुख नहीं रहा और वह वहाँ से जाने के लिए आतुर होने लगा। यहाँ विचारणीय बात यह है कि यदि ताजमहल देखने में कोई रस या सुख होता, तो ताजमहल भी वही है व वैसा का वैसा है, व्यक्ति भी वही है, आँखों में देखने की शक्ति भी ज्यों की त्यों है। अर्थात् दृश्यवस्तु, वस्तु को देखने वाला व्यक्ति, देखने की शक्ति आदि सब ज्यों की त्यों ही है। अतः सुख भी ज्यों

का त्यों बना रहना चाहिये, परन्तु सबके ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हुए भी सुख का अंत हो जाता है। ताजमहल के पहरेदार को तो ताजमहल देखने में सुख लगता ही नहीं है। इससे यह परिणाम निकलता है कि ताजमहल सुख नहीं देता, यदि ताजमहल देखने से सुख मिलता, तो उसे देखने वाले सब व्यक्तियों को, सब काल में, सदा एक—सा सुख मिलता। यही तथ्य खाने—पीने—सुनने आदि पर भी लागू होता है। वास्तविकता यह है कि कोई भी बाह्य पदार्थ वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि सुख—दुःख नहीं देते, इन्हें सुख—दुःख का कारण मानना या समझना भूल है, भ्रान्ति है, अज्ञान है।

अपने सुख—दुःख का कारण बाहरी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि को मानना बहिर्दृष्टि है, यही अज्ञान है, क्योंकि बाहरी वस्तुएँ या घटनाएँ वास्तव में सुख—दुःख की कारण नहीं हैं। यदि ये सुख—दुःख का कारण होतीं, तो सबको एक समान सुख—दुःख देतीं तथा सुखद वस्तु सदा सुख देती और दुःखद वस्तु सदा दुःख देती। एक ही वस्तु या घटना जो किसी एक व्यक्ति के लिए सुखद होती है वही किसी दूसरे व्यक्ति के लिए दुःखद होती है। इसी प्रकार जो वस्तु या घटना किसी व्यक्ति के लिए अभी सुखद है वही कालान्तर में उसके लिए दुःखद हो जाती है। यदि बाहरी वस्तु, घटना आदि सुख—दुःख का कारण होती, तो सबको, सब काल में, सब क्षेत्र में, सब अवस्थाओं में एक—सा सुख या दुःख देती। इससे यह फलित होता है कि सुख—दुःख का कारण वस्तु, व्यक्ति, घटनाएँ आदि बाह्य सामग्री नहीं है। इस सत्य ज्ञान को स्वीकार न करना और बाह्य सामग्री को सुख—दुःख का कारण मानना अज्ञान है।

वस्तुतः सुख—दुःख का कारण वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि बाहरी सामग्री न होकर प्राणी के अन्तरंग में होने वाली राग—द्वेषात्मक प्रतिक्रिया है। यदि व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि की कोई प्रतिक्रिया न करे, उनके प्रति तटस्थ रहे, केवल ज्ञाता—द्रष्टा रहे, तो उसे सुख—दुःख नहीं होता है। इससे यह फलित होता है कि सुख—दुःख का कर्त्ता—अकर्त्ता अन्य कोई न होकर प्राणी स्वयं ही है। इस तथ्य को स्वीकार करना ही ज्ञान है। जैसा कि कहा है— अप्पा कत्ता—विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। (उत्तरा. अध्ययन 20 गाथा 37) अर्थात् आत्मा स्वयं ही अपने सुख—दुःख का कर्त्ता—अकर्त्ता है। अपने सुख—दुःख का कारण अपने अन्तर में देखने

वाला ही अंतर्दृष्टि है, वही ज्ञानी है। जो दुःख का कारण अपने को मानता है, वही दुःख के कारण का निवारण का दुःख से मुक्ति पा सकता है। जिस ज्ञान से दुःख से सदा के लिए आत्यन्तिक मुक्ति मिले, वही सम्यक् ज्ञान है।

ज्ञानावरण और अज्ञान में भेद

जैनागमों में प्राणी को जहाँ अज्ञानी कहा है, वहाँ कहीं पर भी इसका अभिप्राय ज्ञान का नाश होना नहीं है, अपितु ज्ञान का विपर्यास होना है। विपर्यास का अर्थ है— विपरीत धारणा अर्थात् जो जैसा है, वैसा नहीं मानना और जो जैसा नहीं है, उसे वैसा मानना। इसे मिथ्याज्ञान या मिथ्यात्व भी कहा है। मिथ्यात्व युक्त ज्ञान को ही अज्ञान कहा गया है और मिथ्याज्ञान वाले को मिथ्यात्वी कहा गया है। जो मिथ्यात्वी नहीं है, उसे सम्यक्त्वी कहा गया है। सम्यक्त्वी का सारा ज्ञान सम्यक्ज्ञान होता है। कहीं पर किसी भी अंश में उसे अज्ञानी नहीं कहा गया है, फिर भले ही उसे खगोल, भूगोल, इतिहास, गणित, विज्ञान आदि का किंचित् भी ज्ञान नहीं हो।

सम्यक्त्वी के ज्ञान पर भी आवरण होता है। अतः ज्ञान पर आवरण आना मिथ्याज्ञान नहीं है। ज्ञान पर आवरण आना अलग बात है और ज्ञान का विपर्यास होना अलग बात है। दोनों बातें भिन्न—भिन्न हैं। ज्ञान पर आंशिक आवरण तो केवलज्ञान होने के पूर्व क्षण तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक सभी जीवों के रहता है। जबकि मिथ्याज्ञान या मिथ्यात्व पहले व दूसरे गुणस्थान में ही रहता है। मिथ्यात्व युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है। ज्ञान का आदर न करना ज्ञान पर आवरण आना है। विषय—भोग का सुख, जो आकुलता युक्त होने से दुःख रूप ही है, उसमें सुख का दर्शन (अनुभव) करना वास्तविक सुख मानना मिथ्यादर्शन है, मिथ्यात्व है। इसी प्रकार अपना सुख भूमि, धन, धान्य, संपत्ति की प्राप्ति में मानना पराश्रित या पराधीन होना है। कारण कि इनका वियोग अवश्यम्भावी है, ये सदा साथ रहने वाले नहीं हैं, न ये साथ आए हैं, न साथ जायेंगे। न इन पर प्राणी का स्वतन्त्र अधिकार है, क्योंकि वह इन्हें जब चाहे, जितना चाहे, जैसा चाहे, वैसा निर्माण करने, उपार्जन करने व सुरक्षित रखने में समर्थ नहीं है। यह उसके अधीन नहीं है। अतः इन पर निर्भर होना पराधीनता है। अर्थात् अपने से भिन्न वस्तुएँ पर हैं, उन 'पर' वस्तुओं पर सुख की निर्भरता पराधीनता है। इस पराधीनता को अर्थात् भूमि, भवन, धन आदि की प्राप्ति

से अपने को स्वाधीन अनुभव करना पराधीनता में स्वाधीनता मानना है, जो मिथ्यात्व है— मिथ्याज्ञान है, विपर्याय है, भूल है, अज्ञान है। इस पराधीनता को जानते हुए भी इनके सुख की दासता में आबद्ध होना, इन्हें न त्यागना, अपने ज्ञान की उपेक्षा करना है, अनादर करना, यही ज्ञान पर आवरण है। अभिप्राय यह है कि प्राणी का ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता, उस पर आवरण आता है या उसका विपर्याय होता है, भ्रान्ति होती है। आगम में ज्ञान पर आए आवरण को अज्ञान नहीं कहा है— भ्रान्ति को अज्ञान कहा है। जो ज्ञान जीवन के लिए हितकर है, राग, द्वेष, मोह, विषय—कषाय आदि विकारों को दूर करने वाला है, वही सम्यक् ज्ञान है। कहा भी है—णाणस्स फलं विरई। अर्थात् ज्ञान का फल विरति है। जो विषय—कषाय को बढ़ाने वाला, कामना—वासना उत्पन्न करने वाला है, वह ज्ञान नहीं है, अज्ञान है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय व केवलज्ञान— इन पाँचों ही ज्ञानों पर आवरण आता है और जब तक मोह का उदय रहता है, तब तक आवरण का बंध व उदय रहता ही है। यह नियम है कि मोह के घटने—बढ़ने से आवरण घटता—बढ़ता है, इसलिये मोह के क्षीण होने के पश्चात् ही ज्ञान से आवरण का पूर्ण क्षय होता है। इस प्रकार आवरण के बंध का कारण अनाचरण, ज्ञान का अनादर रूप चारित्र—मोह है। किन्तु अज्ञान का सम्बन्ध दर्शनमोहनीय से ही है अर्थात् दर्शन व दृष्टि से है। जहाँ सम्यक्दर्शन है, वहीं ज्ञान है और जहाँ सम्यक् दर्शन का अभाव है, वहाँ अज्ञान है। दर्शन का सम्बन्ध मान्यता से है। जो जीव इन्द्रिय व देह तथा इनसे मिलने वाले सुख को अपना जीवन मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो इनको जीवन नहीं मानता है और ध्रुवत्व की प्राप्ति में अपना जीवन मानता है, वह सम्यक्दृष्टि है। सम्यक्दृष्टि का लक्ष्य मुक्ति पाना है और मिथ्यादृष्टि का लक्ष्य विषय—भोगों को प्राप्त करना है।

जैन—दर्शन में अज्ञान शब्द का प्रयोग ज्ञान के निषेध, अल्पज्ञान व ज्ञान के अभाव के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है, प्रत्युय विपरीत ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिस ज्ञान का लक्ष्य व निर्णय शरीर व संसार से अतीत होना है व दुःख से आत्यन्तिक मुक्ति पाना है, वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। क्योंकि इसी में जीव का हित है, परन्तु जो दुःख से मुक्ति पाना तो चाहता है, किन्तु दुःख से मुक्ति पाने के लिये विषय—सुखों का सेवन करता है,

उसे प्राकृतिक विधान से विवश हो दुःख भोगना ही पड़ता है। अतः विषय-भोगों के सुखों को जो वस्तुतः सुखाभास है, सुख समझना मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान ही अज्ञान है और पुरुषार्थ की कमी या प्रमाद से ज्ञान के अनुरूप आचरण न करना ही ज्ञानावरण है। आशय यह है कि अज्ञान का सम्बन्ध मिथ्यादर्शन से है और आवरण का सम्बन्ध तदनुरूप आचरण न करने से है। इसलिये दर्शन की विशुद्धि से, सम्यग्दर्शन से अज्ञान का नाश होता है और चारित्र की विशुद्धि से ज्ञान के आवरण का क्षय होता है।

यहाँ यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक ही है कि आगम में जिस ज्ञान के अनादर को ज्ञानावरणीय-कर्म का हेतु कहा है, वह ज्ञान क्या है? तो कहना होगा कि आगम में स्वभाव के ज्ञान को, स्वाभाविक ज्ञान को ही ज्ञान कहा है। स्वभाव का ज्ञान व स्वाभाविक ज्ञान कभी नहीं बदलता है। सभी के सदा समान व एक-सा रहता है। जैसे किसी से पूछा जाय कि तुम्हें स्वाधीनता पसंद है या पराधीनता? तो सभी यही कहेंगे कि हमें स्वाधीनता पसन्द है। कोई भी यह नहीं कहेगा कि मुझे पराधीनता पसंद है। स्वाधीनता का यह ज्ञान सबको सहज, स्वतः प्राप्त है। यह ज्ञान किसी अन्य व्यक्ति के कथन व बुद्धि की देन नहीं है, क्योंकि बुद्धि सभी की समान नहीं होती। अतः बुद्धिजन्य चिंतन, निर्णय, ज्ञान सभी का समान नहीं होता है और सभी व्यक्तियों का कथन भी समान नहीं होता है। अतः जिस ज्ञान में समानता है, नाम मात्र भी भेद व भिन्नता नहीं है वह ज्ञान, बुद्धि आदि परिवर्तनशील पदार्थों की देन नहीं है। वह ज्ञान अपरिवर्तनशील, नित्य, शाश्वत, सनातन, ध्रुव है। यह ज्ञान कभी न तो नष्ट होता है और न बदलता ही है। यह ज्ञान स्वभावजन्य होता है। स्वभावजन्य, स्वतः, सहज, अनायास होता है, स्वाभाविक व स्वयंसिद्ध होता है।

स्वभाव के ज्ञान को, स्वाभाविक ज्ञान को ही विवेक व ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान सबमें सदैव ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है। अमरत्व (ध्रुवत्व, अविनाशित्व), स्वाधीनता (मुक्ति), अक्षय-अखंड-अनन्त सभी को सदा-सर्वथा अभीष्ट है। फिर भी तन, मन, धन आदि विनाशी वस्तुओं से जुड़ना, पर-पदार्थों के आधीन (पराधीन) होना; क्षणिक सुख को चाहना, यह निज ज्ञान का, स्वाभाविक ज्ञान का अनादर करना है, यही ज्ञानावरण है।

प्रश्न उठता है कि प्राणी निज ज्ञान का, विवेक का अनादर क्यों करते हैं, तो कहना होगा कि मोह के तथा विषय-कषायजन्य सुखों के भोग की आसक्ति में आबद्ध होने के कारण ही प्राणी निज ज्ञान का अनादर करता है। जब तक प्राणी की दृष्टि तत्काल प्रतीत होने वाले विषय सुख पर रहती है, उस विषय सुख के क्षणिक स्वभाव की ओर नहीं जाती यदि कदाचित् दृष्टि जाती भी है तो विवेक जागृत नहीं होता और विवेक जागृत भी होता है, तब भी विषय-सुख की लोलुपता एवं दासता में आबद्ध प्राणी अपने विवेक की उपेक्षा करता है, यही ज्ञान का तथा विवेक का अनादर है, यह ही समस्त दोषों की व समस्त कर्म-बन्धनों की जड़ है। इसी से आठों ही कर्मों का बंध होता है। फलस्वरूप प्राणी को विवश होकर न चाहते हुए भी दुःख भोगना पड़ता है। अतः जिन्हें दुःख से पूर्णतया सदा के लिए मुक्ति पाना है, उन्हें निज ज्ञान का आदर कर विषय-कषायजन्य सुखों का त्याग करना ही होगा। मानव जीवन की सार्थकता तथा सफलता इसी में निहित है। ज्ञान के आदर से ही समस्त दोषों, दुःखों व कर्मों का क्षय संभव है। इसी से शान्ति, मुक्ति, अक्षय-अनन्त सुख की उपलब्धि होने वाली है।

इन्द्रिय जगत् के ज्ञान से जो भोग का सुख मिलता है, उसमें प्राणी इतना आबद्ध हो जाता है कि उसे इस सुख की उपलब्धि ही जीवन लगने लगती है, जबकि वास्तविकता यह है कि वह सुख कामना पूर्ति से नहीं मिलता, कामना के अभाव से मिलता है। प्राणी इस तथ्य को नहीं समझ पाता, यह ही मूल भूल है। जब प्राणी विषय-सुख की दासता में आबद्ध हो जाता है तो अपनी बुद्धि और निजज्ञान का उपयोग विषय-भोग एवं विषय सुख की प्राप्ति में करता है। विषय-सुख क्षणिक है, पराधीनता, आकुलता और दुःख युक्त है। उस विषय-सुख और उन सुखों की भोग्य सामग्री को वह नित्य, स्थायी बनाना चाहता है। पराधीनता को स्वाधीनता समझता है, विषय-विकार को जीवन समझता है, यह सब अज्ञान है। निजज्ञान, विवेक एवं श्रुतज्ञान का प्रभाव न होना, तदनुरूप आचरण न करना, ज्ञान पर आवरण है।

ज्ञान गुण और ज्ञानोपयोग में अन्तर

पहले कह आए हैं कि ज्ञान, दर्शन गुण के उपयोग के घटने-बढ़ने से ज्ञान-दर्शन गुण घटता-बढ़ता नहीं है। मोहनीय कर्म के घटने-बढ़ने

से ज्ञान दर्शन का आवरण घटता-बढ़ता है। जितना मोहनीयकर्म घटता है उतना ही ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म घटता है। अर्थात् ज्ञान व दर्शन गुण बढ़ता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान-दर्शन के आवरण का क्षयोपशम बढ़ता है। इसके विपरीत मोहनीय कर्म के बढ़ने से दर्शन एवं ज्ञान-गुण का आवरण बढ़ता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान और दर्शन-गुण का घटना-बढ़ना मोहनीयकर्म के घटने-बढ़ने पर निर्भर करता है, ज्ञानोपयोग-दर्शनापयोग पर नहीं। जैसे आँख खोलते ही सामने की हजारों वस्तुएँ दिखाई देती हैं-बगीचे की ओर देखने से हजारों वृक्ष-पौधे- फल-फूल, पत्ते दिखाई देते हैं और आँख मूँदते ही उनका दिखना बन्द हो जाता है, चश्मा लगाते ही अक्षर दिखने लगते हैं- चश्मा हटाते ही अक्षर का दिखना बन्द हो जाता है। यह वस्तुओं व अक्षरों का दिखना या न दिखना चक्षुदर्शन गुण के उपयोग पर निर्भर करता है। चक्षुदर्शन के गुण का उपयोग किया तो दिखने लगा, उपयोग न करते तो न दिखाई देता। अतः वस्तुओं के दिखने या न दिखने से चक्षुदर्शन गुण घट-बढ़ नहीं जाता है। जब अचक्षु दर्शन का उपयोग होता है, तब चक्षु-दर्शन का उपयोग नहीं होता है, यहाँ चक्षु-दर्शन का उपयोग न होने से चक्षु- दर्शन गुण में कमी नहीं आ जाती है। यही क्यों, जब ज्ञानोपयोग होता है तब किसी दर्शन का उपयोग नहीं होता है, परन्तु दर्शन का उपयोग न होने से दर्शन-गुण का अभाव नहीं हो जाता है। इसी प्रकार दर्शन का उपयोग करते समय ज्ञानोपयोग नहीं होता है, इससे ज्ञान-गुण का अभाव नहीं हो जाता है। यही नहीं मतिज्ञान के 336 भेदों में से किसी एक भेद के ज्ञान का उपयोग करते समय शेष मतिज्ञान के भेदों का तथा श्रुतज्ञान आदि अन्य ज्ञानों का उपयोग नहीं होता है, इससे उन ज्ञानों का नाश या अभाव नहीं हो जाता है। अतः महत्त्व गुण का है, उपयोग का नहीं। जैसे अनेक वस्तुओं का दर्शन होना, दर्शनोपयोग है। इस दर्शनोपयोग के कम-ज्यादा होने से अर्थात् कम या अधिक संख्या में वस्तुएँ दिखने से दर्शन-गुण कम-ज्यादा नहीं होता है। इसी प्रकार अनेक वस्तुओं का ज्ञानकारी होना ज्ञानोपयोग का विस्तार है। इस ज्ञानोपयोग के कम ज्यादा होने से अर्थात् अनेक वस्तुओं का ज्ञान होने या न होने से ज्ञान-गुण कम-ज्यादा नहीं होता है। उदाहरणार्थ -स्वाद के ज्ञान को ही लें-रसनेन्द्रिय से स्वाद

चखा, जिससे यह ज्ञान हुआ कि स्वादिष्ट वस्तुओं से सुख मिलता है। अब वह स्वाद का अधिकाधिक सुख पाने के लिये सैकड़ों प्रकार की मिठाइयाँ, नमकीन, पेय— पदार्थ की व उन्हें बनाने की जानकारी करता है, इससे उसका स्वादिष्ट वस्तुओं का उपयोग कैसे किया जाय, यह जानकारी तो बहुत बढ़ गई, जानकारी का संग्रह हो गया और भोगेच्छा प्रबल हो गई, मोह में वृद्धि हुई। परन्तु, इससे उनका ज्ञान—गुण बढ़ गया हो, सो नहीं है। अब भी ज्ञान तो वही है कि स्वादिष्ट वस्तुओं से सुख मिलता है। उसका यह अज्ञान दृढ़ हुआ। यह ज्ञानावरणीय—कर्म के क्षयोपशम से नहीं हुआ, प्रत्युत ज्ञानावरणीय—कर्म के उदय से हुआ। किसी छात्र ने गणित की एक रीति सीखी और उस रीति के सैकड़ों प्रश्न किये। उससे उसका उस रीति का ज्ञान बढ़ नहीं जाता है, वह रीति दृढ़ होती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान—गुण व वस्तु की जानकारी, ये दोनों एक बात नहीं हैं। ज्ञान के उपयोग से जानकारी बढ़ती है, ज्ञान—गुण नहीं बढ़ता है। अर्थात् ज्ञानावरणीय—कर्म का क्षयोपशम नहीं बढ़ता है, ज्ञानावरणीय—कर्म में कमी नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान—गुण और ज्ञानोपयोग एक नहीं हैं।

जीव के मुख्य दो गुण हैं, दर्शन और ज्ञान। यह नियम है कि जब दर्शन—गुण का उपयोग होता है, तब ज्ञान—गुण का उपयोग नहीं होता है। कारण कि दर्शन निर्विकल्प होता है और ज्ञान सविकल्प होता है और किसी भी समय सविकल्प और निर्विकल्प दोनों एक साथ नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार जब ज्ञान गुण का उपयोग होता है तब दर्शन गुण का उपयोग नहीं हो सकता। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में से किसी भी प्राणी के एक समय में एक ही उपयोग होता है। कभी भी दोनों उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। परन्तु जिस समय दर्शनोपयोग होता है, उसी समय उस प्राणी में ज्ञान—गुण नहीं रहता हो अथवा जिस समय ज्ञानोपयोग होता है, उस समय उस प्राणी में दर्शन—गुण नहीं रहता हो, सो बात नहीं है। यदि इनमें से एक भी गुण नष्ट हो जाय तो जीव का जीवत्व ही नष्ट हो जाय। अतः ज्ञान और दर्शन, ये दोनों गुण प्रत्येक प्राणी में सदा—सर्वत्र ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। इसलिए ज्ञान व दर्शन गुण का उपयोग होने या न होने से या उपयोग कम होने या अधिक होने से ज्ञान—दर्शन गुण में हानि—वृद्धि नहीं होती है। जैसे— किसी व्यक्ति को गणित, भूगोल,

अर्थशास्त्र आदि विषयों का ज्ञान है, परन्तु इस समय वह गणित पढ़ा रहा है अर्थात् गणित विषय का उपयोग कर रहा है और भूगोल, अर्थशास्त्र आदि अन्य विषयों का उपयोग नहीं कर रहा है, इससे उसका भूगोल—अर्थशास्त्र आदि विषयों का ज्ञान न तो नष्ट हो गया है और न इस ज्ञान में हानि—वृद्धि ही हो रही है। यही तथ्य ज्ञान—दर्शन गुण तथा उनके उपयोग पर भी लागू होता है। उपयोग की न्यूनाधिकता पर गुण की हानि—वृद्धि निर्भर नहीं है। जैसे— किसी व्यक्ति ने नयन खोले और उद्यान की ओर देखा, तो उसे उद्यान में हजारों प्रकार के फूल—पौधे आदि दिखाई दिये, फिर उसने आसमान की ओर देखा, तो एक पक्षी उड़ता दिखाई दिया, तदनन्तर उसने नयन बंद कर दिये, तो दिखना बंद हो गया अथवा किसी ने ऐनक लगा लिया तो दिखने लगा, ऐनक हटा दिया तो दिखना कम हो गया। इस प्रकार हजारों वस्तुएँ दिखने से दर्शनावरणीय गुण का क्षयोपशम अधिक हो, एक वस्तु के दिखने से तथा कुछ भी नहीं दिखने से अथवा दृष्टि में न्यूनाधिकता होने से दर्शनावरणीय—कर्म का क्षयोपशम न्यूनाधिक हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। कारण कि दर्शनावरणीय—कर्म का क्षयोपशम मोह की न्यूनाधिकता पर निर्भर करता है। मोह में कमी होने से दर्शन—गुण का आवरण घटता है, मोह की वृद्धि से दर्शन—गुण पर आवरण बढ़ता है। यही तथ्य ज्ञान—गुण पर भी घटित होता है। ज्ञान—गुण के आवरण की हानि—वृद्धि मोह की प्रबलता तथा प्रगाढ़ता की कमी और वृद्धि पर निर्भर करती है।

अथवा

गुण एवं उनके उपयोग में अन्तर

कहीं पर दीपक, कॉपी, कलम आदि वस्तुएँ विद्यमान हैं, परन्तु किसी बरतन से ढकी हुई हैं। आवरण आया हुआ है, अतः प्रकट नहीं हो रही हैं और उनका उपयोग नहीं हो रहा है। परन्तु आवरण हटा दिया जाय तो आवरण हटने पर दीपक, कलम, कापी आदि वस्तुएँ प्रकट हो जाती हैं। वस्तुएँ प्रकट होने पर भी उनका उपयोग नहीं किया जाय, तब भी वस्तुओं का वस्तुपना व अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है, अभाव नहीं हो जाता। सूर्य में प्रकाश सदैव विद्यमान रहता है, उसका अभाव कभी नहीं होता है। परन्तु बादल का आवरण आ जाय तो प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा

में ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं, उन पर मोह रूपी बादल से आवरण आ जाये, तो प्रकट नहीं होते। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं, उन पर मोह रूपी बादल से आवरण आया हुआ है, अतः ज्ञान—दर्शन गुण पूर्ण प्रकट नहीं हो रहे हैं। कुछ अंशों में गुण प्रकट हो रहा है और जितने अंश में गुण प्रकट हो रहा है उस आंशिक गुण का भी हम उपयोग नहीं कर रहे हैं। अर्थात् उसे काम में नहीं ले रहे हैं अथवा कभी काम में लेते हैं, कभी नहीं लेते हैं। जैसे किसी व्यक्ति को अंक गणित, बीज गणित, रेखा—गणित, भूगोल, हिन्दी, आदि विषयों का ज्ञान है, परन्तु वर्तमान में वह फिल्म देखने में तल्लीन है। अतः इन विषयों के ज्ञान का उपयोग नहीं कर रहा है। उपयोग न करने से उसका गणित आदि का ज्ञान नष्ट नहीं हो गया है और न उस पर आवरण ही आ गया है, न तो विस्मृति (आवरण) हुई है और न बिल्कुल भूल ही गया है। उपयोग नहीं करने पर भी ज्ञान गुण विद्यमान है, नष्ट नहीं हुआ है, विस्मृत नहीं हुआ है। यदि विस्मृत हो जाता, तो फिर याद नहीं आता। हमें हजारों शब्दों के अर्थ का ज्ञान है, परन्तु इस समय हम उन शब्दों का व अर्थ का उपयोग नहीं कर रहे हैं, तो वे गुण नष्ट नहीं हो गये हैं, न उन पर आवरण ही आया हुआ है। मैं जान रहा हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं देख रहा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, ऐसा अनुभव होना, जानने—देखने की क्रिया या कार्य होना, उसका उपयोग है। जानने अथवा देखने की क्रिया का न होना, उनका उपयोग नहीं होना है। उपयोग नहीं होने से जानने और देखने के गुण का अभाव नहीं हो जाता। ज्ञान—दर्शन साकार—अनाकार, सविकल्प—निर्विकल्प होने से परस्पर विरोधी गुण हैं। अतः दोनों का उपयोग एक साथ होना संभव नहीं है। एक समय में एक ही गुण का उपयोग संभव है। परन्तु दोनों गुण आंशिक रूप में विद्यमान हैं।

गुण और उसके उपयोग इन दोनों को एक समझना भूल है। जैसे देखने की शक्ति और उसकी देखने की क्रिया—प्रवृत्ति या उपयोग को एक समझना भूल है। जैसे कम या अधिक वस्तुएँ देखने से या कुछ भी नहीं देखने से देखने की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता है। इसी प्रकार ज्ञान गुण और ज्ञान की उपयोगिता में अन्तर है, इन दोनों को एक समझना भूल है। किसी गुण के उपयोग का कम— ज्यादा होने या बिल्कुल न होने से

गुण में अन्तर नहीं आता है। उदाहरणार्थ— जिस समय दर्शन का उपयोग होता है, दर्शनोपयोग होता है, उस समय ज्ञानोपयोग नहीं होता। परन्तु ज्ञानोपयोग न होने से उस समय चेतना (आत्मा) में ज्ञान गुण विद्यमान नहीं रहता हो, सो बात नहीं है। यदि ज्ञान गुण न रहे, तो चेतना के अस्तित्व का ही लोप हो जाये।

ज्ञानावरण से सम्बद्ध जिज्ञासा और समाधान

जिज्ञासा— वर्तमान में ज्ञानावरणीय कर्मबंध का कारण ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधन ग्रन्थ आदि का अनादर माना जाता है एवं विषय—विकारों की उत्पत्ति, पूर्ति व वृद्धि करने से सम्बद्ध लौकिक विषय वाणिज्य, कला, विज्ञान आदि के ज्ञान को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से माना जाता है। यह कहाँ तक उचित है?

समाधान— प्रथम तो मूल पाठ में 'ज्ञानी' शब्द कहीं नहीं आया है। अतः ज्ञानी के अनादर या आदर से संबंधित आधे प्रश्न तो ऐसे ही अपने आप समाप्त हो जाते हैं। कारण कि ज्ञानी के या प्राणी के अनादर से मोहनीय कर्म के बंध का सम्बन्ध है, ज्ञानावरणीय कर्म का नहीं, क्योंकि किसी प्राणी को मारने से हिंसा होती है, कषाय का उदय होता है। ऐसा लगता है कि ज्ञान के अनादर की व्याख्या करते हुए व्याख्याकारों के समक्ष यह कठिनाई आई कि ज्ञान गुण का अनादर कैसे हो सकता है? तो उन्होंने उस गुण के धारक व्यक्ति से, ज्ञान के उपकरणों से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया, क्योंकि अनादर व्यक्ति, उपकरणों व साधनों का ही हो सकता है। अनादर शब्द का अर्थ उन्होंने अपमान, उपेक्षा, अवमानना लिया, जैसे— ज्ञानी के ठोकर लगाना, उसे अपशब्द कहना, शास्त्र—आगम के ठोकर लगाना आदि और आदर का अर्थ सम्मान करना किया, जैसे— ज्ञानी, आगम—शास्त्र आदि का सम्मान करना।

परन्तु ऐसा लगता है कि आगमों में 'ज्ञान' शब्द से अभिप्राय स्वभाव के ज्ञान से अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान से है, अर्जित ज्ञान से नहीं। जैसे धन का संग्रह, वस्तुओं का संग्रह, शरीर का बल, बाह्य वस्तुएँ हैं वैसे ही संग्रह की गई जानकारी मस्तिष्क की वस्तु है, जीव का स्वाभाविक ज्ञान गुण नहीं है। यह नियम है कि वस्तु का स्वभाव किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में नहीं बदलता है, नष्ट नहीं होता है। उसके प्रकटीकरण में न्यूनाधिकता

होती है। जो सभी को सदा सर्वथा इष्ट है, उसका ज्ञान स्वाभाविक व निज ज्ञान है। जैसे अमरत्व (अविनाशी) शान्ति, मुक्ति (स्वाधीनता), प्रीति (प्रेम), रस(सुख), पूर्णता, चिन्मयता आदि का इष्ट होना निज ज्ञान है, क्योंकि ये जीव के स्वभाव हैं, सभी को सदा इष्ट हैं। यह ज्ञान किसी से सीखा हुआ नहीं है। स्वभाव, स्वभाव का ज्ञान किसी की भी देन नहीं होता है। स्वभाव का ज्ञान भी स्वाभाविक है। स्वाभाविक ज्ञान ही निजज्ञान है। यह आत्मा का निज गुण है। किसी से प्राप्त नहीं है। इस ज्ञान का प्रभाव न होना ही ज्ञानावरण कर्म है। आदर का अर्थ आचरण करना है— जैसा कि कहा है— “जाण्या पण आदरया नहीं जी।” अतः स्वाभाविक ज्ञान के अनुरूप आचरण करना ही ज्ञान का आदर है और ज्ञान के विपरीत आचरण करना, उपेक्षा करना, उसे भविष्य के लिए टाल देना, ज्ञान का अनादर है।

स्वाभाविक ज्ञान ही स्व-पर, सत्-असत्, विनाशी-अविनाशी, उत्पाद-व्यय का ज्ञान है। इसका आदर है— पर से, असत् से, विनाशी से, व्यय से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना, इनकी आसक्ति का, असंयम का त्याग करना। इसके आदर से स्व, सत्, अमरत्व की अभिव्यक्ति या बोध स्वतः होता है। यह बोध ही पूर्ण ज्ञान है, केवलज्ञान है। यह नियम है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों घाती कर्मों का क्षयोपशम मोहनीय कर्म की न्यूनाधिकता पर निर्भर करता है। मोहनीय कर्म की कमी से जड़ता, मूर्च्छा घटती है, जिससे दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है अर्थात् संवेदन-शक्ति, चिन्मयता बढ़ती है जिसके साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान गुण बढ़ता है। यह नियम है कि दर्शन और ज्ञान, ये दोनों गुण एक साथ बढ़ते, घटते व क्षय होते हैं। संवेदन शक्ति के बढ़ने से इन्द्रिय-शक्ति का विकास होता है, जिससे दर्शन और ज्ञान गुण की अभिव्यक्ति के माध्यम रूप द्रव्य इन्द्रियों की प्राप्त होती है। द्रव्येन्द्रियों की शक्ति घटने-बढ़ने से, ज्ञान गुण का उपयोग घटने-बढ़ने से, इन्द्रियों के ज्ञान की उपयोगिता का विस्तार होने या कमी होने से ज्ञान गुण घट-बढ़ नहीं जाता। जितना भी लौकिक ज्ञान है, वह इन्द्रिय ज्ञान से सम्बन्धित है। आधुनिक विज्ञान का विकास इन्द्रियों के भोग कैसे किए जायें, वस्तुओं का इन्द्रिय-भोग में उपयोग कैसे किया जाय, इस ज्ञान के उपयोग का विस्तार है। यह सब लौकिक ज्ञान है—

मोहजन्य ज्ञान है। जो मोहजन्य ज्ञान है, वह ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का परिणाम नहीं है। प्रत्युत ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का द्योतक है। यह हानिकारक, विकारोत्पादक होने से अज्ञान रूप है।

किसी आदमी की दृष्टि कमजोर हो जाना—जैसा कि वृद्धावस्था में प्रायः हो जाता है, तो वह ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय कर्म के उदय का फल नहीं है, क्योंकि वह मोह की वृद्धि से नहीं होती है। चश्मा लगाते ही दिखने लग जाना, पुस्तक पढ़ने में आना, ये ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का फल नहीं हो सकते, क्योंकि ये चश्मे जैसे जड़ पदार्थ पर निर्भर हैं। चेतना का गुण जड़ पदार्थ से न्यूनाधिक नहीं हो सकता। वह न्यूनाधिक होता है, मोहनीय या विकारों के बढ़ने व घटने से। इसलिए लौकिक ज्ञान कितना ही न्यून या अधिक हो, उससे ज्ञानावरणीय कर्म की अधिकता व न्यूनता का सम्बन्ध नहीं है। सत्—असत्, उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य आदि स्वभाव से सम्बन्धित ज्ञान का प्रभाव होना ही ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संबंधित है। स्वभाव के ज्ञान के प्रभाव की अधिकता ही ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की द्योतक है। उसी से संवदेनशीलता बढ़ती है। ज्ञान के आदर से मोह घटता है जिससे दर्शन गुण का विकास व क्षयोपशम होता है। इस दृष्टि से ज्ञान को दर्शन से प्रथम कहा है तथा दर्शन के पश्चात् ज्ञान होता है, इस दृष्टि से दर्शन को पहले कहा है।

किसी करण या उपकरण के घटने—बढ़ने या अभाव से, उसका उपयोग न करने से कर्त्ता की शक्ति में कोई कमी—वृद्धि नहीं होती है। आँख, कान आदि के कमजोर या बलवान होने से, अधिक—कम दिखने—सुनने से ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय कर्म में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अन्तर पड़ता है, मोहनीय कर्म के घटने—बढ़ने से। किसी को आँख खोलते ही बगीचे में हजारों वृक्ष दिखे, थोड़ा आगे बढ़ते ही कोई वृक्ष नहीं दिखा। इस प्रकार अधिक वृक्ष दिखने से या वृक्ष नहीं दिखने से चक्षु इन्द्रिय की शक्ति व ज्ञान गुण में कोई वृद्धि—हास नहीं हो जाता है।

ज्ञान के अनुरूप आचरण करना ज्ञान का आदर है। जैसे अनित्यता—नश्वरता तथा पराधीनता किसी को स्वभाव से पसंद नहीं है। अंतः अनित्य पदार्थ से, पर से अपना सम्बन्ध—विच्छेद करना, उसकी दासता छोड़ना, उससे मिलने वाले सुख का त्याग करना अर्थात् ज्ञान के अनुरूप चारित्र

का पालन करना ज्ञान का आदर है। अनित्य जानते हुए भी उसका त्याग न करना, अनित्य पदार्थों की कामना—ममता करना ज्ञान का अनादर है। अनादर ज्ञान की प्रभावहीनता का द्योतक है। यही ज्ञानावरणीय कर्म है। अतः वीतराग को छोड़कर जो संसार के समस्त अनन्तानंत प्राणी हैं, उनके ज्ञानावरणीय कर्म हर समय उदय होता एवं बंधता है।

ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्मों का क्षयोपशम और परिणाम

मोह की कमी से ज्ञान—दर्शन गुण का विकास होता है। परन्तु ज्ञान और दर्शन के न्यूनाधिक उपयोग से ज्ञान—दर्शन गुण न्यूनाधिक होते हों, ऐसा नहीं है। जैसे किसी भी इन्द्रिय के अधिक उपयोग करने से उस इन्द्रिय की शक्ति नहीं बढ़ जाती है या इन्द्रिय में कोई विशेषता आ जाती हो ऐसा नहीं है— उदाहरणार्थ हमने कान से अधिक संख्या में गाने सुने, शब्द सुने, कोलाहल सुना, शोर सुना, इससे कर्णेन्द्रिय का दर्शन—ज्ञान गुण व शक्ति बढ़ जाती हो, सो नहीं है, प्रत्युत घटती है। अतः इन्द्रिय का अधिक उपयोग व इन्द्रिय—विषयों की अधिक जानकारी या न्यून जानकारी से ज्ञान गुण में वृद्धि व न्यूनता होती हो, सो नहीं है। जैसे— किसी ने जोड़, बाकी, गुणा, भाग सीखा या इंजीनियरिंग विज्ञान सीखा (पढ़ा) अब वह उसका उपयोग जीवन में कर रहा है। इससे गिनती में व इंजीनियरिंग के ज्ञान में वृद्धि नहीं हो जाती है। यह नियम है कि दर्शनोपयोग के होने पर ही ज्ञानोपयोग होता है। अतः जहाँ जैसा ज्ञानोपयोग है वहाँ वैसा ही दर्शनोपयोग होता है। अतः जैसे ज्ञानोपयोग से ज्ञान गुण की वृद्धि नहीं होती वैसे ही दर्शनोपयोग से दर्शन गुण की वृद्धि भी नहीं होती है अर्थात् आकाश की ओर देखने से शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता। इससे दर्शन गुण में कमी नहीं हो जाती और उस दृष्टि को आकाश से धरती की ओर फेरने पर हजारों वस्तुओं के दिखने से दर्शन गुण में वृद्धि नहीं हो जाती है, दर्शन गुण का विकास नहीं हो जाता। संसार में स्थित जितनी वस्तुएँ हैं उनका ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है और उन वस्तुओं की न्यूनाधिक जानकारी से इन्द्रिय ज्ञान (अज्ञान) की उपयोगिता में वृद्धि होती है। ज्ञान गुण में वृद्धि नहीं होती है। जैसे विद्युत शक्ति की प्रवाह—धारा के साथ बल्ब, पंखा, रेडियो, टेलीविजन लगा देने से या छोटा—बड़ा लगा देने से उपयोगिता बढ़ जाती है, परन्तु विद्युत के प्रवाह में वृद्धि—कमी नहीं

होती है। अर्थात् अन्तर नहीं पड़ता है। विद्युत के प्रकटीकरण में अन्तर आता है। विद्युत प्रवाह (धारा) में वृद्धि होने से ही विद्युत की वृद्धि होती है। इसी प्रकार इन्द्रिय ज्ञान की उपयोगिता में कितनी ही वृद्धि हो, इन्द्रिय ज्ञान में वृद्धि नहीं होती है। इस पृथ्वी का ही नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड का भी कोई ज्ञान करले तब भी ज्ञान गुण में वृद्धि नहीं होगी। दूसरे शब्दों में इन्द्रियों का विषय—भोग सम्बन्धी कितना ही ज्ञान हो, उससे ज्ञान गुण का विकास नहीं होता है। इन्द्रियों का विकास अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय से आगे बढ़कर रसनेन्द्रिय—घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय—श्रोत्रेन्द्रिय रूप विकास होना मतिज्ञान गुण का विकास है। यह विकास संक्लेश (कषाय) की कमी व विशुद्धि की वृद्धि से होता है अर्थात् मोह की कमी से होता है। परन्तु इन्द्रियों के इस विकास से इन्द्रियों के विषयों का कितना ही अधिक ज्ञान हो, उससे ज्ञान गुण का विकास नहीं होता। प्रकारान्तर से कहें तो भोगवती बुद्धि (मति) की उपयोगिता के विस्तार से ज्ञान गुण में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं होती। विषय—भोग में सुख है, यह अज्ञान ज्यों का त्यों रहता है। यह अवश्य होता है कि विषय—भोग की प्रबलता या अधिकता से भोग की आसक्ति दृढ़ होती है, सबल होती है जो ज्ञान गुण की घातक है।

इन्द्रियज्ञान चाहे अनन्त ब्रह्माण्ड का हो, जब तक वह भोगवती बुद्धि से जुड़ा है, वह अज्ञान ही है। वह अल्प ज्ञान ही है, अधूरा ज्ञान ही है। क्योंकि विवेकवती बुद्धि के ज्ञान के प्रकाश के समक्ष वह ज्ञान सूर्य के समक्ष दीपक के समान अल्प है। विवेक कहते हैं— निज ज्ञान को। यदि निज ज्ञान या विवेक के प्रकाश में देखा जायेगा, तो ज्ञात होगा कि इन्द्रिय, उनके विषय, भोग शक्ति, भोग्य सामग्री, भोग सुख आदि सब परिवर्तनशील व नश्वर हैं, विनाशी हैं। विनाश किसी को इष्ट नहीं है। अतः ये सब अनिष्टकारी हैं। यह ज्ञान जितना—जितना बढ़ता जायेगा अर्थात् इस ज्ञान का जितना—जितना प्रभाव होता जायेगा, तदनु रूप आदर—आचरण होता जायेगा, विषयभोगों का त्याग होता जायेगा, उतना—उतना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम बढ़ता जायेगा। साथ ही मोह में कमी आती जायेगी अर्थात् मोह की कमी और ज्ञान के आवरण में कमी में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विवेकवती बुद्धि, विवेकमय सम्यक् ज्ञान है। अविवेकयुक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान या अज्ञान है। अविवेक का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, विवेक का

अनादर ही अविवेक है। यही कारण है कि अविवेक युक्त मति—श्रुत जो अज्ञान रूप हैं, वे ही विवेक युक्त होने पर सम्यक् ज्ञान हो जाते हैं। फिर ये ही मति—श्रुत ज्ञान कहे जाते हैं। यह नियम है कि श्रुत ज्ञान सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला होता है। सम्यक् ज्ञान होने पर संसार के सभी पदार्थ तथा उनसे मिलने वाले विषय—सुख क्षणिक, अनित्य, नश्वर, व्यर्थ तथा त्याज्य लगते हैं। इनके त्याग देने पर इनसे संबंधित ज्ञान की लेश मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती है। उसे तत्त्व—ज्ञान हो जाता है। लगता है कि इसी दृष्टि से श्रुत को भी केवलज्ञान के समान ही सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञाता कहा है। आशय यह है कि नित्य—अनित्य, विनाशी—अविनाशी, उत्पाद—व्यय, ध्रुव के भेद का ज्ञान होना ही विवेक है। यही भेदज्ञान है। यह भेद ज्ञान प्रकारान्तर में सत्—असत् का भेदज्ञान, स्व—पर का भेदज्ञान, चेतन—जड़ का भेदज्ञान कहा जाता है। यह भेदज्ञान ही अनित्य से सम्बन्ध—विच्छेद कर ध्रुव से अभिन्न कर देने में सहायक है।



दर्शनावरण कर्म

दर्शन एवं दर्शनावरण कर्म का स्वरूप

जड़ और चेतन में मुख्यतः दो मौलिक बातों का अन्तर है, यथा—अजीव या जड़ को अनुभव (संवेदन) नहीं होता है तथा वह विचार नहीं कर सकता है। ये ही दो बातें दर्शन और ज्ञान गुण से पुकारी जाती हैं। इनमें से जिस कर्म, कार्य या क्रिया से दर्शन गुण आच्छादित होता है, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है और जिससे ज्ञान गुण आच्छादित होता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है। द्रव्यों, वस्तुओं, उनके गुणों व अवस्थाओं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों व सम्बन्धों के नियमों को जानना ज्ञान है। प्राणी प्रकृति के नियमों की यथार्थता को जितना—जितना समझता जाता है, उतना—उतना उसके ज्ञान का विकास होता जाता है।

मोह के कारण प्राणी में जड़ता आ जाती है। जड़ता आने से उसके देखने (दर्शन—संवेदन करने, साक्षात्कार करने) की शक्ति व जानने की शक्ति क्षीण होती जाती है। जैसे—जैसे चेतना से मूर्च्छा (मोह) हटती जाती है, वैसे—वैसे उसकी संवेदनशक्ति बढ़ती जाती है, यह दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम व उसका परिणाम है। संवेदन के आधार पर ही प्राणी की जानने की शक्ति का आविर्भाव होता है। अतः पहले दर्शन होता है, फिर ज्ञान होता है।

आचार्यों ने सामान्य को दर्शन और विशेष को ज्ञान कहा है। आजकल इसका कुछ लोग इस प्रकार अर्थ करते हैं कि सामान्य ज्ञान दर्शन है, परन्तु यह अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होता है। कारण कि यदि सामान्य शब्द से अभिप्राय यहाँ ज्ञान से लगाया जाय, तो फिर ज्ञान गुण के ही दो भेद हो जायेंगे 1. सामान्य ज्ञान और 2. विशेष ज्ञान। इससे ज्ञान गुण से भिन्न दर्शन गुण के अस्तित्व के लोप होने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। परन्तु जैनागम में जीव के ज्ञान और दर्शन ये दो भिन्न—भिन्न

मौलिक गुण बताए हैं। एक ही ज्ञान गुण की दो अवस्थाएँ नहीं बतायी हैं। अतः यहाँ 'सामान्यग्रहणं दंसणं' से सामान्य शब्द का अभिप्राय सामान्य ज्ञान नहीं हो सकता है।

पूर्वाचार्यों ने दर्शनगुण की विशेषताएँ बतलाई हैं— 1. निर्विकल्प 2. अनाकार 3. अनिर्वचनीय 4. अविशेष 5. अभेद 6. स्वसंवेदन 7. अंतर्मुख चैतन्य आदि बतलाई हैं तथा ज्ञान गुण की विशेषताएँ बतलाई हैं— 1. सविकल्प 2. साकार 3. विशेष 4. बहिर्मुख चित्त प्रकाश आदि। यदि हम सामान्य शब्द का अभिप्राय सामान्य ज्ञान से लेंगे, तो ज्ञान की तीनों विशेषताएँ सविकल्पता, साकारता, वचनीयता का दर्शन के साथ जुड़ने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा और इनके होने पर वह दर्शन 'दर्शन' गुण ही न रहेगा, ज्ञान गुण हो जायेगा।

प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर आचार्यों ने दर्शन की परिभाषा करते हुए 'सामान्य ग्रहण' दर्शन क्यों कहा?

समाधान में कहना होगा कि दर्शन निर्विकल्प व अनाकार होने से अनिर्वचनीय है। जो अनिर्वचनीय है, उसे वचन से परिभाषित नहीं किया जा सकता। परन्तु दर्शन को समझाने के लिए कोई न कोई आधार प्रस्तुत करना आवश्यक था। आचार्यों ने एक निषेधात्मक संकेतपरक मार्ग का अनुगमन किया और वह यह है कि उन्होंने ज्ञान गुण को परिभाषित किया और कहा कि जिसमें विशेष-विशेष जानकारी हो, वह ज्ञान है और ज्ञान गुण से भिन्न जो गुण है, वह दर्शन गुण है। ज्ञानगुण है— विशेष की जानकारी, अतः ज्ञान गुण से भिन्न गुण वह होगा जिसमें विशेष की जानकारी का अभाव हो। संसार में दो ही बातें देखी जाती हैं— सामान्य और विशेष। अतः विशेष के अभाव को दिखाने के लिए आचार्यों ने संकेतात्मक रूप से सामान्य शब्द का प्रयोग किया।

तात्पर्य यह है कि जहाँ सामान्य ग्रहण दर्शन कहा है वहाँ सामान्य शब्द का प्रयोग अविशेष अनुभूति के लिए हुआ है, न कि ज्ञान के लिए। अनुभूति का ही दूसरा नाम संवेदन है। श्री वीरसेनाचार्य ने दर्शन और ज्ञान के स्वरूप पर ऊहापोह करते हुए 'सगसंवेयणं स्व-संवेदनं को दर्शनं कहा है। (षट् खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक 13, पृ. 355) ~

जीव को छोड़कर शेष अन्य किसी द्रव्य को न तो संवेदन ही होता है और न जानकारी ही। अतः संवेदन और ज्ञान ये दोनों ही जीव के असाधारण गुण या लक्षण हैं।

ऊपर कह आए हैं कि स्व-संवेदन को दर्शन कहते हैं। संवेदनशीलता—अन्तर्मुख चैतन्य, चिन्मयता, निर्विकल्पता, अनाकारता, अभेदता, निर्विशेषता, सामान्य ये दर्शन गुण के द्योतक हैं। दर्शन अनिर्वचनीय होता है, अनुभवगम्य होता है। अतः इसे अंगुलि निर्देश रूप संकेत से ही समझाया जा सकता है, किसी शब्द से नहीं समझाया जा सकता है— सव्वे सरा नियट्ठंति (आचारांग सूत्र)

‘दर्शन’ चेतना का मूल गुण है। इस गुण के विकास पर ही ज्ञान गुण का व चेतना का विकास निर्भर करता है। दर्शनगुण का विलोम जड़ता है। संवेदनशीलता पर आवरण आना अर्थात् जड़ता आना ही दर्शनावरणीय है।

दर्शनावरणीय कर्म के प्रकार

- (1) **चक्षुदर्शनावरणीय**— चक्षु की आन्तरिक ग्रहण शक्ति (संवेदनशीलता) चक्षु दर्शन है। इस गुण पर आवरण आना चक्षुदर्शनावरण है।
- (2) **अचक्षुदर्शनावरणीय**— शरीर, जिह्वा, नासिका एवं श्रोत्र इन्द्रियों की स्पर्शन, स्वाद, गंध, ध्वनि आदि की आन्तरिक ग्रहण—शक्ति (संवेदनशीलता) अचक्षुदर्शन है। इस गुण पर आवरण आना अचक्षुदर्शनावरण है।
- (3) **अवधिदर्शनावरणीय**—बिना इन्द्रिय व मन की सहायता से पौद्गलिक रूपी पदार्थों से होने वाली संवेदनाओं का सीमित अनुभव (बोध) होना अवधिदर्शन है। इस गुण पर आवरण आना अवधिदर्शनावरण है।
- (4) **केवलदर्शनावरणीय**—पूर्ण चिन्मयता का, निजस्वरूप का, द्रव्य—गुण—पर्याय का असीम अनुभव होना केवलदर्शन है। इस गुण पर आवरण होना केवलदर्शनावरण है।

निद्रा, निद्रा—निद्रा, प्रचला, प्रचला—प्रचला, स्त्यानगृद्धि, ये पाँच प्रकार की निद्राएँ दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ही आती हैं।

- (5) **निद्रा**— भय, खेद और परिश्रम जन्य थकावट के कारण निद्रा आना। जिसमें सुखपूर्वक सुगमता से जागृत हो सके, वह निद्रा है।
- (6) **निद्रा**—निद्रा— निद्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि होना, निद्रा का प्रगाढ़ होना, कठिनाई से जागृत होना, निद्रा—निद्रा है।

- (7) **प्रचला**— चलायमान अवस्था में निद्रा आना प्रचला है।
 (8) **प्रचला**—प्रचला— प्रचला की पुनः—पुनः आवृत्ति होना प्रचला—प्रचला है।
 (9) **स्त्यानगृद्धि**—सुप्त अवस्था में चलना—फिरना या अन्य कार्य करना, स्त्यानगृद्धि है।

जो चैतन्य गुण को प्रकट न होने दे, जड़ता उत्पन्न करे, वह निद्रा है।

दर्शन गुण का विकास—क्रम

चेतन—अचेतन में मुख्य अन्तर है— उपयोग गुण का। जिसमें उपयोग गुण है, वह चेतन और जो उपयोग गुण से रहित है वह अचेतन है। उपयोग गुण दो प्रकार का है— 1. निराकार उपयोग और 2. साकार उपयोग। निराकार उपयोग, साकार उपयोग के पहले होता है। आगम की भाषा में निराकार उपयोग को दर्शन कहते हैं और साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं। दर्शन के मुख्य लक्षण हैं— यह 1. अनाकार 2. निर्विकल्प 3. अभेदरूप तथा 4. अनिर्वचनीय— अकथनीय होता है। यह चेतना का प्रधान गुण है कारण कि इसके अभाव में ज्ञान नहीं होता है। पहले दर्शन होता है, तब ही ज्ञान होता है। ज्ञान का आधार दर्शन ही है। दर्शन गुण चेतनता (चैतन्य) का, चिन्मयता का द्योतक है। संवेदन का होना ही चेतना का गुण है, जड़ को संवेदन नहीं होता। इसी से दर्शन को धवला टीका में स्व—संवेदन कहा है। अर्थात् स्वयं में होने वाला संवेदन दर्शनोपयोग है, जो वेदन क्रिया के रूप में सातावेदनीय—असातावेदनीय के रूप में प्रकट होता है।

चेतनता (दर्शनगुण) का विलोम गुण है— जड़ता। चेतन में चैतन्य गुण स्वभावगत है। चेतन के असंख्यात प्रदेश हैं, ये सब प्रदेश चेतनतामय हैं। यह गुण सर्व चेतन में सदा समान बना रहता है, इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती है। न्यूनाधिकता होती है, इस गुण के प्रकटीकरण में।

मोह के कारण आवरण आ जाने से उस चेतनता का प्रकटीकरण कम—ज्यादा होता रहता है। शरीर, संसार आदि जड़ पदार्थों के प्रति आसक्ति से, राग से मोह होता है। जड़ के प्रति राग या मोह होने से जड़ से सम्बन्ध जुड़ता है, जड़ से जुड़ने से जड़ता आती है। जड़ता आने से चेतनता गुण आवरित होता है। मोह, मूर्च्छा का द्योतक है और मूर्च्छा

जड़ता की द्योतक है। अतः जितना मोह बढ़ता है, उतनी ही मूर्च्छा की वृद्धि होती है। जितनी मूर्च्छा बढ़ती है, उतनी ही जड़ता बढ़ती है, जितनी जड़ता बढ़ती है उतना ही चेतन का चेतनता रूप दर्शन गुण आवरित होता है। अर्थात् मोहनीय कर्म में जितनी वृद्धि होती है उतना ही दर्शन गुण पर आवरण बढ़ता जाता है।

दर्शनावरणीय कर्म का कारण मोहनीय कर्म है। चारित्र मोहनीय के कारण भोग भोगने की प्रवृत्ति होती है। भोग भोगने में सुख की अनुभूति होना अर्थात् भोग में सुख मानना दर्शन मोहनीय है। कारण कि यह विषय-सुख की अनुभूति वास्तव में सुख नहीं है। सुख की प्रतीति या आभास मात्र है। मोह के कारण यह सुखाभास सत्य, स्थायी व प्रिय लगता है। परन्तु वास्तव में यह है असत्य, क्षणिक एवं रसहीन। यही कारण है कि विषय सुख प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ नीरसता में बदल जाता है। परन्तु मोही व्यक्ति इस सत्यानुभूति का अनादर कर विषयभोग के सुखजनित जड़ता में आबद्ध रहता है, यह ही दर्शनावरणीय कर्म का कारण है। इस प्रकार दर्शनावरणीय के बंध का प्रमुख कारण मोहनीय कर्म है। अतः जैसे-जैसे मोहनीय कर्म क्षीण होता जाता है, दर्शनावरणीय कर्म भी क्षीण होता जाता है, चेतना गुण बढ़ता जाता है। दर्शन गुण है स्व-संवेदन-चैतन्य (चेतनता) का अव्यक्त बोध व अनुभव होना। जितना इस चैतन्य गुण पर आवरण आता जाता है उतना ही दर्शनावरणीय कर्म प्रगाढ़ होता जाता है अर्थात् जड़ता बढ़ती जाती है (ध्यान की गहराई में इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण व साक्षात्कार स्पष्ट होता है।) निद्रा के समय स्वरूप विस्मृति हो जाती है, जड़ता आ जाती है। अतः निद्राओं को दर्शनावरणीय कर्म की सर्वघातिनी प्रकृतियों में गिनाया है। निद्राओं से जड़ता आती है, यह जड़ता दर्शनावरणीय कर्म की द्योतक है। अनिद्रित अवस्था को स्वरूप बोध, जागरूकता, यतना, अप्रमाद कहा गया है। चेतन अवस्था में ही नैसर्गिक सत्य का बोध (अनुभव) होता है। जड़ता की अवस्था में सत् स्वरूप का, अविनाशित्व का अनुभव नहीं होता है, प्रत्युत विनाशी अवस्था ही अविनाशी या 'सत्' प्रतीत होती है। असत् को सत् मानना एवं सत् को असत् मानना, मिथ्यात्व है। जितना चेतनता गुण बढ़ता जाता है उतना ही पदार्थ के स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप का प्रकटीकरण अर्थात् अनुभव या संवेदन होता जाता

है। अंत में सूक्ष्मतम अंश परमाणु की सच्चाई का अनुभव करने पर केवलदर्शन की उपलब्धि हो जाती है, पूर्ण चैतन्य गुण प्रकट हो जाता है। इस प्रकार केवलदर्शन की उपलब्धि में दर्शनमोहनीय का क्षयोपशम परम्परा कारण एवं चारित्र मोहनीय का क्षय अनन्तर कारण है। आशय यह है कि दर्शनावरणीय कर्म के छेदन में मोहनीय कर्म के त्याग का बहुत बड़ा महत्त्व है।

निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति (बोध) में अन्तर

निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति में बहुत अन्तर है। स्थितिरूप निर्विकल्पता अनेक प्रकार से आती है, यथा— 1. निद्रा 2. जड़ता 3. मूर्च्छा 4. भोग्य पदार्थों की अज्ञानता 5. असमर्थता आदि कारण मुख्य हैं। 1. निद्रा से चित्त शान्त—निर्विकल्प हो जाता है, ऐसी निर्विकल्पता जनित शान्ति हम सबको निद्रा में प्रतिदिन होती है। 2. दवा के या इंजेक्शन के प्रभाव से शरीर के किसी अंग या पूरे शरीर को या मस्तिष्क को शून्य (सुन्न) कर देने से उसमें जड़ता आ जाती है। फिर उससे संबंधित विकल्प नहीं उठते हैं, ऐसी स्थिति अस्पताल में अनेक रोगियों में देखी जा सकती है। 3. वेदना या दर्द की अधिकता से असह्य स्थिति होने पर बेहोशी—मूर्च्छा आ जाती है। इससे भी निर्विकल्प—शान्ति की ही स्थिति आती है। 4. जब व्यक्ति या प्राणी को इन्द्रिय के भोग्य पदार्थों का ज्ञान या जानकारी नहीं होती है तो उसमें उन पदार्थों को पाने की कामना नहीं उठती है, इससे तत्सम्बन्धी विकल्प पैदा नहीं होते हैं। जैसे— अकबर और सम्राट् अशोक के युग में रेडियो, टेलीविजन, कार, वायुयान नहीं थे, अतः इनके पाने का संकल्प—विकल्प किसी के मन में नहीं उठता था। उस विकल्प के नहीं उठने से तत्सम्बन्धी कामना या अशान्ति किसी के मन में नहीं होती थी। जबकि आज एक गरीब भिखारी का चित्त भी रेडियो के न मिलने के कारण अशान्त देखा जाता है। आशय यह है कि जो भोग्य पदार्थों के विषय में जितना कम जानता है, अनजान है, उसके उतनी ही कामनाएँ व विकल्प कम उठते हैं, उसकी अशान्ति में उतनी कमी होती है। मनुष्य से पशुओं का चित्त इसी कारण अधिक शान्त है और पशुओं से कीट—पतंग, कीट—पतंगों से वृक्ष आदि कम अशान्त हैं। यही कारण है कि उनके मनुष्य से कम कर्म बंधते हैं। जानकारी के कारण ही भवनपतियों के पास रहने वाले भवनहीन जीव नारकीय जीवन बिताते हैं। भवनपति उनके दुःख के निमित्त कारण बनते

हैं। 5. जिन व्यक्तियों को भोग्य पदार्थों की जानकारी भी है, परन्तु उन्हें क्रय करना, प्राप्त करना उनके वश की बात नहीं है, असमर्थ है। ऐसी स्थिति में भी उनके मन में उन वस्तुओं को पाने का संकल्प, न मिलने का विकल्प नहीं उठता है। जैसे— एक भिखारी को कार पाने, बंगला बनाने का संकल्प—विकल्प नहीं होता है। इसका कारण यह नहीं है कि वह इन्हें नहीं चाहता है कारण कि आज भी उसकी सामर्थ्य क्रय करने व संभाल सकने की हो, व्यय वहन करने की हो अथवा कोई मुफ्त देनेवाला व व्यय वहन करने वाला मिल जाये, तो वह भी इन वस्तुओं को लेने को तैयार हो जायेगा।

निद्रा आदि उपर्युक्त कारणों से होने वाली निर्विकल्प स्थिति तो प्राणी के जीवन में होती ही रहती है। उससे शान्ति मिलती है। शक्ति का संचय भी होता है, परन्तु उस शांति और निर्विकल्पता का कोई महत्त्व नहीं है, जो निद्रा, जड़ता, मूर्च्छा, अज्ञानता और असमर्थता के कारण मिलती है। कारण कि ये सब स्थितियाँ जड़ता जनित हैं तथा चेतना के स्वभाव के विपरीत हैं, हानिकारक हैं।

निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति इन दोनों में बहुत अन्तर है। महत्त्व है निर्विकल्प अनुभूति का, निर्विकल्प स्थिति का नहीं। महत्त्व निर्विकल्पता का नहीं, विकल्पों के त्याग का है, निर्विकल्प बोध का है, त्यागपूर्वक निर्विकल्पता का है, अनुभूति का है। यह सर्वविदित (सबकी अनुभूति) है कि कामना की अपूर्ति ही चित्त को अशान्त बनाती है। कामना उत्पन्न होते ही पूरी नहीं हो जाती, उसकी पूर्ति श्रम एवं प्रयत्न पर निर्भर करती है। अतः प्रत्येक प्राणी को कामना पूर्ति के पूर्व कामना अपूर्ति की स्थिति से गुजरना पड़ता है। वह स्थिति चित्त की अशान्ति व विकल्प की द्योतक है, कामना उत्पत्ति व अपूर्ति चित्त के संकल्प—विकल्प की कारण बनती है।

जहाँ कामना है, वहाँ अशान्ति है। जितनी अधिक कामनाएँ, उतनी ही अधिक अशान्ति। जितनी प्रबल कामनाएँ, उतनी ही प्रबल अशान्ति। कामनाएँ किसी भी कारण से उत्पन्न हों, वे चित्त को अशान्त बनाती हैं। इसीलिए कोई व्यक्ति बहुत अधिक कामनाएँ करता है, तो उसका चित्त घोर अशान्त हो जाता है। चित्त की यह स्थिति नारकीय है। संसार में इन्द्रिय

सुख व भोग की सामग्री अगणित है। यदि कोई उन वस्तुओं को पाने की कामनाएँ करने लगे, तो मस्तिष्क इतना अधिक अशान्त हो जायेगा कि उसके मस्तिष्क की कोई भी स्नायु फटकर रक्तस्राव (हेमरेज) हो सकता है, जिससे लकवा, पागलपन या मृत्यु भी हो सकती है। जहाँ विकल्प है, संकल्प है, कामना है; वहाँ अशान्ति है। निर्विकल्पता में ही शान्ति है, प्रसन्नता है।

वस्तुतः महत्त्व निर्विकल्प बोध का है। उसकी उपलब्धि कामना पूर्ति के सुख में दुःख का अनुभव करने से होती है। जब सत्य के खोजी को इसका ज्ञान होता है कि कामनापूर्ति का सुख, सुख नहीं है, सुखाभास है, पराधीनता, जड़ता में आबद्ध करने वाला है, अभाव के दुःख एवं वित्त की अशान्ति को उत्पन्न करने वाला है, क्षणिक है, शक्ति का ह्रास करने वाला है, तब उसे इस सच्चाई का ज्ञान होता है कि दुःख का कारण कमी नहीं है, कामना है। सुख, कामना पूर्ति में नहीं, कामना के अभाव में है। सुख, शान्ति, स्वाधीनता की प्राप्ति कामनापूर्ति में नहीं, कामना के त्याग में है। सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। संसार का ऐसा कोई दुःख नहीं है, जिसका कारण कामना पूर्ति के सुख का भोग न हो। इन तथ्यों का जब अनुभव के स्तर पर बोध होता है, तब कामना के उत्पन्न होने से होने वाली अशान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। उसे उस विकल्प व अशान्ति का दुःख जब सहन नहीं होता है, तब साधक कामना की उत्पत्ति को दुःख का कारण अनुभव कर कामना का त्याग करने को तत्पर होता है, कामना न करने का दृढ़ निश्चय करता है। इससे सहज स्वतः निर्विकल्पता आती है। यह अनुभूति बाहरी कारणों से उत्पन्न न होकर अन्तर से प्रस्फुटित होती है। यह निर्विकल्पता, चिन्मयता, मुक्ति व स्वाधीनता को देने वाली है। इसमें साधक का सच्चा हित व कल्याण है। सुख भोग की कामना का त्याग ही सच्चा त्याग है, उसी का महत्त्व है।

सभी व्यक्ति प्रतिदिन मल—मूत्र आदि का विसर्जन करते ही हैं। नोट—सिक्के आदि मुद्रा देकर वस्तुएँ खरीदते हैं। दुकान पर ग्राहक अधिक आने पर भोजन छोड़ देते हैं। मृत्यु आने पर धन, संपत्ति, घर—परिवार, शरीर को छोड़ते हैं। परन्तु यह छोड़ना त्याग नहीं है। त्याग है—सुख—भोग को दुःखद जानकर भोग्य पदार्थों की कामना—ममता का त्याग

करना और साथ ही वस्तुओं का भी त्याग करना। ऐसे ज्ञानपूर्वक त्याग से आविर्भूत निर्विकल्प बोध ही सच्ची निर्विकल्पता है। इसी का महत्त्व है। यही वास्तव में कल्याणकारी है। इसी में प्राणी का हित है।

स्वसंवेदन एवं निर्विकल्पता

जीव की अजीव से दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। अतः जीव का मुख्य गुण दर्शन है। दर्शन का अर्थ है स्व-संवेदन। जिसमें संवेदन गुण है—वही चेतन है। दर्शन को प्राचीन ग्रंथों में कुछ विशेषणों से समझाया गया है, परिभाषित किया गया है यथा— 1. स्व-संवेदन 2. निर्विकल्प 3. निराकार 4. अविशेष-अभेद और 5. अनिर्वचनीय। इन सबका परस्पर घनिष्ठ-सम्बन्ध है। इनमें से अविशेष (सामान्य), अभेद, निराकार और निर्विकल्प समानार्थक हैं। अनिर्वचनीय इसीलिए कहा कि दर्शन को शब्दों से, वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। ये चारों विशेषण निषेधात्मक हैं। निषेधात्मक वर्णन अभाव को प्रकट करता है। अभाव से किसी वस्तु या तथ्य के अस्तित्व व स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। अतः इन चारों विशेषणों से दर्शन क्या है, इसका ज्ञान नहीं होता है। विधिपरक विशेषण है—स्व-संवेदन और यही चेतना का मुख्य गुण है।

निर्विकल्पता और स्व-संवेदन का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। निर्विकल्पता है—विकल्प का न उठना। विकल्प का कारण है संकल्प। जहाँ संकल्प है, वहीं विकल्प है। संकल्प का कारण राग है। जहाँ राग है, वहाँ राग की पूर्ति में बाधा पड़ने से द्वेष उत्पन्न होता है। अतः जहाँ राग है वहाँ द्वेष है। अनुकूलता को बनाये रखने की चाहना राग, प्रतिकूलता को हटाने की चाहना द्वेष है। अतः जहाँ हर्ष-विषाद है, हास्य-शोक है, रति-अरति है वहाँ राग-द्वेष है।

संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष से परे होने का उपाय है—अनुकूलता में हर्ष या रति न करना, अनुकूलता का सुख न भोगना और प्रतिकूलता से दुःखी न होना अर्थात् अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों में समभाव से रहना। यही निर्विकल्पता है। आशय यह है कि जहाँ समभाव है—समता है, वहाँ ही निर्विकल्पता है। समता और निर्विकल्पता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहाँ निर्विकल्पता है वहाँ ही दर्शन है। दूसरे शब्दों में यह कहा

जा सकता है कि जहाँ समता (समभाव) है, वहाँ ही दर्शन है। अतः जैसे-जैसे विकल्प घटते जाते हैं और समता या निर्विकल्पता पुष्ट होती जाती है—बढ़ती जाती है वैसे-वैसे दर्शन गुण प्रकट होता जाता है। दर्शन गुण का प्रकटीकरण स्व-संवेदन रूप में होता है। अतः जैसे-जैसे दर्शन गुण का विकास या प्रकटीकरण होता जाता है, वैसे-वैसे स्व-संवेदन (आत्मानुभव—स्वानुभव गुण) की स्पष्टता—सूक्ष्मता प्रकट होती जाती है। चेतना का विकास होता जाता है।

दुःख किसी को भी पसंद नहीं है, परन्तु सुख के भोगी को न चाहते हुए भी दुःख भोगना ही पड़ता है, क्योंकि विषय—कषाय युक्त भोगों के सुखों के साथ पराधीनता, जड़ता, अभाव, भय, चिंता, खिन्नता, शक्तिहीनता, वियोग, प्रतिकूलता, आकुलता आदि दुःख सदैव जुड़े रहते हैं। सुख में जीवन बुद्धि होने पर सुख की आशा, सुख की दासता, सुख के प्रलोभन में आबद्ध प्राणी प्रथम तो इन दुःखों का कारण अपने को नहीं मानकर अन्य वस्तु—व्यक्ति—परिस्थिति को मानता है और भोग्य वस्तुओं का आश्रय लेकर परिस्थिति को बदलकर इन दुःखों को दूर करना चाहता है, परन्तु आज तक ऐसा किसी के लिए भी संभव नहीं हुआ। द्वितीय बात यह है कि विवेक या तटस्थ विचार से वह इस सत्य को जान भी लेता है कि इन दुःखों का कारण मैं स्वयं हूँ, मेरी सुखभोग की इच्छाएँ हैं, तब भी वह इस सत्य की उपेक्षा करता है। वह अपनी सुख की दासता को नहीं छोड़ना चाहता है, क्योंकि उसकी यह मान्यता होती है कि यह विषय सुख ही जीवन है। यह सुख नहीं है तो जीवन का कोई अर्थ नहीं है। यह मान्यता इतनी दृढ़ होती है कि वह सत्य को देखते हुए भी अनदेखा कर देता है। उस पर सत्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उसके लिए तो सर्वस्व विषय सुख व सुख की सामग्री का संग्रह ही है। क्योंकि उसने विषय—सुख के अतिरिक्त अन्य सुख का, निज स्वरूप के निराकुल सुख का कभी अनुभव किया ही नहीं है। यद्यपि सुख सदैव निराकुलता—निर्विकल्पता की अवस्था में ही मिलता है, परन्तु उसका ध्यान उस ओर नहीं जाता है और उस निर्विकल्पता से मिले सुख को भी कामना पूर्ति से मानता है, जो घोर मिथ्यात्व है। सुख निराकुलता, निश्चितता, निर्विकल्पता एवं स्वाधीनता में है।

समस्त शक्तियों का उद्भव निर्विकल्पता में ही होता है, जागृत अवस्था में सुषुप्तिवत् होने पर निर्विकल्प होने पर चिन्मयता, शान्ति, विवेक, प्रसन्नता, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, सामर्थ्य आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति, अनुभूति होती है। यदि कोई एक मुहूर्त इस अवस्था में रह जाये, तो वीतरागता या कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। इन्द्रिय, मन, देह आदि से असंग होने पर ही चिन्मय स्वभाव की, स्वानुभव की, अविनाशी तत्त्व की, निज दर्शन की अनुभूति होती है। यही सच्चा दर्शन गुण है।

कामना—त्याग से निर्विकल्पता

सब प्रकार के चिंतन, कामना व चाह रहित होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वतः होती है एवं किसी न किसी प्रकार की चाह से ही संकल्प एवं चिंतन की उत्पत्ति होती है अर्थात् निर्विकल्पता भंग होती है। निर्विकल्प स्थिति में ही विश्रांति का अनुभव होता है। विश्रांति में ही शान्ति, शक्ति, सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। शान्त चित्त में ही विवेक की जागृति तथा सत्य की जिज्ञासा होती है, त्याग का सामर्थ्य आता है और प्रवृत्ति करने की शक्ति आती है। अतः जितनी—जितनी निर्विकल्पता गहन होती जाती है अर्थात् दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है, वैसे—वैसे ज्ञान बढ़ता जाता है। जैसे—जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे—वैसे राग—द्वेष—मोह आदि दोषों में कमी आती जाती है। निर्विकल्पता का रस निराकुल होता है, निज के चिन्मय स्वरूप का होता है— सच्चा वास्तविक सुख होता है, यह विषय—सुख से भिन्न—विलक्षण होता है। विषय सुख की प्रतीति तो इन्द्रिय व मन के उत्तेजित होने पर, सक्रिय होने पर होती है। उसमें आकुलता, जड़ता, पराधीनता रहती ही है। जबकि निर्विकल्पता का सुख निराकुल, निर्विकार, स्वाधीन एवं चिन्मय रूप होता है।

जब तक व्यक्ति कामना अपूर्ति जनित दुःख को दूर करने के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि अपने से भिन्न पदार्थों का आश्रय लेता है, जब तक वह पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। जो व्यक्ति कामना रहित—निर्विकल्प हो जाता है। उसे ही शान्ति का रस मिलता है, जो वास्तविक सुख है। यही नहीं कामना पूर्ति के समय जो सुख होता है वह भी उस समय कामना के न रहने से, कामना का अभाव होने पर चित्त के शान्त होने से, निर्विकल्प होने से होता है। जो इस

सत्य का अनुभव कर लेता है, वह सम्यक् दृष्टि है और जो उस सुख को कामना पूर्ति से मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसकी यह मान्यता मिथ्या है। कामना पूर्ति में सुख मानने से अनेक नई कामनाएँ पैदा होती हैं, उन कामनाओं की पूर्ति के लिए प्राणी जीवन पर्यन्त दौड़ता रहता है—भ्रमण करता है। परन्तु उसे स्थायी सुख की उपलब्धि एवं संतुष्टि नहीं होती। कामना उत्पत्ति सुख—प्राप्ति के लिए ही होती है। सुख प्राप्ति का प्रयत्न वही करता है, जिसे सुख का अभाव है। अतः कामना उत्पत्ति सुख के अभाव की, नीरसता की सूचक है। कामनाओं की पूर्ति से सुख का अभाव मिटता नहीं है, बल्कि क्षणिक सुख का आभास होता है। यदि कामना पूर्ति से यह सुख का अभाव मिटता होता, तो प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिदिन बीसों कामनाएँ पूरी होती हैं और उनकी पूर्ति में उसे सुख का आभास भी होता है। यदि यह वास्तविक सुख होता तो अब—तक सभी प्राणी सुखी हो जाते। आज प्रत्येक व्यक्ति के पास में आज के सौ वर्ष पहले के व्यक्ति से सैकड़ों गुना वस्तुएँ हैं। मधुर संगीत सुनने के सुख के लिए लाखों रुपयों से तैयार किये गए गानों के कैसेट, रेडियो, सुंदर दृश्य देखने के लिए सिनेमा, टेलीविजन, जिह्वा इन्द्रिय के सुख के लिए सैकड़ों प्रकार की मिठाइयाँ, खटाइयाँ, नमकीन, व्यंजन आदि अगणित सुख की सामग्री है, जिसका वह भोग—उपभोग कर रहा है। यदि इनसे सुख मिल गया होता, सुख से तृप्ति व संतुष्टि हो गई होती, तथा सुख की कामना उत्पन्न नहीं होती। कारण कि भोग—सामग्री में सुख है ही नहीं। यदि भोग—सामग्री में सुख होता तो सामग्री के विद्यमान रहते सुख भी रहता, परन्तु सामग्री ज्यों की त्यों विद्यमान रहती है और सुख सूख जाता है। सुख प्रतिक्षण क्षीण होकर नीरसता में बदल जाता है। अतः कामना पूर्ति में सुख मानना भयंकर भूल है, घोर मिथ्यात्व है। सुख कामना के अभाव में है, निर्विकल्पता में है। निर्विकल्पता या दर्शन गुण ही चेतना का मुख्य गुण है।

दर्शन गुण का फल : चेतना का विकास

जीवन में मृत्यु का दर्शन कर लें तो अमरत्व की अनुभूति हो जाये। संयोग में वियोग का दर्शन कर लें, तो नित्य योग की अनुभूति हो जाये। विषय—सुख में दुःख का अनुभव (दर्शन) कर लें, तो अनवरत अक्षय,

अखण्ड अनन्त सुख की उपलब्धि हो जाये। विषयभोग में रोग (विकार) का दर्शन कर लें, तो निर्विकारत्व की, आरोग्य की, स्वस्थता की उपलब्धि हो जाए। अमरत्व, निर्विकारत्व, अक्षय, अखंड, अनंत सुख की अनुभूति होना ही शरीर, संसार व समस्त दुःखों से मुक्त होना है।

दर्शनावरण कर्म में 'दर्शन' शब्द का अर्थ देखना नहीं है। प्रत्युत संवेदनशीलता का अनुभव करना है। संवेदनशीलता का अनुभव शान्तचित्त में ही होता है। चित्त शान्त निर्विकल्पता से होता है। निर्विकल्पता कामना के अभाव से, चाह रहित होने से ही होती है। शान्त चित्त में ही विचार या विवेक का उदय होता है। इसीलिए जैनागम में दर्शन के विकास के साथ ज्ञान के विकास की बात कही है। जितना दर्शन का विकास होता है, उतनी ही संवेदनशीलता बढ़ती है। अर्थात् चेतना का विकास होता है। दर्शन का विकास होता है, कामना(चाह की इच्छा) के अर्थात् आर्तध्यान के त्याग से, प्रकारान्तर से कहें, तो मोह की कमी से। दर्शन के विकास से चेतना का विकास होता है एवं विवेक का उदय होता है। बुद्धि का उपयोग भोग भोगने में करना ज्ञान का विकास नहीं है। ज्ञान का विकास सत्य का दर्शन करने से अर्थात् सत्य का अनुभव करने से होता है। यह नियम है कि जितना-जितना सत्य का अनुभव होता जाता है, उतनी- उतनी जड़ता, पराधीनता, चिन्ता, खिन्नता छूटती जाती है। निश्चिन्तता, निर्भयता, चेतनता, स्वाधीनता, प्रसन्नता बढ़ती जाती है। यही जीवन है।

‘दर्शन साधना’ की उपलब्धियाँ

1. लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता में हर्ष-शोक न करना समता है। समता में निर्विकल्पता होती है। निर्विकल्पता ही दर्शन है। निर्विकल्पता से ही चिन्मयता, जागरूकता आती है। यही 'दर्शन' गुण का प्रकट होना है, दर्शनावरण का अंशतः हटना है, क्षयोपशम है।
2. निर्विकल्पता है चित्त का शान्त होना। शान्त चित्त में ही विचार का, ज्ञान का उदय होता है। यह ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।
3. राग-द्वेष न करने से निर्विकल्पता आती है। अतः राग-द्वेष या मोह के हटने या घटने से निर्विकल्पता आने से स्व-संवर्देन रूप 'दर्शन' (गुण या उपयोग) तथा विचार का उदय रूप 'ज्ञान' (गुण या उपयोग) का प्रकटीकरण होता है।

4. निर्विकल्पता कामना रहित होने से आती है। कामना रहित होने से अभाव का अभाव होता है अर्थात् ऐश्वर्य प्रकट होता है, यही लाभान्तराय का क्षयोपशम है।
5. निर्विकल्पता से निज रस का आस्वादन—अनुभव होता है, यह भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।
6. निज रस—आत्मानुभव के परमानन्द का निरन्तर बना रहना उपभोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।
7. निर्विकल्पता वहीं संभव है जहाँ कर्तृत्वभाव नहीं है अर्थात् जहाँ अप्रयत्न है एवं अक्रियता है। प्रयत्न की आवश्यकता न रहना ही असमर्थता का अंत करना है। यह वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।
8. निर्विकल्प साधक को अपने लिए संसार से कुछ नहीं चाहिये। उसका सारा जीवन जगत् के हित या कल्याण के लिए होता है। उसके हृदय में करुणा का सागर उमड़ता रहता है, यही दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय है।
9. निर्विकल्पता निर्दोषता की द्योतक है। यही चारित्र मोहनीय का उपशम या क्षय रूप चारित्र है।
10. निर्विकल्पता में 'यथाभूत तथागत' का अर्थात् जो जैसा है, उसे वैसा ही अनुभव करने रूप (बोध, विज्ञान) सत्य का साक्षात्कार होता है। यही सम्यग्दर्शन है। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्पता या समता से चैतन्य के नव गुणों या नौ उपलब्धियों का प्रकटीकरण होता है। यही नव क्षायिकभाव, चेतना के मुख्य गुण हैं। निर्विकल्पता या समता (समभाव) ही सामायिक है। यही ध्यान है, यही साधन है, यही मुक्ति का मार्ग है।
11. कर्म—सिद्धान्तानुसार जितनी—जितनी निर्विकल्पता स्थायी होती जाती है, उतनी—उतनी समता पुष्ट होती जाती है। समता में स्थित रहना ही धर्म—साधना है, धर्म ध्यान है तथा जितना राग—द्वेष कम होता जाता है उतने—उतने दुष्कर्मों (पापों) के स्थिति व अनुभाग घटते जाते हैं अर्थात् कर्मों की निर्जरा होती जाती है।
12. दर्शन गुण की परिपूर्णता ही निज स्वरूप में अवस्थित होना है, मुक्त होना है।

दर्शनोपयोग के अभाव में ज्ञानोपयोग नहीं

इन्द्रियों का वस्तु से संपर्क व सन्निकर्ष होने से चेतना में सर्वप्रथम संवेदन होता है। संवेदन से चेतना में हलचल होती है। वस्तु के अस्तित्व का अनुभव (Sensation) होता है। फिर कुछ है, क्या है आदि विकल्प होते हैं। ये विकल्प पर के विषय में होते हैं, अतः पर से संबंधित हैं। पर से संबंधित होना बहिर्मुखी होना है। अतः जहाँ अवग्रह—ईहा आदि ज्ञानोपयोग है अर्थात् चिंतन है, वहाँ बहिर्मुखीपना है। वहाँ चेतना का प्रवाह शरीर व संसार की ओर रहता है। इसमें निजरस का आस्वादन तथा स्वसंवेदन नहीं होता है। जहाँ निज रस नहीं, वहाँ निजानंद नहीं, फिर वह चिंतन अविनाशी के सम्बन्ध में भी क्यों न हो। अतः जहाँ चिंतन है, विकल्प है, विचार है, भेद है, भिन्नता है वहाँ आकार है, आकार में ही भेद व भिन्नता प्रतीत होती है। वहाँ दर्शन या स्व-संवेदन नहीं है, चिन्मयता का बोध नहीं है—स्वानुभव नहीं है। अतः अचिंतन या निर्विकल्पता में ही चिन्मयता है। परन्तु यह अचिंतन, निर्विकल्पता, निद्रा या मूर्च्छित अवस्था रूप हो, मोह रूप हो तो जड़ता है, चिन्मयता नहीं। जैसे पथर, दीवार, पुस्तक आदि में विकल्पता नहीं होने पर भी वे जड़ ही हैं। सजग अवस्था की निर्विकल्पता में ही चिन्मयता का बोध होता है, जड़ता रूप निर्विकल्पता में चिन्मयता का बोध नहीं होता है।

प्राणिमात्र में अंतर्मुहूर्त में ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग बदलते रहते हैं अर्थात् दर्शनोपयोग अवश्य आता ही है। दूसरे शब्दों में कहें तो अंतर्मुहूर्त के भीतर प्राणिमात्र में निर्विकल्प स्थिति आती है। जहाँ एक विकल्प या विचार—विमर्श समाप्त होता है और दूसरा विकल्प प्रारम्भ होता है उस अंतराल अवस्था में निर्विकल्पता आती है। निर्विकल्पता में चिन्मय अवस्था है ही। परन्तु वह काल इतना अल्प होता है कि वह कब आता है और कब चला जाता है, कुछ पता ही नहीं चलता। हमें जो भी पता चलता है एवं जानकारी होती है, वह चिंतन अवस्था की होती है। चिंतन में प्रवाह होता है, प्रवृत्ति होती है, गति होती है तथा चिंतन का माध्यम मन या चित्त है। इसी कारण हमें सदैव चित्त चंचल या चलायमान लगता है। यदि हम किसी चिंतन रूप प्रवृत्ति अर्थात् विकल्प की समाप्ति पर कुछ क्षण (समय) नया विकल्प न उठाये, शान्त रहें तो उस समय चिन्मयता का बोध तथा निज रस का, निजानंद का अनुभव होने लगेगा।

दर्शन गुण व ज्ञान गुण प्राणिमात्र में सदैव विद्यमान रहते हैं। इन गुणों में न्यूनाधिकता, ह्रास—विकास भी नहीं होता। हमें जो ज्ञान—दर्शन में न्यूनाधिकता, ह्रास—विकास की प्रतीति होती है वह मोह के कारण इन गुणों पर आये आवरण में न्यूनाधिकता के कारण होती है। आवरण के कारण गुण प्रकट नहीं होता, परन्तु गुण नष्ट नहीं होता है, न उसमें क्षति या ह्रास होता है। किसी वस्तु का प्रकट नहीं होना, उसका विनाश होना या अभाव होना नहीं है।

आश्चर्य यह है कि ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण प्राणिमात्र में सदैव ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। परन्तु प्राणी उपयोग एक समय में किसी एक गुण का ही कर सकता है कारण कि सविकल्प और निर्विकल्प ये दो विरोधी स्थितियाँ हैं। अतः दोनों का उपयोग एक साथ नहीं हो सकता। अर्थात् जब ज्ञानोपयोग होता है, तब दर्शनोपयोग नहीं होता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता। ज्ञानोपयोग हो अथवा दर्शनोपयोग, उस उपयोग के समय चेतना में ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं।

दर्शनगुण, दर्शनोपयोग, ज्ञानगुण एवं ज्ञानोपयोग में भेद

पहले कह आए हैं कि जीव का लक्षण 'दर्शन' और 'ज्ञान' है। इनमें पहले दर्शन होता है और पीछे ज्ञान होता है। अर्थात् दर्शन होने पर ही ज्ञान होता है। अतः दर्शन का महत्त्व ज्ञान से भी अधिक है। (धवलाटीका पुस्तक, 1 पृष्ठ 385) दर्शन है—'स्व—संवेदन'। इसी दर्शन के निर्विकल्पता, अनाकार, अभेद, सामान्य, अंतर्मुख चैतन्य, अंतरंग ग्रहण, आलोचन, अव्यक्त, निर्विशेष आदि पर्यायवाची शब्द हैं। वस्तुतः जिसमें संवेदन गुण है वही चेतन है, जीव है। संवेदन होने के पश्चात् उस संवेदना के प्रति अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि विकल्पों के रूप में ज्ञान होता है। संवेदना न हो तो ज्ञान का उपयोग ही न हो। अतः जहाँ संवेदन शक्ति रूप दर्शनगुण है, वहाँ ही चेतना है, जीव है। (धवलाटीका पुस्तक 1, पृष्ठ 196)

अभिप्राय यह है कि दर्शन गुण ही चेतना का आधारभूत मूल गुण है। दर्शनगुण की पहली विशेषता स्वसंवेदनशीलता है और दूसरी विशेषता निर्विकल्पता है, अर्थात् जहाँ संवेदनशीलता है, वहीं निर्विकल्पता भी है और जहाँ निर्विकल्पता है, वहीं संवेदनशीलता है। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए

जैनाचार्यों ने कहा है कि एक विचार से दूसरे विचार पर, एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर जाते समय जहाँ पहला विचार समाप्त होता है और फिर दूसरा विचार उत्पन्न होता है, इन दोनों विचारों के मध्य में जो निर्विचार अवस्था है, वही 'दर्शन' है। अर्थात् जहाँ विचार, चिंतन व विकल्प नहीं होता है, उस निर्विकल्प अवस्था के समय जीव का दर्शनोपयोग होता है। जैन दर्शन में यह भी कहा गया है कि अंतर्मुहूर्त में उपयोग बदलता ही है अर्थात् दर्शनोपयोग से ज्ञानोपयोग में और ज्ञानोपयोग से दर्शनोपयोग में बदलाव होता ही रहता है। तात्पर्य यह है कि अंतर्मुहूर्त में प्रत्येक जीव को अनेक बार दर्शनोपयोग होता ही है, अर्थात् जीव इस निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होता ही है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि जीव को निर्विकल्पता (दर्शनोपयोग) की उपलब्धि अंतर्मुहूर्त में अनेक बार स्वतः सहज, अनायास ही होती है। (कसायपाहुड गाथा 16 से 20 के अनुसार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का उत्कृष्टकाल एक क्षुद्रभव प्रमाण है।) परन्तु सामान्यतया जीव को उस निर्विकल्प अवस्था का बोध या परिचय नहीं होता है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि सामान्य प्राणी को इस निर्विकल्प अवस्था रूप दर्शनोपयोग की अनुभूति अत्यल्प काल पलभर से भी कम काल तक होती है। अतः उसे इसका पता ही नहीं चलता। द्वितीय कारण यह है कि जैसे ही व्यक्ति इसे जानना चाहता है, वैसे ही उसमें चिंतन प्रारंभ हो जाता है और ज्ञानोपयोग चालू हो जाता है। अतः दर्शनोपयोग का अनुभव उन्हीं को होता है, जो अधिक काल तक निर्विकल्प अवस्था में ठहर कर स्वसंवेदन कर सकें। यह स्थिति अंतर्मुखी अवस्था में ही संभव है। जैसा कि षट्खण्डागम की धवलाटीका में कहा है— 'अंतर्मुख चैतन्य दर्शन है और बहिर्मुख चित्प्रकाश ज्ञान है।' (धवला पुस्तक 1 पृ. 94) ऐसी अंतर्मुख अवस्था की अनुभूति ध्यान के समय ही होती है। अतः जो साधक ध्यान—साधना के द्वारा अंतर्मुखी होकर कुछ समय तक निर्विकल्प रहकर स्वसंवेदन करते हैं, वे ही दर्शनोपयोग व दर्शनगुण से परिचित होते हैं। स्व—संवेदन करना ही स्वरूप—संवेदन करना है, आत्मसाक्षात्कार करना है। अतः आत्म—साक्षात्कार करने वाले साधकों को ही दर्शनोपयोग व दर्शनगुण का बोध होता है, अन्य सब प्राणियों के भी दर्शनोपयोग व दर्शनगुण होता है, परन्तु उन्हें इनका बोध नहीं होता है।

दर्शन से ठीक विपरीत परिभाषा ज्ञान की है। ज्ञान सविकल्प, साकार, सविशेष, बहिर्मुख—चित्प्रकाश व चिंतन रूप होता है। यद्यपि ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण चेतना के हैं, परन्तु दोनों गुणों के लक्षण एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए जब दर्शनोपयोग होता है, तब ज्ञानोपयोग नहीं होता है और जब ज्ञानोपयोग होता है, तब दर्शनोपयोग नहीं होता है। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि जैनागमों में कहीं यह नहीं कहा कि ज्ञान के समय दर्शन नहीं होता और दर्शन के समय ज्ञान नहीं होता, अपितु यह कहा है कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, ये दोनों उपयोग किसी भी जीव को एक साथ नहीं होते। क्योंकि ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण आत्मा के लक्षण हैं, अतः ये दोनों गुण आत्मा में सदैव विद्यमान रहते हैं। इनमें से किसी भी गुण का कभी भी अभाव नहीं होता है। यदि ज्ञान या दर्शन गुण का अभाव हो जाये, तो चेतना का ही अभाव हो जाये, कारण कि गुण का अभाव होने पर गुणी का अभाव हो जाने का प्रसंग उपस्थित होता है। अतः चेतना में ज्ञान और दर्शन, ये दोनों गुण सदैव विद्यमान रहते हैं। परन्तु इन दोनों गुणों में से उपयोग एक समय में किसी एक ही गुण का होता है, दोनों गुणों का नहीं होता है।

उपर्युक्त तथ्य से यह भी फलित होता है कि ज्ञान गुण और ज्ञानोपयोग एक नहीं हैं तथा दर्शन गुण और दर्शनोपयोग एक नहीं हैं, दोनों में अंतर है, जैसा कि षट्खंडागम की धवलाटीका पुस्तक 2 पृष्ठ 411 पर लिखा है—“स्व—पर को ग्रहण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। वह उपयोग ज्ञान मार्गणा और दर्शन मार्गणा में अंतर्भूत नहीं होता है।” इसी प्रकार पन्नवणासूत्र में भी ज्ञानदर्शन द्वार को अलग कहा है और उपयोग द्वार को अलग से कहा है। तात्पर्य यह है कि गुणों की उपलब्धि का होना और उनका उपयोग होना, ये दोनों एक नहीं हैं, दोनों में अंतर है।

उपलब्धि और उपयोग के अंतर को उदाहरण से समझें। मानव में गणित, भूगोल, खगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है, परन्तु किसी ने गणित व भूगोल इन दो विषयों का ज्ञान प्राप्त किया है, तो उसे इन दोनों विषयों के ज्ञान की उपलब्धि हुई, यह कहा जायेगा। और अन्य विषयों के ज्ञान की उपलब्धि उसे

नहीं है, यह भी कहा जायेगा। गणित और भूगोल इन दो विषयों में से भी अभी वह गणित का ही चिंतन, अध्ययन या अध्यापन कार्य कर रहा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें भूगोल के ज्ञान का अभाव है। उसे इस समय भी भूगोल का ज्ञान उपलब्ध है, परन्तु वह उसका उपयोग नहीं कर रहा है। एक दूसरा उदाहरण और लें— एक व्यक्ति में अनेक वस्तुओं के क्रय करने की क्षमता है, परन्तु उसने रेडियो और टेलीविजन ही खरीदा है तथा इस समय वह रेडियो चला रहा है, टेलीविजन नहीं चला रहा है, तो यह कहा जायेगा कि व्यक्ति में क्षमता तो अनेक वस्तुओं को प्राप्त करने की है, उपलब्धि उसे रेडियो और टेलीविजन की है और उपयोग वह रेडियो का कर रहा है। यह क्षमता, उपलब्धि और उपयोग में अंतर है। किसी गुण की उपलब्धि या लब्धि, कर्मों के क्षयोपशम या क्षय से होती है और 'उपयोग' लब्धि के अनुरूप व्यापार से होता है। जैसा कि उपयोग की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

उपयुज्यते वस्तुपनिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः।

—प्रज्ञापना सूत्र, 24वें पद की टीका

अर्थात् वस्तु के जानने के लिए जीव के द्वारा जो व्यापार किया जाता है, उसे उपयोग कहते हैं।

“उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।” “इन्द्रियफलमुपयोगः।” (सर्वार्थसिद्धि अ.2 सूत्र 9 व 18) अर्थात् जो अंतरंग और बहिरंग दोनों निमित्तों से उत्पन्न होता है और चैतन्य का अनुसरण करता है, ऐसा परिणाम उपयोग है। अथवा इन्द्रिय का फल उपयोग है।

‘स्व-पनग्रहणपरिणाम उपयोगः’—धवलाटीका, पुस्तक 2 पृ. 411

अर्थात् स्व-पर को ग्रहण करने वाला परिणाम (भाव) उपयोग है।

वत्युणिमितो भावो जादो जीवस्य खेदि उवओगो।

—पंचसंग्रह, गाथा 198

अर्थात् वस्तु के निमित्त से जीव के भाव का प्रवृत्त होना उपयोग है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह फलित होता है कि ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से या क्षय से होने वाले गुणों की प्राप्ति को लब्धि कहते हैं और उस लब्धि के निमित्त से होने वाले जीव के परिणाम या भाव का प्रवर्तमान होना उपयोग है।

एक समय में एक ही उपयोग

परिणाम या भाव एक समय में एक ही हो सकता है। अतः एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है, दोनों उपयोग युगपत् नहीं हो सकते। परन्तु लब्धि ज्ञान-दर्शनगुण के साथ दान, लाभ, भोग आदि गुणों की भी होती है। यही नहीं किसी को अनेक ज्ञानों की उपलब्धि या लब्धि हो सकती है, परन्तु वह एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग करता है। जैसा कि कहा है— **‘मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत्’** (तत्त्वार्थभाष्य अ.1 सूत्र 31) अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान, इन चार ज्ञानों का उपयोग एक साथ नहीं होता। किसी भी जीव को एक साथ एक से अधिक ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता। कारण कि ये सब ज्ञान की पर्यायें हैं और यह नियम है कि एक साथ एक से अधिक पर्यायों का उपयोग नहीं हो सकता। इसीलिये पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं, सहवर्ती नहीं। अतः चारों ज्ञानों की उपलब्धि तो एक साथ हो सकती है, परन्तु उनका उपयोग क्रमवर्ती होता है, सहवर्ती नहीं और एक ज्ञान में भी उसके अनेक भेदों में किसी एक भेद का ही ज्ञानोपयोग हो सकता है, अनेक भेदों का उपयोग एक साथ नहीं हो सकता।

जैसा कि कहा है—

दंमणणाणावरणक्खवए अमाणम्मि कम्म छेइ पुव्वयवनं।

छेज्ज अमो उप्पाओ तुदि दुवे, णत्थि उवजोगा॥१३६॥

—जयधवला पुस्तक, 1 पृ. 329

दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक साथ होने पर पहले केवलदर्शन होता है या केवलज्ञान? ऐसा पूछने पर कहना होगा कि दोनों गुणों की उत्पत्ति एक साथ होगी, पर इतना निश्चित है कि केवल ज्ञानोपयोग और केवल दर्शनोपयोग, ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं हो सकते।

अभिप्राय यह है कि जैनागमों में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के एक साथ होने का निषेध नहीं किया गया है। निषेध किया गया है दोनों उपयोग एक साथ होने का। यहाँ तक कि वीतराग केवली के भी दोनों उपयोग युगपत् नहीं माने हैं, जैसा कि कहा है— **अव्वक्कम केवलिकम्म वि जुगवदो णत्थि उवओगा’** —विशेषावश्यक भाष्य, 3096

यहाँ प्रसंगवश यह विचार करना अपेक्षित है कि श्वेताम्बर आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर एवं दिगंबर आचार्य श्री वीरसेन केवली के दोनों उपयोग युगपत् मानते हैं। यह कहाँ तक युक्तिसंगत है?

इस सम्बन्ध में प्रथम तो मेरा यह निवेदन है कि प्राचीन काल में सभी जैन संप्रदायों में केवली में दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते हैं, यह मान्यता थी। जैसा कि कषायपाहुड में लिखा है—**केवलणाण-केवलदंमण मुक्कञ्ज उवजोगकालो जेण “अंतोमुद्धुत्तमेत्तो” ति भणिदो तेण णव्वदे जल केवलणाणदंमणाण-मक्कमेण उत्ता णं खेदिति।**” —कषाय पाहुड, पुस्तक 1 पृ. 319। अर्थात् चूंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन का उत्कृष्ट उपयोग काल अंतर्मुहूर्त कहा है, इससे जाना जाता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती। कषाय पाहुड के इस कथन से ज्ञात होता है कि उस समय केवली के दोनों उपयोग युगपत् नहीं होने की मान्यता सभी जैन सम्प्रदायों में प्रचलित थी। ऊपर विशेषावश्यक भाष्य के उद्धरण में इसे स्पष्ट स्वीकार किया गया है।

केवली के दोनों उपयोग युगपत् होने के समर्थन में षट्खण्डागम की धवलाटीका पुस्तक 1 व 13 तथा कसायपाहुड पुस्तक 1 की जय धवला टीका आदि में यह युक्ति दी गई है कि केवली के दोनों आवरण कर्मों का क्षय युगपत् होने से दोनों उपयोग भी युगपत् होते हैं और यही युक्ति सन्मतितर्क प्रकरण में आचार्य श्री सिद्धसेन ने भी दी है।

इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि छद्मस्थ जीवों के भी दोनों कर्मों के आवरण का क्षयोपशम सदैव रहता है जिससे ज्ञान और दर्शन गुण की लब्धि प्रकट होती है और उस लब्धि में प्रवृत्ति से उपयोग होता है। यदि कर्मों के आवरणों का क्षयोपशम न हो अर्थात् केवल सर्वघाती स्पर्द्धकों का ही उदय हो, तो न तो ज्ञान-दर्शन गुण की लब्धि होगी और न उपयोग ही। अतः छद्मस्थ के भी उपयोग दोनों कर्मों के आवरणों के क्षयोपशम से ही होता है। यही तथ्य केवली पर भी घटित होता है। अंतर केवल इतना ही है कि दोनों कर्मों के क्षयोपशम से छद्मस्थ के ज्ञान-दर्शन गुण आंशिक रूप में प्रकट होते हैं और इन दोनों कर्मों के संपूर्ण क्षय से केवली के ज्ञान-दर्शन गुण सर्वांश (पूर्ण रूप) में प्रकट होते हैं। इस प्रकार केवली और छद्मस्थ के ज्ञान-दर्शन गुणों की उपलब्धि में अंशों का ही अंतर है।

अतः जो भी युक्तियाँ केवली के युगपत् उपयोग के समर्थन में दी जायेंगी, वे सब युक्तियाँ छद्मस्थ पर भी लागू होंगी और छद्मस्थ के भी दोनों उपयोग युगपत् मानने पड़ेंगे। जो श्वेताम्बर— दिगम्बर आदि किसी भी जैन सम्प्रदाय को मान्य नहीं है। अतः केवली के दोनों उपयोग युगपत् मानने में विरोध आता है। इसी प्रकार छद्मस्थ जीव के दोनों उपयोग युगपत् न मानने के लिए जो भी युक्तियाँ दी जायेंगी, वे केवली पर भी लागू होंगी और केवली के दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते, यह सर्वग्राह्य सिद्धान्त है। अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से यह सिद्ध होता है कि केवली के युगपत् दोनों उपयोग नहीं होते हैं। सिद्धान्त भी इसका साक्षी है। मेरा इस सम्बन्ध में किञ्चित् भी आग्रह नहीं है। आशा है कि विद्वज्जन तटस्थ बुद्धि से विचार कर अपना मन्तव्य प्रकट करेंगे।

पहले कह आए हैं कि प्रत्येक जीव में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग इन दोनों उपयोगों में से कोई भी एक उपयोग सदैव होता है। परन्तु जब ज्ञानोपयोग होता है, तब दर्शनोपयोग नहीं होता है और जब दर्शनोपयोग होता है, तब ज्ञानोपयोग नहीं होता है। यहाँ तक कि पाँच ज्ञानों में से किसी एक ज्ञान का उपयोग होता है, तब अन्य ज्ञानों का उपयोग उस समय नहीं होता है। उस एक ज्ञान में भी उसके किसी एक भेद का ही उपयोग होता है, अन्य भेदों का उपयोग नहीं होता है। यथा— जिसके मतिज्ञान के अवग्रह ज्ञान का उपयोग होता है, उस समय अवाय आदि मतिज्ञान के अन्य भेदों का तथा श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि किसी भी अन्य ज्ञान का उपयोग नहीं होता है। इसी प्रकार दर्शनोपयोग के लिए समझना चाहिए। जैसे किसी भी जीव को अचक्षु दर्शन का उपयोग होता है, उस समय चक्षु दर्शन, अवधि दर्शन आदि अन्य दर्शनों का उपयोग नहीं होता है। अचक्षुदर्शन में जब श्रोत्रेन्द्रिय के अचक्षु दर्शन का उपयोग होता है, उस समय घ्राणेन्द्रिय आदि अन्य इन्द्रियों का अचक्षुदर्शनों का उपयोग नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि पाँच ज्ञान, चार दर्शन और तीन अज्ञान (मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान), इन बारह उपयोगों में से किसी एक उपयोग या उसके किसी भी भेद का उपयोग होता है, उस समय अन्य उपयोग नहीं होता है। परन्तु उपयोग न होने से उस समय ज्ञान गुण और दर्शन गुण के अन्य भेदों का अभाव हो जाता है अथवा न्यूनाधिकता हो

जाती है, ऐसा नहीं है। अतः उपयोग न होने से ज्ञान गुण व दर्शन गुण का न तो अभाव होता है और न ही वे न्यूनाधिक होते हैं। इन गुणों का न्यूनाधिक होना चारित्र मोहनीय कषाय की न्यूनाधिकता पर निर्भर करता है। अर्थात् जितना—जितना कषाय घटता जाता है, उतना—उतना दर्शन गुण और ज्ञान गुण प्रकट होता जाता है और जितना कषाय बढ़ता जाता है, उतना ज्ञान और दर्शन गुण पर आवरण बढ़ता जाता है।

ज्ञानोपयोग : दर्शनगुण की उपलब्धि में सहायक

स्वानुभव या चैतन्य के बोध अथवा आत्मसाक्षात्कार के लिए चाह, चर्चा व चिंतन रहित होना आवश्यक है, भले ही वह सत् चर्चा व सत् चिन्तन ही क्यों न हो। परन्तु जब तक साधक प्रवृत्ति (क्रिया) करने के राग के उदय के कारण चर्चा व चिन्तन रहित नहीं रह सकता हो तो उसके लिए आवश्यक है कि वह सत् चर्चा और सत् चिन्तन करे। कारण कि यदि वह सत् चर्चा और सत् चिन्तन नहीं करेगा तो राग के उदय के कारण से असत् चर्चा और असत् चिंतन उत्पन्न होगा जिससे राग की वृद्धि होगी। असत् चर्चा और असत् चिंतन सर्वथा त्याज्य हैं तथा सत् चर्चा और सत् चिंतन आदरणीय हैं। क्योंकि सत् चर्चा और सत् चिंतन रूप ज्ञानोपयोग राग से रहित करने में सहायक है, अतः वे साधना के अंग हैं, परन्तु साधना को ही साध्य न बना लें, इसके लिए सदैव जागरूक रहने की आवश्यकता है। कारण कि साधना को साध्य मान लेना भूल है और भूल के रहते साध्य की प्राप्ति संभव नहीं है।

‘साध्य’ साधक का सर्वस्व होता है और साधना उस साध्य की उपलब्धि में सहायक होती है। अतः साधना का महत्त्व है, परन्तु साधना को ही सर्वस्व समझ लेना, साध्य मान लेना भूल है। वैसे ही सहायक को सहायक न मानना भी दूसरी भूल है और सहायक को बाधक मान लेना तीसरी भयंकर भूल है। साधक को इन भूलों से बचना चाहिए।

जो साधना सहायक है उस साधना को साध्य मान लेने रूप पहली भूल से प्रगति रुक जाती है। कारण कि वह साधक सहायक (साधना) में ही अटक जाता है, वह आगे नहीं बढ़ पाता है। सहायक को सहायक न मानने पर दूसरी भूल से साधक में सहायक (साधन या साधना) के प्रति रुचि नहीं जगती। रुचि न जगने से उस ओर चरण ही नहीं बढ़ते।

सहायक को बाधक मान लेने रूप तीसरी भूल से विपरीत दिशा की ओर कदम बढ़ते हैं, जिससे साध्य या लक्ष्य से दूरी बढ़ती जाती है। अतः साधक का हित इसी में है कि जब तक साध्य को प्राप्त न कर ले तब तक साधना में रत रहे।

आशय यह है कि सत् चर्चा और सत् चिंतन रूप ज्ञानोपयोग 'दर्शनगुण' की उपलब्धि में सहायक है, सहयोगी है, बाधक नहीं है। अतः जब तक दर्शनोपयोग से स्वरूप में स्थिरता की उपलब्धि न हो जाये, तब तक ज्ञानोपयोग का आदर करते रहना चाहिए। कारण कि सत् चर्चा से चर्चा करने (बोलने) का राग गलता है और सत् चिंतन से चिंतन का राग गलता है। चर्चा और चिंतन का राग गलने से निर्विकल्पता की उपलब्धि होती है। निर्विकल्पता से दर्शन पर आया आवरण क्षीण व पतला होता है। जिससे दर्शन गुण प्रकट होता है। इस प्रकार सत् चिन्तन दर्शनावरण के क्षय में एवं दर्शन गुण के प्रकटीकरण में सहायक होता है। इस दृष्टि से सत् चिन्तन का अपना महत्त्व है। ऊपर कह आए हैं कि दर्शन गुण के प्रकट होने पर ही स्वानुभव होता है। स्वानुभव से सत्य का साक्षात्कार होता है।

सम्यग्दर्शन एवं दर्शनगुण

सत्य का साक्षात्कार होना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि स्वानुभव से होती है, केवल चिंतन या ज्ञान से नहीं। जीव-अजीव, जड़-चेतन भिन्न-भिन्न हैं, यह ज्ञान एक बालक से लेकर नौ पूर्वधर ज्ञानी को भी होता है। कौन बालक नहीं जानता है कि कलम, कागज, कमीज, कमरा, किताब, कलश आदि जड़ हैं और मैं चेतन जीव हूँ। इसी प्रकार नौ पूर्वधारी मिथ्यात्वी जीव भी जो तत्त्वों के ज्ञान को खूब जानता है, जीव-अजीव तत्त्वों पर सैकड़ों भाषण दे सकता है व सैकड़ों ग्रंथ लिख सकता है, परन्तु जीव-अजीव के भेद व भिन्नता का इतना ज्ञान होने पर भी उसे सम्यग्दर्शन हो, यह आवश्यक नहीं है। कारण कि इस बौद्धिक ज्ञान का प्रभाव बौद्धिक स्तर पर ही होता है, आध्यात्मिक स्तर पर नहीं। आध्यात्मिक स्तर पर प्रभाव तभी होता है, जब साधक अन्तर्यात्रा कर आन्तरिक अनुभूति के स्तर पर स्थूल शरीर (औदारिक शरीर) सूक्ष्म शरीर (तैजस शरीर) और कारण शरीर (कार्मण शरीर) से अपने को अलग अनुभव करता है अर्थात् देहातीत होकर अपने चैतन्य स्वरूप का दर्शन

करता है। देहातीत होने पर निज चैतन्य स्वरूप का दर्शन होता है। यही सम्यग्दर्शन है।

केवल जीव-अजीव या जड़-चेतन को भिन्न-भिन्न जान लेने या मान लेने से, ऐसा चिंतन करते रहने से या अपने को ऐसा निर्देश देने (आत्म-सम्मोहन) मात्र से सम्यग्दर्शन होना संभव नहीं है। इन सबसे सम्यग्दर्शन के लिए प्रेरणा मिल सकती है, परन्तु सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तो तभी संभव है जब साधक अंतर्मुखी होकर स्व-संवेदन करता है तथा देहातीत होकर जड़ देह से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप का दर्शन करता है।

आशय यह है कि जड़-चेतन की भिन्नता पर चिन्तन व चर्चा करके आत्म-निर्देशन देकर अपने को भेद-विज्ञानी व सम्यग्दृष्टि मान लेना भूल है, अपने आपको धोखा देना है। अतः अंतर्मुखी होकर स्व-संवेदन करते हुए जब तक देहातीत चिन्मय-चैतन्य अवस्था की अनुभूति न हो जाय, तब तक सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिये सतत पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। वस्तुतः दर्शन अनुभूति का विषय है, ज्ञान का नहीं। फिर चाहे वह दर्शन मिथ्यात्व के क्षय अथवा उपशम से प्रकट सम्यग्दर्शन हो अथवा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट दर्शन गुण हो। ये दोनों ही दर्शन विकल्पात्मक ज्ञान के विषय न होकर निर्विकल्प स्व-संवेदन रूप अनुभव के विषय हैं। भेद-विज्ञान से संबंधित चिंतन व चर्चा अन्तर्मुखी बनने में सहायक होती है, परन्तु भेद विज्ञान का अनुभव तो अंतर्मुखी होने पर निज स्वरूप के दर्शन से ही संभव है। यही अनुभव सम्यग्दर्शन है। अर्थात् स्व-संवेदन रूप दर्शन गुण के विकास (क्षयोपशम) से ही सम्यग्दर्शन होता है।

यह नियम है कि जितनी-जितनी निर्विकल्पता बढ़ती जाती है उतना-उतना दर्शन गुण का विकास होता जाता है अर्थात् चिन्मयता का, निज स्वरूप का अनुभव (बोध) होता जाता है। जितना-जितना निज स्वरूप का अनुभव होता जाता है, उतना-उतना सत्य प्रकट होता जाता है, सत्य का दर्शन (अनुभव) होता जाता है। सत्य के दर्शन से, सत्य के साक्षात्कार से अविनाशी चैतन्य निज स्वरूप का अनुभव देहातीत स्थिति के स्तर पर हो जाता है। तब देह (जड़) से चेतन की भिन्नता का स्पष्ट अनुभव या दर्शन होता है। यही ग्रंथिभेद है, यही भेद विज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है। अतः सम्यग्दर्शन के लिए दर्शन गुण (स्व-संवेदन) का

विकास अनिवार्य है। दर्शन गुण का विकास निर्विकल्पता से ही संभव है। निर्विकल्पता वहीं संभव है, जहाँ समभाव है अर्थात् आंतरिक स्थिति या अनुभूति के प्रति कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव न होकर केवल द्रष्टाभाव है।

अभिप्राय यह है कि समत्व भाव में निर्विकल्पता आती है। निर्विकल्पता से स्व-संवेदन, चिन्मय-स्वरूप 'दर्शन' गुण प्रकट होता है। दर्शन गुण से निज अविनाशी चेतन स्वरूप आत्मा देह से भिन्न है, इस सत्य का अनुभव होता है। यही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से दर्शन-मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व मोहनीय कर्म प्रकृति के उदय का अभाव हो जाता है। अतः दर्शन गुण दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम का हेतु है। तात्पर्य यह है कि दर्शन गुण और सम्यग्दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का प्रत्येक आचरण दर्शन गुण को प्रकट करने वाली निर्विकल्पता को पुष्ट करने वाला होता है।

सारांश यह है कि मन जितना निर्विकल्प होता जाता है, उतना दर्शन गुण प्रकट होता जाता है तथा उतना ही मन शान्त होता जाता है। मन की शान्त स्थिति का भी एक रस है, यह शान्तरस दर्शन का रस है। इस शान्त रस का भोग न करने से इसके प्रति समत्वभाव बनाये रखने से, द्रष्टा बने रहने से दर्शनावरणीय का आवरण और हटता है। फलस्वरूप अंतःकरण में जीवन के प्रति दृष्टि बदल जाती है। फलतः 'विषय भोग ही जीवन है', यह मिथ्या मान्यता (मिथ्यात्व) बौद्धिक चिंतन स्तर पर तथा आंतरिक (चैतन्य के) स्तर पर मिट जाती है। यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि भोग का सुख, सुख नहीं है, प्रत्युत उत्तेजना, आकुलता, पराधीनता एवं जड़ता उत्पन्न करने वाला होने से दुःख रूप है। अतः भोग जीवन नहीं है। निर्विकल्प एवं निर्विकार होने पर जो निज-रस आता है, वह अक्षय-अखंड एवं स्वाधीन होता है। इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार के आधार पर भोग में दुःख और त्याग में सुख अनुभव करना अथवा जीवन के प्रति दृष्टि बदल जाना ही सम्यग्दर्शन है।

दर्शनगुण का विकास ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में, दर्शन मोह के क्षय में हेतु है और सम्यग्दर्शन 'सम्यग्ज्ञान' की उत्पत्ति में हेतु होता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के अनुरूप आचरण सम्यक् चास्त्रि है, जिसका फल मुक्ति के रूप में प्रकट होता है।

दर्शनोपयोग (निर्विकल्पता) सम्यक् दर्शन की उपलब्धि में व दर्शन मोह के क्षय में सहायक होता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान में सहायक होता है। सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान के अनुरूप आचरण करने (चारित्र—पालन) से दर्शन व ज्ञान गुण के आवरण का क्षय होता है, जिससे दर्शन व ज्ञान गुण प्रकट होते हैं। इस प्रकार दर्शनोपयोग सम्यग्दर्शन में और सम्यग्दर्शन दर्शनगुण प्रकट करने में तथा दर्शनावरण व दर्शन मोहनीय के क्षय करने में सहायक होता है। इस प्रकार दर्शनोपयोग, सम्यग्दर्शन, दर्शनगुण परस्पर में पूरक व सहायक हैं। आगे जाकर, अंत में पूर्ण दर्शन, पूर्ण ज्ञान अथवा अनंतदर्शन, अनंत ज्ञान के रूप में प्रकट होकर ये साधक के जीवन के अभिन्न अंग बन जाते हैं। फिर साधक—साधना एवं साध्य एक रूप होकर सिद्धत्व को प्राप्त हो जाते हैं। सिद्धत्व की प्राप्ति में ही जीवन की सिद्धि है, सफलता है, पूर्णता है।”

दर्शनावरण कर्म के बंध— हेतु

आगम व कर्म—सिद्धान्त में दर्शनावरण कर्म—बंध के वे ही कारण बताये हैं, जो ज्ञानावरण कर्म बंध के कारण हैं, यथा—

गोयमा! नाणपडिणीययाए नाणनिष्ठवणयाए नाणंतनाए नाण—णाणप्पदोस्सेणं नाणञ्ज्जायणाए नाणविसंवादणाजोगेणं..एवं जल्ल नाणावणज्जं नवञं दंभणनाम घेतत्वं। (भगवती, शतक 8, उद्देशक 9, सूत्र 98—99)

“तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तन्नायन्नादानोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः”

(तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 6, सूत्र 11)

अर्थ— हे गौतम! 1. ज्ञान की प्रत्यनीकता (विपरीतता) करने से 2. ज्ञान का अपलाप करने (छिपाने) से 3. ज्ञान में अन्तराय डालने से 4. ज्ञान के प्रति द्वेष करने या दोष निकालने से 5. ज्ञान की आशातना (अविनय) करने से 6. ज्ञान विसंवाद योग (व्यर्थ का वाद—विवाद) करने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है। अथवा 1. प्रदोष 2. निह्नव 3. मात्सर्य 4. अन्तराय 5. आसादन और 6. उपघात ये ज्ञानावरण कर्म बंध के हेतु हैं। ये ही सब हेतु दर्शनावरण कर्म— बंध के भी हेतु हैं। मात्र ज्ञान के स्थान पर दर्शन शब्द ग्रहण करना चाहिए।

आशय यह है कि ज्ञानावरण कर्म के बंध के जो छह हेतु हैं, वे ही छह हेतु दर्शनावरण कर्म बंध के भी हैं। इससे यह फलित होता है कि जिन हेतुओं से जीव के ज्ञान गुण पर आवरण आता है उन्हीं हेतुओं से दर्शन गुण पर भी आवरण आता है। जीव का स्वभाव है निर्विकारता, निर्दोषता, चिन्मयता (संवदेनशीलता) आदि। जीव के निर्दोषता, चिन्मयता आदि गुणों का घात राग, द्वेष, मोह आदि दोष करते हैं। इन दोषों का सेवन करना ही अपने स्वाभाविक ज्ञान का, स्वभाव के ज्ञान का अनादर करना है। क्योंकि ज्ञान वहीं है, जहाँ विरति, वैराग्य एवं संयम है। जैसा कि कहा है— ‘णाणस्स फलं विरई’ अर्थात् ज्ञान का फल विरति है। अतः जहाँ विरति—संयम है, वहाँ ही ज्ञान का आदर है और जहाँ अविरति है, असंयम है, रति—अरति है, राग—द्वेष है, वहाँ ही ज्ञान का अनादर है। राग—द्वेष से संकल्प—विकल्प उत्पन्न होते हैं जिससे चित्त बहिर्मुखी होता है, अंतरंग चैतन्य का प्रतिभास नहीं होता है। जिससे दर्शन गुण का घात होता है, आवरण आता है।

दर्शन है चेतनता, निर्विकल्पता। अतः निर्विकल्पता के बाधक व घातक कारण दर्शनावरणीय कर्म के कारण हैं। ज्ञानावरण कर्म बंध के छह कारणों के समान ही दर्शनावरण कर्म बंध के भी छः कारण हैं, जिनका संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है—

1. **दर्शन प्रत्यनीकता**— संकल्प—उत्पत्ति व पूर्ति को ही जीवन मानना। निस्संकल्पता— निर्विकल्पता को अकर्मण्यता मानना। अतः संकल्प उत्पत्ति—पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहकर विकल्प करते रहना अर्थात् निर्विकल्पता के विरुद्ध आचरण करना, दर्शन प्रत्यनीकता है।
2. **दर्शन निहनव**— दर्शन का गोपन करना (निर्विकल्पता के लिए प्रयत्नशील न होना) स्वतः प्राप्त निर्विकल्पता को सुरक्षित न रखना, दर्शन निहनव है।
3. **दर्शन—अंतराय**— निर्विकल्पता की अनुभूति वर्तमान में न कर उसे कालान्तर में भविष्य में करने के लिए टालना दर्शन अन्तराय है।
4. **दर्शन—द्वेष**— निर्विकल्पता अकर्मण्यता है, जड़ता है। अचेतन निर्विकल्प होता है। अतः निर्विकल्पता का जीवन में कोई स्थान व महत्त्व नहीं है। इस प्रकार निर्विकल्पता से विद्वेष करना दर्शन द्वेष है।

5. **दर्शन—आशातना**—निर्विकल्पता की उपेक्षा करना, निर्विकल्पता से उदासीन रहना, निर्विकल्पता के संपादन के लिए प्रयत्नशील नहीं होना दर्शन आशातना है।
6. **दर्शन विसंवाद**— निर्विकल्पता की उपलब्धि में अपने को असमर्थ मानना, उससे निराश होना, निर्विकल्पता असंभव है ऐसा मानकर निर्विकल्पता के लिए पराक्रम न करना दर्शन विसंवाद है।

दर्शनावरण का अन्य घातिकर्मों से सम्बन्ध

यह नियम है कि पहले दर्शन होता है, फिर ज्ञान होता है। दर्शन है—स्व—संवेदन। दर्शन ज्ञान के समान प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदवाला नहीं होता है। कारण कि दर्शन स्व—संवेदन है। अतः दर्शन मात्र प्रत्यक्ष ही है, परोक्ष नहीं। अन्य प्रकार से दर्शन ज्ञान के समान दो प्रकार का होता है यथा—क्षायोपशमिक और क्षायिक। वस्तु के सन्निकर्ष, स्पर्श व इन्द्रिय के माध्यम से होने वाला दर्शन क्षायोपशमिक है अथवा दृश्य के संयोग या संपर्क से, पर के संपर्क से होने वाला दर्शन क्षायोपशमिक है। दृश्य और इन्द्रिय के माध्यम के बिना स्वतः स्व में स्थिति से होने वाला स्वानुभूति रूप दर्शन क्षायिक दर्शन है। इसमें दृश्य और दृश्यभाव का अभाव होकर केवल 'दर्शन' ही रहता है। अतः यह केवलदर्शन कहा जाता है। क्षायोपशमिक दर्शन तीन प्रकार का है—चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन। चक्षु—अचक्षु दर्शन दृश्यमान (सन्निकर्ष या सामीप्य में आए) पदार्थ का इन्द्रिय के संयोग व संपर्क से होता है। इसमें इन्द्रियाँ माध्यम बनती हैं। चक्षु दर्शन चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से और अचक्षु दर्शन शेष चार इन्द्रियों के माध्यम या निमित्त से होता है। अवधि दर्शन बिना इन्द्रियों के माध्यम से रूपी पदार्थों का होता है। यह आत्म—प्रत्यक्ष होता है। मन का दर्शन मनःपर्याय दर्शन नहीं होता है, कारण कि मानसिक क्रिया सविकल्प ही होती है अर्थात् मन की प्रवृत्ति ज्ञान रूप ही होती है, कभी भी दर्शन रूप नहीं होती है। दूसरे शब्दों में कहें, तो मन निर्विकल्प नहीं होता। निर्विकल्प होने पर 'मन' सक्रिय नहीं रहता, अमन हो जाता है। अतः मन का दर्शन नहीं होता, मन सविकल्प ज्ञान रूप ही होता है।

क्षायोपशमिक अवस्था में पर का संयोग, संपर्क, सम्बन्ध रहता है। जो पर के अतीत होने पर होती है, वह क्षायिक अवस्था है (जो चार घाती कर्मों

के आत्यंतिक क्षय से होती है और नौ प्रकार की है।) क्षायोपशमिक अवस्था का उपयोग भी चार घाती कर्मों से संबंधित है जो चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन दो मोहनीय व पाँच अंतराय रूप है। क्षायोपशमिक अवस्था 'पर' पर आधारित होने से अधूरी होती है, पूर्ण नहीं होती।

दर्शन के अनुरूप ज्ञान होता है। चक्षु-अचक्षु दर्शन की स्थिति में सर्वप्रथम अवग्रहरूप मतिज्ञान होता है, जोर्द्धा, अवाय, धारणा रूप में आगे बढ़ता जाता है। या यों कहें कि दृश्य पदार्थ या पर पदार्थ इन्द्रिय का विषय बनता है, तब प्रथम चक्षु अथवा अचक्षु दर्शन होता है, फिर मतिज्ञान होता है। इस स्थिति से दर्शन संवेदन का एवं ज्ञान संवेदन के आधार पर जानकर धारणा का कार्य करता है। वह धारणा दो प्रकार की होती है—संपर्कित वस्तु की जानकारी रूप एवं संपर्कित वस्तु के संवेदन रूप। संपर्कित वस्तु के संवेदन रूप ज्ञान में प्रकट होने पर वह संवेदना सुखद है या दुःखद है, अनुकूल प्रतीत हो रही है या प्रतिकूल प्रतीत हो रही है, इसका अनुभव व जानकारी होती है, जो वेदना कही जाती है। अनुकूल वेदना को सातावेदनीय और प्रतिकूल वेदना को असातावेदनीय कहते हैं। 'वेदना' दर्शन का बाह्य प्रकट फल है इसलिए दर्शनावरण कर्म के पश्चात् वेदनीय कर्म का वर्णन आया है।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर होने वाले विषय-सुख को सुख मानना, सुखाभास को सुख मानना है, जो वास्तविकता नहीं है, भ्रान्ति है। यदि विषय सुख सत्य होता तो भोगों और भोग्य पदार्थ दोनों के विद्यमान रहते हुए उस सुख का अनुभव होते रहना चाहिये था। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता है। होता यह है कि जो इन्द्रियसुख भोगा जाता है—वह सुख प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है। पूर्ववर्ती क्षण में जितना सुख था, पश्चात्पूर्व क्षण में उतना नहीं रहता और अंत में सुख नीरसता में बदलता है, फिर चाहे कितना ही बढ़िया से बढ़िया दृश्य देखें अथवा संगीत सुनें अथवा भोजन करें अथवा कोमल-शीतल स्पर्श का सुख भोगें। अतः विषय-सुख के त्याग में ही कल्याण है।

अनन्त दर्शन

राग के साथ संकल्प-विकल्प जुड़े हुए हैं। संकल्प-विकल्प के साथ जड़ता जुड़ी हुई है। 'जड़ता', 'चिन्मय' गुण की विघातक व आवरक है।

अतः जड़ता का होना ही दर्शन गुण पर आवरण आना है। जैसे—जैसे विकल्प कम होते जाते हैं, वैसे—वैसे दर्शन पर आए आवरण में कमी होती जाती है जड़ता घटकर चिन्मयता, चेतनता गुण प्रकट होता जाता है। राग का सर्वथा अभाव हो जाने पर, वीतरागता आने पर पूर्ण निर्विकल्पता आ जाती है। जिससे दर्शन पर आया आवरण पूर्ण रूप से हट जाता है और केवलदर्शन प्रकट हो जाता है। वीतराग हो जाने पर राग का आत्यंतिक क्षय हो जाता है, फिर कभी भी लेशमात्र भी राग की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इस चिन्मयता गुण में फिर न कभी कमी आती है और न यह गुण फिर कभी नष्ट ही होता है। यह सदैव परिपूर्ण एवं अविनाशी, जाज्वल्यमान रूप में प्रकट रहता है। यही अनन्त दर्शन की उपलब्धि है। जो वीतरागता से ही संभव है, कारण कि राग के रहते जड़ता रहती ही है।

‘दर्शन’ है—स्व—संवेदन। संवेदन उसी का होता है जिसके साथ अभिन्नता होती है। अतः स्व—संवेदन स्व से अभिन्न होने से, स्वानुभव से होता है। जब तक व्यक्ति बहिर्मुखी रहता है, तब तक वह ‘स्व’ से विमुख व दूर रहता है। स्व से विमुख व दूर रहते स्व—संवेदन नहीं होता है। स्व—संवेदन के बिना ‘दर्शन’ नहीं होता है। जैसे—जैसे राग घटता जाता है, राग में कमी आती जाती है, वैसे—वैसे बहिर्मुखीपने से अंतर्मुखीपने की ओर एवं पर की ओर से स्व की ओर गति होने लगती है। जैसे—जैसे बाहर से भीतर की ओर, पर से स्व की ओर गति होती जाती है, वैसे—वैसे स्वभावतः स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर संवेदनाएँ स्वतः प्रकट होने लगती हैं। ‘संवेदना’ चिन्मयता का ही रूप है। ‘चिन्मयता’ चैतन्य का प्रमुख गुण है, इसे ‘दर्शन’ कहा जाता है।

वस्तुओं के सन्निकर्ष से, साक्षात्कार से आत्मा में जो संवेदन होता है, उसे ही दर्शन कहा जाता है। ‘कुछ है’ इस अवग्रह ज्ञान के पूर्व तक यह स्थिति रहती है। उदाहरणार्थ—जैसे कोई व्यक्ति नींद में सोता है, उसको किसी ने आवाज दी। वही आवाज जब अधिक बार लगायी तो वह जग गया और उसे लगा कि कोई आवाज दे रहा है। परन्तु यह सब जानते हैं कि प्रत्येक आवाज ने उस पर प्रभाव डाला है, उसके कान के पर्दे पर प्रकंपन पैदा किया है। जब वह प्रकंपन तथा संवेदन घनीभूत हो गया तब वह जागा है। प्रत्येक आवाज की ध्वनि इस प्रकंपन (संवेदन) पैदा करने

व जगने में हेतु बनी है। यह जो प्रकंपन (संवेदन) है, यही दर्शन है। जब उसने यह जाना या विचार किया कि कौन एवं क्या आवाज दे रहा है, तो यह ज्ञान है।

राग का पूर्ण नाश हो जाने पर वीतराग हो जाने पर बहिर्मुखीपने एवं पर की ओर गति का आत्यंतिक क्षय (नाश) हो जाता है जिससे साधक सदा के लिए स्व में स्थित व स्व में अवस्थित हो जाता है। स्व में स्थित व स्थिर होना ही स्वानुभूति है। स्वानुभूति ही स्व-संवेदन है, यही चिन्मयता या चेतनता है।

तात्पर्य यह है कि राग रहित वीतराग होते ही सदा के लिए पूर्ण चिन्मयता की, पूर्ण जड़ता रहित अवस्था की अनुभूति हो जाती है अर्थात् 'अनन्त दर्शन', केवल दर्शन हो जाता है। अनन्त दर्शन की उपलब्धि राग रहते नहीं हो सकती है कारण कि राग के रहते जड़ता रहती ही है। अतः वीतरागता से ही 'अनन्त दर्शन' गुण प्रकट होता है। यह गुण चैतन्य का निज स्वरूप होने से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो है ही, साथ ही विलक्षण होने से अनिर्वचनीय भी है।

जो बात ज्ञान के विकास पर लागू होती है वही दर्शन के विकास पर भी लागू होती है कारण कि ज्ञान के पहले दर्शन होता है अर्थात् दर्शन के अनुरूप ही ज्ञान होता है। अतः ज्ञान के विकास के साथ दर्शन का विकास एवं दर्शन के विकास के साथ ज्ञान का विकास जुड़ा हुआ है। दोनों गुणों का विकास-हास युगपत् होता है।

यह नियम है कि पहले दर्शन होता है, फिर ज्ञान होता है। परन्तु दर्शन कभी मिथ्या या सम्यक् नहीं होता है, फिर ज्ञान कैसे मिथ्या या असम्यक् होता है। इसका समाधान यह है कि दर्शन गुण के प्रकट होने में विकल्पों का अभाव कारण है। उसका विवेक के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु ज्ञान के साथ विवेक-अविवेक का सम्बन्ध होता है, विवेक युक्त ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। विवेक विरोधी ज्ञान मिथ्या ज्ञान है।

ज्ञान अज्ञान रूप भी होता है, परन्तु दर्शन अदर्शन या कुदर्शन रूप नहीं होता है। कारण कि दर्शन के विकास का सम्बन्ध जीवन की संवेदन-शक्ति के प्रकटीकरण से है। परन्तु संवेदन की अनुभूति सीमित व क्षणमात्र के लिए होती है। जितना-जितना दर्शन का आवरण हटता जाता है,

उतना-उतना अधिक संवेदन का प्रत्यक्षीकरण होता जाता है। जब जीव ध्यान द्वारा परमाणु का दर्शन या प्रत्यक्षीकरण करता है, तब दर्शन का विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है और उसे केवल दर्शन हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान का विकास करते हुए परमाणु जैसी सूक्ष्मतम वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नियमों को अनुभूति (संवेदन) के आधार पर जानने लगता है, तो उसको पूर्ण ज्ञान-केवलज्ञान हो जाता है। परमाणु जैसे सूक्ष्मतम पदार्थ का जिस समय संवेदन होता है, उसी समय उसमें होने वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य और पर्याय का भी ज्ञान होता है। यही सम्पूर्ण द्रव्य और पर्याय का ज्ञान केवलज्ञान है। अतः केवलज्ञान एवं केवल दर्शन गुण की उपलब्धि युगपत् ही होती है।



वेदनीय कर्म

वेदनीय कर्म का स्वरूप

शरीर, मन एवं इनसे संबंधित अनुकूलता में सुख का और प्रतिकूलता में दुःख का अनुभव वेदनीय कर्म से होता है। सुख का अनुभव होना साता—वेदनीय और दुःख का अनुभव होना असातावेदनीय है।

जीवन्म नुह-दुक्खुप्पाययं कम्मं वेदणीयं णाम्।

—धवला पुस्तक 13, सूत्र 5.5.19

जीव के सुख और दुःख का उत्पादक कर्म वेदनीय है।

वेदयति वेधत इति वा वेदनीयम्। —सर्वार्थसिद्धि, 8.4

वेधन्य नदन्नल्लक्षणस्य नुवदुःखमवेदनम्। —सर्वार्थसिद्धि, 8.3

जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदन किया जाता है वह वेदनीय कर्म है। सत्—असत् लक्षणवाले वेदनीय कर्म की प्रकृति का कार्य सुख तथा दुःख का संवेदन कराना है।

अक्खवाणं अणुभवणं वेयणियं नुह्मन्नवयं आदं।

दुक्खमन्नकवमआदं तं वेदयदीदि वेदणियं।

—गोम्मटसार, कर्मकांड, गाथा 14

इन्द्रियों का अपने—अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें सुख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है और दुःख का अनुभव करना असाता वेदनीय है। अनुभव करना वेदनीय कर्म है। उपर्युक्त गाथा में इन्द्रियों के विषयों के सुख—दुःख रूप अनुभव करने को वेदनीय कर्म कहा है, विषय और विषय—सामग्री की प्राप्ति—अप्राप्ति को वेदनीय कर्म नहीं कहा है।

आदन्नं गदियाणुवादेण जहण्णमंतमंतोमुहुतं उक्कमपि अंतोमुहुतं च वा अआदन्नं जहण्णमंतममेगममाओ, उक्कममं छम्माम्। मणुमगदीए अआदन्नं उदीवणंतवं जहण्णेण एगममओ उक्कममेण अंतोमुहुतं (धवला पुस्तक 15, पृ. 68/6)

गति के अनुवाद से सातावेदनीय की उदीरणा का अंतरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त ही है। असाता वेदनीय का उदीरणा काल जघन्य एक समय उत्कृष्ट 6 मास है। मनुष्य गति में असाता की उदीरणा का अंतर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त प्रमाण है।
साता—असाता वेदनीय कर्म—उपार्जन के हेतु

भगवती सूत्र में वेदनीय कर्म के उपार्जन व बंध के हेतु इस प्रकार कहे गये हैं—

कठं णं भंते? जीवाणं आयावेयणिज्जा कम्मा कज्जति? गोयमा? पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए, जीवाणुकंपाए, अत्ताणुकंपाए, बहूणं पाणाणं जाव अत्ताणं अदुक्खवणयाए, अन्नोयणट्ठाए, अज्जूणयाए, अतिप्पणयाए, अपिट्ठणयाए अपन्नियावणयाए, एवं खलु गोयमा! जीवाणं आयावेयणिज्जा कम्मा कज्जति।

कठं णं भंते? जीवाणं अआयावेयणिज्जा कम्मा कज्जति? गोयमा? पनदुक्खवणयाए, पनन्नोयणयाए, पनज्जूणयाए, पनतिप्पणयाए, पनपिट्ठणयाए पनपन्नियावणयाए, बहूणं पाणाणं जाव अत्ताणं दुक्खवणयाए, न्नोयणयाए जाव पन्नियावणयाए, एवं खलु गोयमा! जीवाणं आयावेयणिज्जा कम्मा कज्जति।

—भगवती सूत्र शतक 7, उद्देशक 6

प्रश्न— हे भगवन्! जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते हैं?

उत्तर— हे गौतम! प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों पर अनुकम्पा करने से, बहुत से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख न देने से, उन्हें शोक उत्पन्न न करने से, उन्हें खेदित व पीड़ित न करने से, न पीटने से तथा परिताप न देने से जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन करते हैं।

प्रश्न— हे भगवन्! जीव असाता वेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते हैं?

उत्तर— हे गौतम! दूसरे जीवों को 1. दुःख देने से, 2. शोक उत्पन्न करने से, 3. खेद उत्पन्न करने से, 4. पीड़ित करने से, 5. पीटने से, 6. परिताप देने से, 7. बहुत से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख देने से, शोक उत्पन्न करने से यावत् परिताप उत्पन्न करने से जीव असाता वेदनीय

कर्म का उपार्जन करते हैं। इस प्रकार दूसरों को असाता उपजाना स्वयं को असाता उपजाना है।

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरण में सातावेदनीय का हेतु अनुकम्पा एवं असातावेदनीय का हेतु क्रूरता कहा है। अनुकम्पा का हेतु क्रोध कषाय का क्षय होता है, जैसा कि कहा है—

कोष्ठविजयणं न्वतिं जणयइ—उत्तरा.अ.29 सूत्र 68

नवभावणयाए पल्लयणभावमुवगाए य अल्ल-पाण-भूय-जीव-अत्तेभु मितीभावमुप्पाएइ। —उत्तरा.अ.29 सूत्र 17,

सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा — राजवार्तिक अ.1 सूत्र 2

अर्थात् क्रोध पर विजय (क्षय) से क्षमा गुण प्रकट होता है। क्षमापना से प्रह्लाद (आह्लाद) भाव उत्पन्न होता है, फिर सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न होता है और सर्वप्राणियों के प्रति मैत्रीभाव होना ही अनुकम्पा है। अनुकम्पा से सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध कषाय के क्षय (क्षीणता) से सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है साथ ही चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय भी होता है। जैसा कि कहा है—

अणुञ्जमुयाए णं जीवे अनुकंपए, अणुब्भडे, विगयम्भोणे, चणित-मोळणिज्जं कम्मं न्ववेइ।— उत्तरा. अ. 29 सूत्र 29

अर्थ— विषय सुख के प्रति विरति से प्राणी उत्सुकता से पूरित होकर अनुकम्पावान बनता है तथा वह अनुद्धत एवं शोक रहित होकर चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है।

अभिप्राय यह है कि कषाय के क्षय से क्षमा गुण, क्षमा से मैत्री भाव, मैत्री भाव से अनुकम्पा गुण प्रकट होता है। क्षमाशीलता आदि गुणों से युक्त जीव ही सब जीवों के प्रति वैर भाव का त्याग कर उनके सब अपराधों को क्षमा कर सकता है, जैसा कि कहा है— **कोळे पीइं पणाअेइ** (दशवै. अ.8 गाथा 38) अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है। अतः जहाँ क्रोध नहीं है वहाँ ही प्रीति भाव है। प्रीति ही मैत्री है। मैत्री जहाँ होती है वहाँ वैर भाव नहीं होता— क्षमा भाव होता है। कहा भी है—

नवामेमि अल्ले जीवा, अल्ले जीवा न्वमंतु मे।

मिती मे अल्लभूएभु, वेवं मज्झं न केणइ॥

—आवश्यक सूत्र, 5वां आवश्यक

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी से भी वैर नहीं है। इस भाव से हृदय में प्रीति उमड़ती है जो प्राणियों की पीड़ा, शोक आदि दुःखों को दूर करने वाले अनुकंपा गुण के रूप में प्रकट होती है। जिससे साता वेदनीय कर्म का उपार्जन होता है।

सातावेदनीय के विपरीत असातावेदनीय है। क्रोध कषाय के उदय से द्वेष और वैरभाव उत्पन्न होता है जिससे वह दूसरों के प्रति क्रूरता या असाता उपजाने का व्यवहार करने लगता है और स्वयं द्वेष और वैर भाव की अग्नि में जलने लगता है, जिससे अशांति और खिन्नता का अर्थात् असाता का अनुभव होता है। यही असातावेदनीय कर्म का हेतु है।

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार वेदनीय कर्म के बंध के हेतु—

दुःखशोकापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपन्नोभयस्थान्यमद्वेधस्य।

भूतव्रत्यनुकम्पादानं सारागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति अद्वेधस्य॥

—तत्त्वार्थ सूत्र अ.6.12—13

निज आत्मा में, पर आत्मा में या दोनों आत्मा में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असाता वेदनीय कर्म के बंध हेतु हैं और भूत—अनुकम्पा, व्रती—अनुकम्पा, दान, सारागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के बंध हेतु हैं। संक्षेप में कहें तो दुःख देने के परिणामस्वरूप दुःख एवं अशान्ति मिलती है और सेवा तथा संयम के परिणामस्वरूप सुख व शान्ति मिलती है।

कर्म का फल : एक प्राकृतिक विधान

यह प्राकृतिक विधान है कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल आता है और वह फल कितना ही गुना होकर मिलता है। यही विधान वेदनीय कर्म पर भी घटित होता है। जब कोई दुःख देने रूप बीज का वपन करता है तो उसका फल दुःख रूप में मिलता है और कितने ही गुना होकर मिलता है। उदाहरणार्थ— सोहन ने मोहन को गाली दी तो सोहन और मोहन दोनों उस समय दुःखी होंगे ही। कारण कि कोई भी आकुल या दुःखी हुए बिना किसी को दुःख दे ही नहीं सकता। साथ ही मोहन उस समय तो गाली के बदले में गाली देगा और आगे भी जब—जब उसे सोहन की याद आयेगी या सोहन को देखेगा, उससे मिलेगा तो उसे मन में

गालियां देगा। सोहन को भी जब-जब याद आयेगी तो उसमें भी द्वेष आयेगा, वह भी दुःखी होगा और मन में गालियां देगा। इस प्रकार एक गाली के बदले अनेक बार दुःख व गालियाँ मिलेंगी।

इसके विपरीत किसी ने अनुकंपा कर किसी दुःखी व्यक्ति को दान देकर सेवा कर उसका दुःख दूर किया तो दान देने और लेने वाले दोनों को उस समय भी प्रसन्नता या सुख का अनुभव होगा और आगे भी उन दोनों को जब-जब उसकी स्मृति आयेगी या वे मिलेंगे तब-तब प्रसन्नता ही प्रकट होगी।

संयम से निर्विकारता-आरोग्य-स्वस्थता का, क्षान्ति से शान्ति का एवं शौच (निर्लोभता-निर्मोहता) से स्वाधीनता-मुक्ति का सुख मिलता है जो चित्त को आह्लादित करने वाला होता है।

प्राणी की अन्तर-आत्मा में अंकित प्रभाव दो प्रकार से प्रकट होता है यथा— प्रथम इष्ट परिस्थिति एवं इष्ट वस्तु का संयोग मिलने से कामना पूर्ति के रूप में— जिससे प्राणी को साता अर्थात् अनुकूलता का अनुभव होता है— सुख का वेदन होता है। दूसरा इष्ट वस्तु या परिस्थिति का संयोग न मिलने पर वह अंतर में अंकित तथा दबा हुआ प्रभाव कुंठा बनकर रोग के रूप में प्रकट होता है। वह रोग शारीरिक भी हो सकता है तथा मानसिक भी हो सकता है। इससे दुःख या असाता का अनुभव होता है अर्थात् प्रतिकूलता के दुःख का वेदन होता है।

साता-असाता के वेदन रूप में वेदनीय कर्म के उदय द्वारा प्राणी के अन्तर में अंकित कर्म-प्रभाव को बाहर प्रकट कर उस कर्म को निर्जरित करने का यह प्राकृतिक उपाय है। यह कर्म-ग्रंथियों का क्षय करने वाला होने से प्राणी के लिए हितकर है और भवरोग के क्षय का प्राकृतिक उपाय है। परन्तु इस तथ्य को नहीं समझने से प्राणी साता रूप अनुकूल वेदन को तो पसंद करता है और रोग आदि असाता रूप वेदन को पसंद नहीं करता है। यही नहीं प्राणी साता को पसंद करके उससे राग करता है और असाता के वेदन को नापसंद करके उससे द्वेष करता है। इस प्रकार प्राकृतिक विधान से जो साता-असाता का वेदन कर्म-क्षय के लिए प्रकट हुआ था, निर्जरित होने के लिए उदय हुआ था, उसके प्रति राग-द्वेष करके जीव नवीन प्रभाव अंकित कर लेता है, नवीन कर्म का बंध कर लेता है, जो

समय पाकर प्राकृतिक विधान से पुनः साता-असाता आदि के रूप में उदय आता है (प्रकट होता है)। इस प्रकार प्राणी के जीवन में पूर्व के बंधे हुए कर्मों का उदय होकर निर्जरित होने का तथा राग-द्वेष करने से उसी समय पुनः कर्म-बंध होने का क्रम अनंतकाल से चल रहा है। इसी से प्राणी बार-बार जन्म-मरण कर रहा है, भव-भ्रमण कर रहा है।

यदि प्राणी इस साता-असाता रूप वेदन में समता से रहे, तटस्थ रहे, अनुकूलता या साता में सुख का और असाता या प्रतिकूलता में दुःख का भोग न करे अर्थात् राग-द्वेष न करे तो नवीन कर्मों का बंध नहीं होगा, कर्म-ग्रंथियों का निर्माण नहीं होगा और पुराने बंधे हुए कर्म त्वरित गति से प्रकट होकर निर्जरित हो जायेंगे। कर्म-ग्रंथियों के नष्ट हो जाने से वह निर्ग्रन्थ हो जायेगा-मुक्त हो जायेगा-स्वाधीन हो जायेगा।

इन्द्रिय, शरीर तथा परिस्थितियों का निर्माण प्राकृतिक विधान के अनुसार होता है, हमारी इच्छा के अनुसार नहीं होता है। हमने अपनी माता के गर्भ में तथा इस देह में जन्म अपनी इच्छा से नहीं लिया है। जन्म लेने से पहले अपने तन को व अपने निवास के भवन को निरखने-परखने-चयन करने नहीं आए हैं और जन्म लेने के पश्चात् भी शरीर पर हमारा कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं है। शरीर हमारे न चाहते हुए भी रोगी हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है, निर्बल हो जाता है, मर जाता है, अंत में मिट्टी में मिल जाता है। इन्द्रियां अपनी देखने-सुनने आदि की शक्तियां खो देती हैं, क्षीण हो जाती हैं, इन सब अनिष्ट अवस्थाओं से बच जाएं, ऐसा किसी का सामर्थ्य नहीं है, अतः अपने को इनका स्वामी मानना भूल है। जब शरीर पर ही अपना अधिकार नहीं है तब शरीर से संबंधित धन-जन, भूमि-भवन आदि का अपने को स्वामी समझना, अपना अधिकार मानना कहाँ तक उचित है? यही नहीं सुख-दुःख भी हमारे अधीन नहीं हैं, कारण कि सुख को बनाये रखने की इच्छा होते हुए भी सुख चला ही जाता है, सुख को जाने से रोक नहीं सकते। दुःख से बचने की इच्छा होते हुए भी दुःख आ ही जाता है, दुःख को आने से रोक नहीं सकते हैं। अतः सुख को जाने से तथा दुःख को आने से रोकने में हम असमर्थ हैं फिर भी उन्हें रोकने का प्रयास करना अपनी शक्ति का अपव्यय करना है। यदि सुख-दुःख का आना-जाना हमारे आधीन होता तो सुख को कभी जाने ही नहीं देते, दुःख

को कभी आने ही नहीं देते। अतः विषय—भोगों की पूर्ति में सुख और अपूर्ति में दुःख मानने वाले व्यक्ति का जीवन सुख—दुःख युक्त ही होता है। कामना एवं राग के त्याग से अक्षय—अव्याबाध व अनंत सुख की अनुभूति होती है।

यदि हमारी एक अंगुली किसी दुर्घटना में कट जाये तो हम पुनः उसका निर्माण नहीं कर सकते। शरीर की एक अंगुली या एक बाल का भी हम निर्माण नहीं कर सकते, शरीर की रचना में हम स्वाधीन नहीं हैं, इस प्रकार अनुकूलता—प्रतिकूलता अर्थात् साता—असाता सुख—दुःख रूप में स्वतः उदय व उत्पन्न होती है तथा उस रूप में अंतःकरण में अंकित प्रभाव प्रकट होकर निर्जरित हो जाता है। भोगजनित सुख कैसा भी हो वह पराधीनता, जड़ता (मूर्च्छा) एवं अभाव में आबद्ध करता ही है, जो किसी को भी इष्ट नहीं है, अनिष्ट ही है। इस प्रकार इन्द्रिय—भोग या विषय—सुख वास्तव में तो दुःख रूप ही है अतः त्याज्य है। इस वास्तविकता को जान कर सुख के भोग का सदा के लिए त्याग कर देने में उदयमान सुख की उपयोगिता है। इसके अतिरिक्त जीवन में सुख की अन्य कोई उपयोगिता व महत्त्व नहीं है। कारण कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। न चाहते हुए भी दुःख विषय—भोग के सुख को त्यागने की शिक्षा देने के लिए ही आता है। दुःख के मूल को ढूँढना ही दुःख से शिक्षा ग्रहण करना है। दुःख का मूल है इन्द्रिय व मन के सुख का भोग। दुनिया में कोई दुःख ऐसा नहीं है जो विषय सुख के भोग के कारण उत्पन्न न हुआ हो—जिसका कारण सुख का भोग न हो। विषय सुख जो वास्तव में दुःख रूप ही है एवं जिसका फल भी दुःख ही है, परन्तु सुख के भोगी प्राणी की दृष्टि इस तथ्य पर नहीं जाती है। वह सुख भोग के फल रूप में प्राप्त दुःख को मिटाने का तो प्रयत्न करता है, परन्तु इन्द्रिय का सुख भोग नहीं छोड़ता। वस्तुतः यही दुःख का मूल है। इस प्रकार प्राणी दुःख के मूल को तो नहीं मिटाना चाहता है और फल को मिटाना चाहता है। सुख भोग में छिपा हुआ दुःख का बीज ही समय पाकर उदय में आता है और दुःख देता है। इसी कारण से प्राणी अब तक दुःख से मुक्त नहीं हुआ है।

प्राणी के शरीर में अनेक प्रकार के विकार या विष (हानिकारक पदार्थ) निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं और प्रकृति उन्हें दूर करने के लिए

सतत प्रयत्नशील रहती है। शरीर में प्रवाहित रक्त में वहाँ के अंगों में स्थित विकार मिल जाते हैं, जिससे रक्त अशुद्ध हो जाता है। उस रक्त को शुद्ध करने के लिए फेफड़े निरंतर कार्य करते रहते हैं। कार्बन-डाई-आक्साइड को निकालकर ऑक्सीजन उपलब्ध कराते रहते हैं। फेफड़े की यह क्रिया ही श्वासोच्छ्वास कहलाती है। यह फेफड़े की क्रिया यदि पांच-दस मिनट के लिए भी रुक जाये तो प्राणी का जीना कठिन हो जाए। इसी प्रकार पसीना, मल-मूत्र, कफ, श्लेष्म आदि शरीर में उत्पन्न हुए विजातीय (विकृत) द्रव्यों को बाहर निकालने की प्राकृतिक प्रक्रियाएँ हैं। प्राकृतिक चिकित्सा- साहित्य में प्रचुर- प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि रोगों की उत्पत्ति शरीर में उत्पन्न विकार, विष व विजातीय द्रव्यों को दूर कर शरीर को स्वस्थ करने की प्राकृतिक प्रक्रिया है, प्राकृतिक उपाय है। रोग शरीर के लिए वरदान हैं, अभिशाप नहीं। जब प्राण शक्ति की कमी हो जाती है जिससे यह प्रक्रिया नहीं हो पाती है तो शरीर में विकार इकट्ठे हो जाते हैं। शरीर विजातीय द्रव्यों का घर बन जाता है और फिर विनाश को प्राप्त हो जाता है। रोग का शरीर में प्रकट होना तो लक्षण मात्र है, अन्य कुछ नहीं। शरीर में सुई के अग्रभाग जितनी छोटी सी कांटों की नोंक भी घुस जाय तो शरीर से जब तक वह निकल न जाय, चैन नहीं पड़ता है। आशय यह है कि प्रकृति को शरीर में विजातीय द्रव्य विद्यमान रहना सहन नहीं होता है। प्रकृति को विकृति पसंद नहीं है। यह प्राकृतिक-प्रक्रिया, प्राकृतिक-विधान अथवा प्राकृतिक न्याय है। इस प्राकृतिक विधान या न्याय में प्राणी का हित ही निहित है क्योंकि इसमें प्राणी के शरीर को स्वस्थ बनाने की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। जब शरीर इतना विकार ग्रस्त हो जाता है कि उन विकारों को दूर कर सकना संभव नहीं रहता तो शरीर का विनाश हो जाता है— मृत्यु हो जाती है। पुनः नवीन उपयुक्त शरीर मिलता है। इसीलिए वेदनीय कर्म की असातावेदनीय प्रकृति को भी जीव के लिये घातक नहीं कहा है, अपितु इसे अघाती कर्म प्रकृति कहा है। इसी प्रकार आत्मा में जब राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं तो कर्म-ग्रन्थियों का निर्माण हो जाता है, फिर उन विकारों को दूर करने के लिए प्राकृतिक-प्रक्रिया-प्रारम्भ होती है। अंतर में स्थित विकार कर्म रूप में उदय में आकर नष्ट होते जाते हैं। कर्मों का उदय में

आना अंतःकरण में स्थित विकारों को दूर कर आत्मा को स्वस्थ एवं निर्विकार बनाने की प्रक्रिया है। प्रकृति को प्राणी को विकारी रहने देना पसंद नहीं है। अतः वह विकारों को कर्मोदय के रूप में प्रकट कर उन्हें निर्जरित कर उसे निर्विकार—नीरोग बनाती है। इस दृष्टि से कर्मों का उदय प्राकृतिक विधान है, प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में प्राणी का हित अंतर्निहित है, अहित नहीं है, कारण कि कर्मोदय से प्राणी के अंतस्तल में अंकित राग—द्वेष आदि विकार वेदना के रूप में उदित होकर निर्जरित होते हैं जिससे आत्मा का स्वस्थ—निर्विकार स्वभाव प्रकट होता है।

साता एवं असातावेदनीय का फल

गोयमा? आयावेयणिज्जन्म ण भंते। कम्मन्म जीवेणं बद्धन्म जाव पोगगलपणिमं पप्प अट्ठविठे अणुभावे पण्णत्ते—तंजल्ल—मणुण्णा न्दद्दा मणुण्णा ऋवा मणुण्णा गंधा, मणुण्णा फान्ना, मणोन्मुत्था, वड्ढन्मुत्था कायन्मुत्था। जं वेएइ पोगगलं वा पोगगले, पोगगलपणिमणं वा, वीन्मन्ना वा, पोगगलपणिमं।।.....गोयमा? अन्नायावेयणिज्जन्म णं कम्मन्म जो अमणुण्णा जाव कायदुत्था...पोगगलपणिम। (पन्नवणा पद 23, उद्देशक 1) गौतम! जीव के द्वारा बद्ध कर्म यावत् पुद्गल परिणाम को प्राप्त करके साता वेदनीय कर्म के रूप में प्रकट (उदित) होता है। सातावेदनीय कर्म का आठ प्रकार का अनुभाव कहा है— मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गंध, मनोज्ञरस, मनोज्ञस्पर्श, मन का सौख्य, वचन का सौख्य, काया का सौख्य। असातावेदनीय कर्म का अनुभाव इसके विपरीत अमनोज्ञ शब्द यावत् काय दुःखता जानना चाहिए।

पन्नवणा सूत्र पद 23, उद्दे.1 में आठों कर्मों के अनुभाव (अनुभाग) उदय का वर्णन है— इसमें वेदनीय कर्म की सातावेदनीय कर्म प्रकृति के आठ अनुभाव कहे हैं— 1. मनोज्ञ शब्द 2. मनोज्ञ रूप 3. मनोज्ञ गंध 4. मनोज्ञ रस 5. मनोज्ञ स्पर्श 6. मन का सुख 7. वचन का सुख और 8. काया का सुख। ये आठों सुखद हों तो उसे सातावेदनीय का उदय और दुःखद हों तो उसे असातावेदनीय का उदय कहा गया है।

इनमें सातावेदनीय कर्म के उदय का सम्बन्ध शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श इन पाँच इन्द्रियों के विषयों की मनोज्ञता से तथा मन, वचन एवं काया इन तीन के सुखप्रद होने से है और असातावेदनीय कर्म के उदय का

सम्बन्ध इन्हीं पाँच विषयों की अमनोज्ञता एवं मन, वचन व काया के दुःखद होने से है। इस प्रकार वेदनीय कर्म का सम्बन्ध पाँच इन्द्रियों के विषयों, मन, वचन और काया इन आठों के मनोज्ञ-अमनोज्ञ तथा सुखद-दुःखद अनुभव होने से है। इनका मनोज्ञ अर्थात् सुखद अनुभव होना सातावेदनीय है और अमनोज्ञ व दुःखद अनुभव होना असातावेदनीय है। वस्तु, घटना, परिस्थिति से वेदनीय कर्म का सम्बन्ध नहीं है। एक वस्तु के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जब मनोज्ञ लगते हैं तब सातावेदनीय का उदय और वही अमनोज्ञ लगने लगे तब असाता का उदय कहा जाता है।

कर्मोदय से बाह्य निमित्त की प्राप्ति नहीं

जिस वस्तु, व्यक्ति की उपस्थिति के निमित्त से साता-असाता का अनुभाव हो रहा है उन वस्तु, व्यक्ति आदि की उपस्थिति को कर्मोदय नहीं कहा है। उदाहरणार्थ—एक संगीतज्ञ व्यक्ति किसी वाद्य पर गा रहा है, उन गानों की ध्वनि में पड़ौसी की निद्रा में बाधा पड़ने से, छात्र की पढ़ाई में विघ्न पड़ने से उन्हें अमनोज्ञ व दुःखद लग रही है अर्थात् उनके असातावेदनीय का उदय हो रहा है, उसी गाने के शब्द अन्य व्यक्ति को मनोज्ञ लग रहे हैं, उसके सातावेदनीय का उदय हो रहा है। कुछ काल के पश्चात् वे शब्द उसे भी अमनोज्ञ लगने लग गये अर्थात् उसके असातावेदनीय का उदय हो गया। इससे यह मानना कि संगीतज्ञ ने, पड़ौसी व छात्र के असातावेदनीय कर्म के उदय से और अन्य व्यक्ति के पहले सातावेदनीय के उदय से, पीछे असातावेदनीय के उदय से गाना गाया और वाद्य यन्त्र ने ध्वनि प्रसारित की, उचित व उपयुक्त नहीं लगता है। गायक ने गाना अपने मोहनीय या अन्य किसी कर्म के उदय से गाया। उस व्यक्ति में गाने की इच्छा का उत्पन्न होना अन्य व्यक्तियों के साता-असातावेदनीय के उदय से माना जाय, तो अन्य व्यक्ति का कर्मोदय संगीतज्ञ व्यक्ति के होना मानना होगा, जो कर्म-सिद्धान्त सम्मत नहीं है। क्योंकि यह नियम है कि अपने कर्म का उदय स्वयं के ही होता है, दूसरे व्यक्ति के नहीं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्मोदय से बाहरी निमित्त नहीं मिलते हैं, कर्मोदय आत्म-प्रदेशों में ही होता है। जीव के अपने शरीर व इन्द्रिय के माध्यम से इनका उदय आत्म-प्रदेशों में ही होता है, जहाँ आत्म-प्रदेश नहीं हैं वहाँ कर्म का उदय नहीं होता है।

अन्यथा एक ही व्यक्ति में साता-असाता दोनों वेदनीय के उदय को कभी एक साथ मानना होगा। एक व्यक्ति को मनोज्ञ मधुर शब्द भी सुनाई दे रहे हैं और पास में पड़ी मृत लाश की भयंकर दुर्गन्ध भी आ रही है तो उसके दोनों वेदनीय का उदय मानना होगा, जो कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध है।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि किसी भी पाप को मन, वचन और काया इन तीनों योगों से करना, कराना, अनुमोदन करना इन नौ प्रकार के कार्यों (प्रवृत्तियों) को आगम में पाप कहा है, इसी प्रकार मन और पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों की इच्छा रूप विकार-विभाव का उत्पन्न होना, काया से उसकी पूर्ति करना अर्थात् विषय-सुख भोगना पाप है। विषय-भोग के सुख के वेदन को पुण्योदय मानना, सातावेदनीय का उदय मानना, पाप को पुण्य मानना है, पाप का अनुमोदन करना है, जो साधक के लिए त्याज्य है। पाप को पुण्य मानना तात्त्विक भूल है।

यदि शरीर के किसी एक अंग या उपांग में उत्पन्न हुए रोग को असातावेदनीय का उदय माना जाय और शेष रहे नीरोग अंगों में सातावेदनीय का उदय माना जाय तो प्रत्येक रोगी व्यक्ति के सातावेदनीय और असातावेदनीय दोनों का उदय युगपत् मानना होगा जो कर्म-सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। अतः शरीर में रोग के उत्पन्न होने या न होने का वेदनीय कर्म के उदय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। रोग के कारण जिस समय जीव को दुःखद संवेदना का अनुभव होता है तब उसके असातावेदनीय का उदय होता है। दुःखद संवेदना का अनुभव न होना सातावेदनीय का उदय समझना चाहिए।

स्थानांग सूत्र के नौवें स्थानक में रोगोत्पत्ति के नौ कारण कहे हैं। इनमें अधिक भोजन, कुपथ्य व हानिकारक भोजन, मल-मूत्र का अवरोध आदि हैं। ये सब कारण व्यक्ति के वर्तमान काल की भूलों से संबंधित हैं। इनमें से कोई भी कारण पूर्व जन्म के कर्म से संबंधित नहीं है। जब शरीर में उत्पन्न रोग का कारण ही पूर्व जन्म के कर्म से संबंधित नहीं है तब शरीर से इतर वस्तुएँ धन, धान्य, भूमि, भवन की प्राप्ति का कारण पूर्व जन्म के कर्म के उदय से कैसे हो सकता है, कदापि नहीं हो सकता है। अतः वस्तुओं की प्राप्ति को पूर्व जन्म के कर्मोदय से मानना कर्म-सिद्धान्त सम्मत नहीं है। आशय यह है कि रोग के होने या न होने पर सुख-दुःख

का वेदन होना वेदनीय कर्म का उदय है। शरीर का नीरोग या रोगी होना वेदनीय कर्म का उदय नहीं है। यह नियम है कि सातावेदनीय और असातावेदनीय इन दोनों कर्म प्रकृतियों का उदय एक साथ नहीं होता है। इनमें से किसी एक का ही उदय होता है।

एक ही व्यक्ति के एक ही समय में एक व्यापार में लाभ और दूसरे व्यापार में हानि हो रही है। किसी एक व्यापार में लाभ होने से साता का और दूसरे व्यापार में हानि होने से असाता का अर्थात् साता-असाता दोनों वेदनीय प्रकृतियों का उदय एक साथ मानना होगा, जो कर्म सिद्धान्त के विपरीत है। अतः जब लाभ की खुशी से हर्ष होता है, तब उस समय व्यक्ति साता का वेदन करता है, उसे साता का उदय कहा है और जिस समय हानि के दुःख में खिन्न होता है, तब असाता का वेदन करता है, उस समय असाता का वेदन माना गया है। अतः लाभ-हानि होने की घटना में कर्म का उदय नहीं है, अपितु उससे सुखी-दुःखी होना कर्म का उदय है। कोई वस्तु तथा उसका शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि जब तक मनोज्ञ लगते हैं तब तक साता वेदनीय का उदय होता है और वह वस्तु, वे शब्द, वर्ण, गंध, रस आदि सातावेदनीय के उदय में निमित्त कारण बनते हैं और कालान्तर में वह वस्तु तथा वे ही शब्द, वर्ण आदि अमनोज्ञ लगते हैं तब वह ही वस्तु असातावेदनीय के उदय में कारण बन जाती है, अतः सातावेदनीय और असातावेदनीय का उदय जीव के वेदन पर निर्भर करता है, वस्तु पर नहीं। अतः वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति का कर्मोदय से सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार शरीर के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि जब तक जीव को इष्ट लगते हैं, स्वर इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ लगते हैं, गति, स्थिति, उत्थान, बलवीर्य, पुरुषकार, पराक्रम जब तक इष्ट लगते हैं तब तक ये शुभनाम कर्म (पुण्य) के उदय में निमित्त कारण बनते हैं और ये ही जब अनिष्ट लगते हैं, तब ये अशुभ (पाप) नामकर्म के उदय में निमित्त बन जाते हैं। अतः नामकर्म का शुभत्व-अशुभत्व वस्तु पर निर्भर नहीं होकर इष्ट-अनिष्ट अनुभव करने पर निर्भर करता है। अभिप्राय यह है कि किसी जीव का कर्मोदय उस जीव के द्वारा किसी वस्तु के उपयोग पर निर्भर करता है, वस्तु पर नहीं। अतः वस्तुओं की उपलब्धि को जैन दर्शन कर्मोदय से नहीं मानता है, वस्तुओं के उपयोग को कर्मोदय व कर्म बंध में निमित्त

कारण मानता है। उन वस्तुओं को निमित्त बनाना या न बनाना, उनसे सुखी-दुःखी होना या न होना आदि उन वस्तुओं, घटनाओं से जीव के प्रभावित होने या न होने पर निर्भर करता है। जीव के प्रभावित न होने पर कोई वस्तु या घटना कर्मबंध एवं कर्मोदय में निमित्त नहीं बनती है। वस्तुओं, घटनाओं आदि से प्रभावित होने पर एक ही वस्तु, घटना उसके कभी पुण्योदय में और अनेक जीवों के पापोदय में निमित्त बन जाती है। इसी प्रकार एक ही वस्तु या घटना एक ही समय में अनेक जीवों के लिए पुण्योदय में और अनेक जीवों के पापोदय में निमित्त बन जाती है। यदि निमित्त बनने से उसका होना कर्मोदय से माना जाय तो प्रश्न है कि उसकी उपलब्धि पापोदय से मानी जाय या पुण्योदय से? इस प्रकार अनवस्था, अव्यवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-अवस्था, भव घटना, वस्तु आदि को कर्मोदय से नहीं माना है, इन्हें कर्मोदय में निमित्त कारण माना है। यदि आर्थिक लाभ को सातावेदनीय के उदय से और आर्थिक हानि को असातावेदनीय के उदय से माना जाय तो दोनों का उदय युगपत् मानना होगा, जो कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध है।

वेदनीय कर्म हानिकारक नहीं है

श्रमण संस्कृति में ज्ञान-दर्शन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। इसीलिए साधना मार्ग में स्थान-स्थान पर जाणइ-पासइ(जानता है-देखता है) आता है।

जैन-दर्शन में ज्ञान-दर्शन के आधार पर ही जीव-अजीव का, जड़-चेतन का भेद किया जाता है। जिसमें ज्ञान-दर्शन है उसे सचेतन कहा है और जिसमें ज्ञान-दर्शन नहीं है, उसे अचेतन (जड़-अजीव) कहा है। दर्शन को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि स्व-संवेदन दर्शन है।

जब चेतन को संवेदन होता है तो वह उसे अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के रूप में वेदन करता है। अनुकूलता रूप वेदन को सातावेदनीय और प्रतिकूलता रूप वेदन को असातावेदनीय कहा जाता है। साता-असाता से प्राणी का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है, इससे कोई लाभ-हानि नहीं है; यदि वह साता-असाता के प्रति कोई प्रतिक्रिया न करे, द्रष्टा बना रहे। परन्तु प्राणी पुराने संस्कारवश प्रायः साता वेदना के प्रति राग और असाता वेदना के प्रति द्वेष करता है अर्थात् भोग करता है तो वह आकुल-व्याकुल

होता है, अशान्त होता है, अपनी समता भंग करता है। यद्यपि आकुलता, व्याकुलता, विषमता(समता का भंग होना) व अशान्ति किसी भी प्राणी को अभीष्ट नहीं है, परन्तु प्राणी साता के सुखद वेदन की दासता में आबद्ध होकर और असाता के दुःखद वेदन से भयभीत होकर, सुख को बनाये रखने के लिए और दुःख से छूटने के लिए प्रवृत्त होता है अर्थात् उनके प्रति राग—द्वेषात्मक प्रतिक्रिया करता है। यही राग—द्वेषात्मक प्रतिक्रिया व प्रवृत्ति नवीन संस्कारों को अर्थात् नये (कर्म) बन्धनों को जन्म देती है। जिनके फलस्वरूप प्राणी को सुख—दुःख मिलता है। वह उस सुखात्मक (साता), दुःखात्मक (असाता) वेदना का भोग कर पुनः नवीन कर्म—बंध करता है। इस प्रकार कर्म के बंध व उदय का चक्र बीज व फल की तरह संतति रूप में सतत चलता रहता है।

यह नियम है कि जिसका उदय होता है, उसका व्यय होता है। अतः साता हो या असाता दोनों ही नहीं रहने वाली है, अनित्य है, विनाशी है। कोई लाख प्रयत्न करे, फिर भी साता सदा बनी रहने वाली नहीं है और असाता आने से रुकने वाली नहीं है। जो बनी नहीं रहने वाली है उसे बनाये रखने का प्रयत्न करना और जो आने से रुकने वाली नहीं है ऐसी असाता को रोकने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, भूल है। इस भूल के रहते साता—असाता के, सुख—दुःख के चक्र से कभी मुक्ति नहीं मिलने वाली है।

सुख—दुःख से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है कि साता—असाता वेदन रूप सुख—दुःख के प्रति साक्षी भाव, द्रष्टा भाव या समभाव रखा जाये, उनका भोग न किया जाय। यह नियम है कि जो भोग करता है, भोक्ता होता है वह ही कर्ता होता है। जो कर्ता होता है वह कर्म से सम्बन्ध स्थापित करता है। अतः कर्ता के ही कर्म का बंध होता है। बंधा हुआ कर्म साता—असाता के रूप में उदय आता है। अतः भोग ही समस्त सुख—दुःख के चक्र का मूल कारण है। यहाँ यह स्मरण रहे कि साता—असाता वेदना या सुख—दुःख कर्म—बंध का कारण नहीं है, कर्म—बंध का कारण है सुख—दुःख का भोग। सुख के प्रति राग करना सुख का भोग है और दुःख के प्रति द्वेष करना दुःख का भोग है। राग में सुख की दासता और द्वेष में दुःख का भय अंतर्निहित है। यद्यपि दासता और भय

स्वभाव से किसी प्राणी को इष्ट नहीं हैं, परन्तु प्राणी सुख—दुःख की वास्तविकता पर ध्यान न देने से दासता और भय में आबद्ध हो जाता है।

साता—असाता रूप सुख—दुःख विमर्शा से अर्थात् प्राकृतिक— नियम (विधान) से स्वतः आते हैं। प्राकृतिक विधान में किसी का भी अहित, अमंगल, अकल्याण नहीं है। इसी तथ्य के आधार पर जैन दर्शन में वेदनीय कर्म को पूर्ण रूप से अघाती कर्म कहा है, देश घाती भी नहीं कहा है। घाती कर्म वह है जो जीव के गुण का घात करे, हानि पहुँचाए। देश घाती वह है जो जीव के गुण को आंशिक हानि पहुँचाए, जो आंशिक या लेशमात्र भी हानि न पहुँचाए वह अघाती कर्म है। अतः सुख—दुःख के आने में प्राणी की कोई हानि नहीं है, प्रत्युत इनका सदुपयोग करने में मानव का कल्याण है। सुख आता है सेवा के लिए और दुःख आता है त्याग के लिए। आए हुए सुख का भोग न करके उसे पर पीड़ा से पीड़ित व करुणित हो सेवा में लगाने से विद्यमान (उदयमान) राग का उदात्तीकरण (Sublimation) हो कर वह निःसत्त्व व निर्जरित हो जाता है। उससे नवीन कर्म का बंध नहीं होता और पुराने राग का निष्कासन होकर उससे छुटकारा मिल जाता है। अतः सुख के सदुपयोग का फल है विद्यमान राग की निवृत्ति। इसी प्रकार दुःख आता है त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए। कारण कि दुःख, सुख के भोग का द्योतक व परिणाम है। दुःख से मुक्ति पाने का उपाय है सुख के भोग का त्याग कर देना; सुखप्रद सामग्री से सेवा करना। सेवा में भी अपने आए हुए सुख का त्याग ही करना है। अतः सुख—दुःख प्रकृति से भोगों के त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आते हैं। त्याग से सुख—दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश संभव है। सुख—दुःख से अतीत के जीवन में अविनाशी से अभिन्नता हो जाती है। अविनाशी से अभिन्नता का अनुभव होते ही अक्षय—अव्याबाध—अनंत रस (सुख) की अभिव्यक्ति, उपलब्धि स्वतः होती है। अतः सुख—दुःख बुरे नहीं हैं, सुख—दुःख का भोग बुरा है।

किसी भी प्राणी के न चाहने पर देह में रोगोत्पत्ति हो जाती है। इससे प्रथम तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि देह पर हमारा अधिकार नहीं है। द्वितीय, देह नश्वर है, इसे मृत्यु से नहीं बचाया जा सकता। तृतीय, देह का संग करने वाले को भूख, प्यास व रोगोत्पत्ति जनित दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है। अतः देह का संग दुःखप्रद है। इस प्रकार रोगोत्पत्ति से

मानव यह शिक्षा ग्रहण करे कि देह नश्वर है, मेरा नहीं है, देह का संग दुःखप्रद है। अतः हमारा हित देह के संग का त्याग करने में ही है, देहातीत होने में ही है। इस प्रकार का चिन्तन साधक के लिए कल्याणकारी है। इस तरह कारण में कार्य का उपचार करने से रोगोत्पत्ति आदि असातावेदनीय कल्याणकारी है, मंगलकारी है। दुःख से ही संसार से विरक्ति, विरति आती है, चेतना जागृत होती है। अतः दुःख में साधक का हित समाहित है, दुःख अहितकारी नहीं है।



मोहनीय कर्म

मोहनीय कर्म का स्वरूप

जो कषाययुक्त प्रवृत्ति मोहित करे, मूर्च्छित करे, हित-अहित सत्-असत्, सही-गलत की पहचान न होने दे वह मोहनीय कर्म है। इसका स्वभाव मद्य के समान है। जैसे मद्य (शराब) के नशे में मनुष्य को अपने हिताहित का भान नहीं रहता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जीव को अपने स्वरूप एवं हित-अहित, हेय-उपादेय को परखने का बोध नहीं रहता है। वह स्वभाव को भूल जाता है और विभावग्रस्त हो जाता है। जितने भी विकार या दोष हैं, पाप हैं इनका मूल कारण मोहनीय कर्म ही है। मोह के कारण ही जीव स्वभाव के विपरीत आचरण करता है।

मोहग्रस्त व्यक्ति के लिए मोह को समझना उतनी ही टेढ़ी खीर है जितनी टेढ़ी खीर बेहोश व्यक्ति द्वारा यह समझ सकना कि वह बेहोश है। किसी को बेहोशी का ज्ञान होना होश में आने का सूचक है। जितना-जितना व्यक्ति होश में आता जाता है, उतना-उतना उसे अपनी बेहोशी का ज्ञान होता जाता है। इसी प्रकार जितना-जितना मोह घटता जाता है, उतना-उतना मोह के स्वरूप का अधिक-अधिक ज्ञान होता जाता है। जिस समय व्यक्ति कामना रहित, तटस्थ, शांत व समता अवस्था में है, उस समय कामना में न बहकर-कामना के प्रवाह में बहते समय जो बेसुध होने की स्थिति हुई, उसे शान्तचित्त से देखे तो वह अपनी मोहावस्था का ज्ञान कर सकता है। उस समय उसे पता चल सकता है कि जिस समय कामना के प्रवाह में बहा, उस समय चित्त कितना अशान्त, क्षुब्ध, व्याकुल, बेहोश हुआ एवं हृदय विदारक वेदना हुई।

व्यक्ति मोह के कारण यथार्थता को नहीं देख पाता। वह हाड़, मांस, रक्त, शक्ति, मूत्र आदि अशुचि वस्तुओं के पुतले (शरीर) में सौंदर्य, मरणशील को स्थायी, दुःख को सुख, पराधीनता को स्वाधीनता, धन-भवन आदि जड़ वस्तुओं को जीवन मान लेता है और इन्हीं की प्राप्ति में अपना

जीवन पूरा कर देता है तथा मृत्यु आने के क्षण तक भी वह सुख व तृप्ति से वंचित रहता है। इसलिए मोहकर्म पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मोह को आठों कर्मों के सेनापति की उपमा दी जाती है, अतः जो इसे जीत लेता है वह समस्त कर्मों की सेना को जीत लेता है अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ हो जाता है। कर्म-बंध का मूल मोहकर्म ही है, क्योंकि बंधहेतु—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय मोहकर्म के ही विविध रूप हैं। मोहनीय कर्म के मूलतः दो प्रकार हैं— 1. दर्शन मोहनीय और 2. चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय

श्रद्धा, विश्वास, आस्था या मान्यता को दर्शन कहते हैं। जब हमारी श्रद्धा, मान्यता मोहयुक्त हो तो उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं। इससे जीव में स्वरूप, स्वभाव, साध्य, साधन, सिद्धि व साधक के विषय में विपरीत धारणाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। दर्शन मोहनीय के तीन प्रकार हैं— 1. मिथ्यात्व मोहनीय 2. सम्यक्त्व मोहनीय और 3. मिश्र मोहनीय।

मिथ्यात्व मोहनीय — अविनाशी, सत्य, तत्त्व के प्रति श्रद्धा न होना और विनाशी, अध्रुव, अनित्य पदार्थों व भोगों के प्रति श्रद्धा होना मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व मोहनीय है। इसके विपरीत ध्रुव व सत्य तत्त्व के प्रति श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। जैन वाङ्मय में मिथ्यात्व मोहनीय को संक्षेप में मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व के दश प्रकार निरूपित है।

मिथ्यात्व के दश प्रकार

स्थानांग सूत्र के दशवें स्थान में मिथ्यात्व दश प्रकार का निरूपित है— 1. अधर्म को धर्म श्रद्धना 2. धर्म को अधर्म श्रद्धना 3. उन्मार्ग को सन्मार्ग श्रद्धना 4. सन्मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धना 5. अजीव को जीव श्रद्धना 6. जीव को अजीव श्रद्धना 7. असाधु को साधु श्रद्धना 8. साधु को असाधु श्रद्धना 9. अमुक्त को मुक्त श्रद्धना और 10. मुक्त को अमुक्त श्रद्धना। यहाँ इन पर क्रमशः संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है—

(1-2) अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म श्रद्धना

जीव का स्वभाव धर्म है और पर के संयोग से उत्पन्न हुई विभाव दशा अधर्म है। 'पर' वह है जिसका वियोग हो जाये, जो सदा साथ न दे, धोखा दे जाये। इस दृष्टि से संपत्ति, संतति, सत्ता, इन्द्रियाँ आदि संसार की

समस्त वस्तुएँ पर हैं। इनके संयोग से मिलने वाला विषय—भोगों का एवं सम्मान—सत्कार, पद—प्रतिष्ठा आदि का सुख विभाव है। इस सुख को स्वभाव मानना, जीवन मानना अधर्म को धर्म मानना है तथा इस सुख की पूर्ति, पोषण व रक्षण के लिए दूसरों का शोषण करना, धन का अपहरण करना, हिंसा, झूठ आदि पाप करना भी अधर्म है। इस अधर्म को अपना कर्तव्य मानना, आवश्यक मानना, न्यायसंगत मानना भी अधर्म को धर्म मानना है। इसी प्रकार अकरुणा को अर्थात् करुणा के त्याग को, दया भाव के त्याग को स्वभाव व धर्म मानना अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व है।

संयम, त्याग, तप, मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकंपा, वात्सल्य, वैयावृत्य—सेवा, दान, दयालुता, मृदुता, विनम्रता, सरलता आदि गुण जीव के स्वभाव हैं, धर्म हैं, क्योंकि ये किसी कर्म के उदय से नहीं होते हैं। इन गुणों को विभाव मानना, संसार—भ्रमण का एवं दुःख का कारण मानना, धर्म को अधर्म मानना है। यह मिथ्यात्व जीव के स्वभाव—विभाव से संबंधित है।

(3—4) उन्मार्ग को मार्ग और मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धना

विषय—सुखों की प्राप्ति के लक्ष्य से जो भी कार्य किए जायें वे उन्मार्ग हैं। इस दृष्टि से भोगों की प्राप्ति के लिए किए गए आरम्भ—परिग्रह, हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि कार्य जो उन्मार्ग हैं, उन्हें जीवन मानना उन्मार्ग को मार्ग मानना है। जो भक्ति—भजन, संयम, त्याग, तप, जप आदि साधनाएँ संपत्ति, संतति, सत्कार, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा पाने के लोभ से या स्वर्ग के भोगों के सुख पाने के प्रलोभन के लक्ष्य से की जाती हैं वे भोग का पोषण, संरक्षण, संवर्धन करने वाली होने से साधनाओं के वेश में सन्मार्ग के रूप में असाधन व उन्मार्ग हैं। कारण कि हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोष या दुष्प्रवृत्तियाँ दोष के रूप में आती हैं, उन्हें दूर करने की प्रेरणा कभी भी जग सकती है, क्योंकि दोषी कहलाना या रहना किसी को भी इष्ट नहीं है। परन्तु जो दोष गुण व धर्म के रूप में आते हैं उन्हें व्यक्ति हितकारी मानकर पुष्ट करने में अपना कल्याण समझता है। उसमें इन्हें त्यागने का विचार ही पैदा नहीं होता है और वह व्यक्ति अपने को साधन—पथ पर, सन्मार्ग पर चलने का मिथ्या विश्वास व झूठा संतोष देता रहता है। परन्तु जब ये साधनाएँ राग—द्वेष, विषय—कषाय के सुखों के त्याग के लक्ष्य से की जाती हैं तो सन्मार्ग हो जाती हैं। आशय यह है कि विषय—विकारों

एवं भोगों के त्याग के लक्ष्य से की गई प्रवृत्ति—निवृत्ति सन्मार्ग है और विषय—भोगों की प्राप्ति के लिए की गई प्रवृत्ति—निवृत्ति (त्याग—तप) उन्मार्ग है। उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना मिथ्यात्व है।

चरस, अफीम, गांजा, भांग, सुलफा, ड्रग्स, स्मैक, हेरोइन आदि के नशे को सुख का साधन मानना, संभोग को समाधि का हेतु मानना, अतिभोग को मुक्ति का मार्ग मानना, प्रभावना के नाम पर सम्मान, सत्कार, पुरस्कार आदि से अपने मान—लोभ आदि कषायों का पोषण करना, सतीत्व के नाम पर जीवित स्त्रियों को जलाना, मनुष्य—पशु—पक्षी की बलि को, मद्य—मांस—मैथुन सेवन को, परधर्मावलंबियों की हत्या को साधना मानना, उन्मार्ग को सन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है।

करुणा, दया, दान, वैयावृत्त्य, सेवा, परोपकार, नमस्कार, मृदुता, मित्रता आदि समस्त सद्प्रवृत्तियों को पुण्य—बंध का हेतु कहकर इन्हें संसार परिभ्रमण का कारण मानना सन्मार्ग को उन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है। कारण कि प्रथम तो पुण्य कर्म की समस्त 42 प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती हैं अर्थात् इनसे किसी भी जीव के किसी भी गुण का कभी भी अंश मात्र भी घात नहीं होता है, अतः ये अकल्याणकारी हैं ही नहीं। जो अकल्याणकारी नहीं हैं उन्हें अकल्याणकारी मानना अथवा अघाती को घाती कर्म मानना मिथ्यात्व है। द्वितीय, कर्म—सिद्धान्त का यह नियम है कि पुण्य का उत्कर्ष उत्कृष्ट या परिपूर्ण होने के पूर्व यदि सातावेदनीय, उच्चगोत्र, आदेय, यशकीर्ति, मनुष्य—देवगति आदि पुण्य—प्रकृतियों का आस्रव व बंध नहीं होता है तो असातावेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति, नरक—तिर्यचगति आदि पाप प्रकृतियों का आस्रव व बंध अवश्य होता है। अतः पुण्य के आस्रव का निरोध व विरोध करना पाप के आस्रव व बंध का आह्वान करना है। अतः पुण्य के आस्रव के निरोध को मुक्ति का मार्ग मानना पाप के आस्रव के आगमन को मुक्ति का मार्ग मानना है, जो घोर मिथ्यात्व है। तृतीय बात यह है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों से पुण्य का जितना उपार्जन होता है उससे अनन्तगुणा पुण्य के अनुभाग का सर्जन संयम, त्याग, तप व श्रेणीकरण की साधना से होने वाली आत्म—पवित्रता से होता है। अतः पुण्य को संसार—भ्रमण का कारण मानने वालों को संयम, त्याग, तप, श्रेणीकरण आदि मुक्ति—प्राप्ति की साधनाओं को भी संसार—भ्रमण का कारण मानना पड़ेगा जो घोर मिथ्यात्व है।

(5-6) अजीव को जीव तथा जीव को अजीव श्रद्धना

अपने को देह मानना जीव को अजीव मानने रूप मिथ्यात्व है और देह के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानना अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है। ये दोनों मिथ्यात्व एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। देह पौद्गलिक है, हाड़-मांस-रक्त से बनी हुई है, अंत में मिट्टी में मिलकर मिट्टी बन जाने वाली है। मिट्टी और देह दोनों एक ही जाति के हैं। अतः अपने को देह मानना अपने को मिट्टी (जड़) मानना है, जीव को अजीव मानना है, जो विवेक के विरुद्ध है। आत्मा यदि देह होती तो देह के अंग हाथ-पैर आदि अंश कट जाने पर आत्मा में भी उतने ही अंशों में कमी हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं होता है। देह के अंग-भंग होने पर भी आत्मा के अंश का भंग नहीं होता, आत्मा अखण्ड रहती है। अतः यह सिद्ध होता है कि देह आत्मा या जीव नहीं है। देह का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता है। अतः देह के अस्तित्व को अपना जीवन व जीव मान लेना भूल है, मिथ्यात्व है। अपने को देह मान लेने से ही विषय-भोगों की इच्छा, राग-द्वेष, कामना, ममता, माया, लोभ आदि समस्त दोषों की एवं भूख-प्यास, भय, चिन्ता, खिन्नता, रोग-शोक आदि समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है अर्थात् अपने को देह मानना ही समस्त दोषों व दुःखों का मूल है। ये दोनों मिथ्यात्व आत्मा के स्वरूप से संबंधित हैं।

(7-8) असाधु को साधु और साधु को असाधु श्रद्धना

जो विषयभोगों से विरत होकर दुःखमुक्त होने की साधना कर रहा है वह साधु है तथा जो विषयभोगों की ओर गतिशील है वह असाधु है। इन्द्रियों के विषय-भोग विकार हैं, दोष हैं एवं समस्त दुःखों की जड़ हैं। जो इन विषय-भोगों में गृद्ध है, आबद्ध है, भोग सामग्री बढ़ाने में एवं परिग्रह की वृद्धि करने में रत है, उसे सुखी, श्रेष्ठ एवं पुण्यात्मा मानना उसके जीवन को सार्थक व सफल मानना असाधु को साधु मानने रूप मिथ्यात्व है और जिसने भोगों को, परिग्रह को, हिंसा-झूठ आदि पापों को त्यागकर संयम धारण किया है, वीतराग मार्ग का आचरण कर रहा है उसे परावलंबी, पराधीन, असहाय, अनाथ व दुःखी मानना साधु को असाधु मानने रूप मिथ्यात्व है। ये दोनों मिथ्यात्व साधक के स्वरूप से संबंधित हैं।

(9-10) अमुक्त को मुक्त और मुक्त को अमुक्त श्रद्धना

जिसका जीवन तथा सुख, शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, परिस्थिति, संपत्ति, सत्ता, सत्कार, परिवार, संसार आदि 'पर' से जुड़ा हुआ है, बंधा हुआ है, 'पर' पर आधारित है, जो पराधीन है, पराश्रित है, भोगों का दास है वह अमुक्त है, दुःख व दोषों से ग्रस्त है। उस दुःख व दोष से ग्रस्त को, अमुक्त को स्वाधीन व सुखी मानना, अमुक्त को मुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है।

जो विषय-कषाय, राग-द्वेष-मोह आदि समस्त विकारों से या दोषों से मुक्त है, निर्दोष है, निर्विकार है, स्वाधीन है, इन्द्रियातीत, देहातीत, लोकातीत, भयातीत है, उसके जीवन को सुख से वंचित, दुःखी, पराधीन, अकर्मण्य, नीरस, निस्सार या व्यर्थ मानना मुक्त को अमुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है। ये दोनों मिथ्यात्व सिद्धत्व से संबंधित हैं।

सारांश यह है कि मिथ्यात्व का सम्बन्ध अपने 1. स्वरूप 2. साधकत्व 3. स्वभाव 4. साधना और 5. साध्य-सिद्धि आदि के विषय में मिथ्या मान्यताओं से है, यथा— 1. अपने को देह रूप मानना, जीव को अजीव मानने रूप मिथ्या मान्यता है। 2. धन-सम्पत्ति आदि जड़ पदार्थों की उपलब्धि को जीवन मानना, अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है। 3. विषय-भोगों के त्यागी को दुःखी मानना, साधक को असाधक मानने रूप मिथ्यात्व है। 4. विषय-विकार से ग्रस्त को सुखी मानना, असाधु को साधु मानने रूप मिथ्यात्व है। 5. त्याग को अस्वाभाविक मानना, धर्म को अधर्म मानने रूप मिथ्यात्व है। 6. विषय-विकार या भोग को स्वाभाविक नैसर्गिक मानना, अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व है। 7. राग या कामना पूर्ति में सुख मानना, दुःख में सुख मानना साधना रूप मिथ्यात्व है। 8. राग के त्याग में दुःख मानना, सुख में दुःख मानने रूप मिथ्यात्व है। 9. भूमि, भवन, धन-सम्पत्ति आदि पर पदार्थों के आश्रय (पराधीनता) या प्राप्ति से अपने को स्वाधीन मानना, अमुक्त को मुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है। 10. देहातीत, लोकातीत, पूर्ण स्वाधीन अवस्था को सुखहीन या दुःख रूप अवस्था मानना, मुक्त को अमुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है।

इन सब मिथ्या मान्यताओं के आत्यन्तिक क्षय या नाश से अर्थात् सम्यग्दर्शन से ही वीतरागता की ओर चरण बढ़ते हैं। अतः जब तक इन मिथ्या मान्यताओं का उदय रहता है, तब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र

का पालन नहीं हो सकता तथा वीतरागता की ओर एक कदम भी बढ़ना संभव नहीं है।

सम्यक्त्व मोहनीय

जिस कर्म प्रकृति के उदय से जीव सम्यग्दर्शनजनित शान्ति के सुख में रमण करने लगे और यथाख्यात चारित्र के प्रति उत्कृष्ट उत्कंठा न होने लगे वह सम्यक्त्व मोहनीय है। दूसरे शब्दों में सम्यक्त्व में मोहित होना आगे न बढ़ना सम्यक्त्व मोहनीय है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शान्ति का अनुभव होता है। उस शान्ति के सुख का भोग करना, उसी में रमण करना, संतुष्ट रहना और चारित्र मोहनीय के उपशम व क्षय के लिए पराक्रम न करना या पराक्रम में शिथिलता आना अर्थात् प्रमादग्रस्त रहना सम्यक्त्व मोहनीय है। तात्पर्य यह है कि शान्ति का संपादन करते हुए, उसे सुरक्षित रखते हुए भी साधक का लक्ष्य, चित्त की शान्त अवस्था में रमण न करके, इससे ऊपर उठकर—असंग होकर चारित्र मोह का क्षय कर वीतराग होना है। इसके लिए पुरुषार्थ न कर शान्ति में रमण करना, संतुष्ट रहना सम्यक्त्व मोहनीय है।

सम्यक्त्व का सुख विषयभोग के समान प्रतिक्षण क्षीण नहीं होता है, परन्तु यह अव्याबाध नहीं है। अव्याबाध सुख चारित्र मोह के क्षय एवं वीतरागता से ही सम्भव है। सम्यक्त्व सुख में रमण करना ऐसा ही है, जैसा किसी पथिक द्वारा पथ में आए सुन्दर, सुखद, रमणीय उद्यान में रमण करना अपने गन्तव्य स्थान की ओर न बढ़ना, गन्तव्य स्थान से वंचित रहना। इसी प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के सुख में रमण करना, उसमें सन्तुष्ट होना चारित्र मोह के क्षय से अनुभूत वीतरागता के अव्याबाध व अनन्त सुख से वंचित रहना है। साध्य की ओर आगे न बढ़कर विद्यमान साधना में ही संतुष्ट हो जाना सम्यक्त्व मोहनीय है।

मिश्र मोहनीय

जिस कर्म के उदय से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के प्रति श्रद्धा हो वह मिश्र मोहनीय है। इसका उदय अंतर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहता है। विषय-भोगों के सुख के साथ पराधीनता, जड़ता, चिन्ता आदि असंख्य दुःख लगे होने से विषय-भोग के सुख को हेय व त्याज्य मानना व निज-स्वरूप में स्थित होने को उपादेय मानना सम्यग्दर्शन है। इसके

विपरीत विषय—भोगों के सुख को ग्राह्य व उपादेय मानना, इसमें जीवन—बुद्धि होना मिथ्यात्व है। मिश्र मोहनीय में विषय—कषाय जन्य सुख को आंशिक रूप में हेय और आंशिक रूप में उपादेय माना जाता है।

चारित्र मोहनीय

आत्मा के स्वभाव के विरुद्ध आचरण करना चारित्र मोहनीय है। यह ज्ञान के अनादर रूप आचरण का परिणाम है। जहाँ मोहयुक्त दृष्टि है अर्थात् दर्शन मोहनीय है वहाँ चारित्र मोहनीय आवश्यक रूप से होता है। चारित्र मोहनीय की 16 कषाय एवं 9 नोकषाय, ये 25 कर्म प्रकृतियाँ हैं—

16 कषाय— (1-4) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया एवं लोभ। (5-8) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ (9-12) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ (13-16) संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ।

9 नोकषाय— (17) हास्य (18) रति (19) अरति (20) भय (21) शोक (22) जुगुप्सा (23) स्त्रीवेद (24) पुरुषवेद (25) नपुसंकवेद।

कषाय का स्वरूप एवं उसके भेद—प्रभेद

कर्मबंध एवं संसार—परिभ्रमण का प्रमुख कारण कषाय है। कष का अर्थ है 'संसार', अतः जिससे संसार में 'आय' अर्थात् आवागमन बना रहे वह कषाय है। कषाय का अर्थ कर्षण भी है। जिससे आकर्षण (राग) एवं विकर्षण (द्वेष) हो वह कषाय है तथा जो क्रोधादि के रूप में प्रकट होता है वह कषाय है। कषाय के 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ, ये चार मौलिक भेद हैं, भाव हैं, परिणाम हैं। इनमें से प्रत्येक के चार—चार उपभेद हैं— 1. अनन्तानुबंधी 2. अप्रत्याख्यान 3. प्रत्याख्यानावरण और 4. संज्वलन। इस प्रकार कुल 16 ही भेद स्वतंत्र हैं। चित्त का कुपित, क्षुब्ध या अशान्त होना क्रोध कषाय है। अपने से भिन्न पदार्थों से तादात्म्य स्थापित कर अपने को तद्रूप मानने का आचरण मान कषाय है। अनित्य वस्तु आदि के प्रति ममत्व का आचरण माया कषाय है। पर पदार्थों के संग्रह की लालसा लोभ कषाय है। विषय भोग के सुख को ही जीवन मानकर निरन्तर भोग भोगते रहना तथा उन भोगों की पूर्ति के लिए प्रयास करते रहना उनका अंत न होने देने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना अनन्तानुबंधी है। मिथ्यात्वमोहनीय एवं अनन्तानुबंधी में घनिष्ठ सम्बन्ध है। विषय—भोगों में दुःख मानते हुए भी उनका त्याग न करना अप्रत्याख्यानावरण है। अप्रत्याख्यानावरण एक प्रकार से

भोगों की दासता है। संयम को शान्ति, स्वाधीनता, चिन्मयता आदि के लिए आवश्यक मानकर भी संयम धारण न करना प्रत्याख्यानावरण है। संज्वलन कषाय एक प्रकार से भुक्त-अभुक्त भोगों के संस्कारों की स्फुरणा है जो व्यक्ति में आकुलता की आग जलती है।

वर्तमान में कुछ लोगों में ऐसी धारणा है कि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानवरण तथा संज्वलन एक ही कषाय की तरतम या न्यूनाधिक अवस्थाएँ हैं अर्थात् परिमाण या क्वाण्टिटी में न्यूनाधिकता है, परन्तु यह मान्यता उचित नहीं लगती है। कारण कि अधिक तथा न्यून; अथवा तीव्र तथा मंद कषाय परस्पर विरोधी हैं, अतः इनका उदय एक साथ संभव नहीं है। एक ही कषाय एक ही समय अधिक भी हो, न्यून भी हो, तीव्र भी हो और मंद भी हो, यह संभव नहीं है। जबकि आगम और कर्म-सिद्धान्त में अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि कषायों के उदय के साथ नियम से संज्वलन क्रोध सहित चारों कषायों का उदय माना है। इससे स्पष्ट है कि ये परिमाण नहीं, अपितु परिणाम (भाव) या क्वालिटी हैं। प्रत्येक कषाय में अनुभाग (रस) की तरतमता द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक, चतुःस्थानिक तथा इनके अनन्त भेद के रूप में कही गई है। अतः अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय में क्रोध उग्र हो और संज्वलन क्रोध में क्रोध नगण्यवत् हो, ऐसा नहीं है। कारण कि प्रथम तो दोनों का उदय एक साथ है। दूसरा, मिथ्यात्वी जीव के एक समय मात्र भी ऐसा नहीं होता कि अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न हो। तीसरा, नवग्रैवेयक देवों में मिथ्यात्वी देव के शुक्ललेश्या होने पर भी अर्थात् पूर्ण शांत भाव होने पर भी अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय निरन्तर रहता है। सब एकेन्द्रिय जीव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय वाले हैं। उन जीवों के एक सागर की स्थिति वाला तथा द्विस्थानिक अनुभाग कर्म बंधता है, जो आठवें गुणस्थानवर्ती शुक्ल लेश्यावाले साधु से भी कम है। लेश्या शुभाशुभ भावों की तरतमता की द्योतक है। इससे यह भी फलित होता है कि अनन्तानुबन्धी आदि कषाय योगों की शुभता-अशुभता पर निर्भर नहीं हैं। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से संबंधित नहीं हैं। इनका सम्बन्ध राग-द्वेष रूप भावों की प्रधानता से है, विषय भोगों से है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये राग-द्वेष के, भोग के प्रवृत्तिमान रूप हैं तथा

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन ये चार राग-द्वेष की वृत्तियाँ हैं, भाव हैं, क्वालिटी हैं, ये क्वाण्टिटी नहीं हैं।

क्रोधादि चारों कषायों एवं उनके अनन्तानुबंधी आदि प्रकारों का संक्षेप में आगे प्रतिपादन किया जा रहा है।

क्रोध कषाय

चित्त का कुपित, क्षुब्ध व अशान्त होना क्रोध है। चित्त कुपित, क्षुब्ध व अशान्त होता है— द्वेष व वैर भाव से, कामना अपूर्ति से, प्रतिकूलता से, विषय—सुख में बाधा उत्पन्न होने से। विषय—सुख में जब कोई बाधक होता है तो उसके प्रति द्वेष, वैरभाव, कोप या क्रोध उत्पन्न होता है। अतः किसी का बुरा मानना, बुरा चाहना, बुरा कहना, बुरा करना, ये सब भी क्रोध के ही रूप हैं और इन सबका कारण अपने दुःख—सुख का कारण अन्य को मानना है।

- (1) **अनन्तानुबंधी क्रोध** — अपने सुख में बाधा उत्पन्न होने पर चित्त का निरन्तर क्षुब्ध या अशान्त होना अनन्तानुबंधी क्रोध है। यह दूसरे को दुःख का कारण मानने की मिथ्या मान्यता के कारण होता है एवं सुख में दूसरे को बाधक मानकर व्यक्ति उससे निरन्तर वैरभाव रखता है तथा कभी क्षमा नहीं करना।
- (2) **अप्रत्याख्यानावरण क्रोध**— क्रोध से उत्पन्न होने वाले अशान्ति, खिन्नता, चिन्ता, तनाव, भय आदि दुःखों को जानते हुए भी सहन करते रहना, परन्तु क्रोध के त्यागने व घटाने का भाव उत्पन्न न होना अप्रत्याख्यानावरण क्रोध है।
- (3) **प्रत्याख्यानावरण क्रोध**— क्रोध को त्याग कर क्षमा व शान्ति धारण करने से प्रसन्नता, निश्चिन्तता, निर्भयता आदि स्वाभाविक सुखों की उपलब्धि होती है। यह जानते हुए भी क्षमा धारण न करना प्रत्याख्यानावरण क्रोध है।
- (4) **संज्वलन क्रोध**— क्रोध जनित कार्यों की स्मृति का उदय होने से खेद व खिन्नता की आग में जलना संज्वलन क्रोध है।

सारांश यह है कि कामना की उत्पत्ति तथा उसकी पूर्ति में बाधा पड़ना, चित्त का क्षुब्ध या अशान्त होना कामना पूर्ति के सुखों की उपलब्धि में जीवन मानना, कामना पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहना

अनन्तानुबंधी क्रोध है। कामना उत्पत्ति के साथ जुड़े चित्त की अशान्ति, पराधीनता, जड़ता का अभाव आदि दुःखों से छूटने की भावना न होना अप्रत्याख्यानवरण क्रोध है। क्रोध की कामना निवृत्ति से, निष्काम भाव से मिलने वाले शान्ति, ऐश्वर्य के अक्षय सुख की उपलब्धि की भावना न होना, क्रोध का त्याग न करना प्रत्याख्यानवरण क्रोध है। कामना उत्पत्ति से राग-द्वेष की आग का प्रज्वलित रहना संज्वलन क्रोध है।

मान कषाय

वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि अपने से भिन्न पदार्थों से तादात्म्य स्थापित कर अपने को कुछ मानना 'मान' कषाय है। देह से तद्रूप होकर अपने को देही मानना, देह जनित अवस्थाएँ बचपन, यौवन, बुढ़ापा, रोग, आरोग्य, काला, गोरा आदि अवस्थाओं से तद्रूप होकर अपने को बालक, युवा, वृद्ध, रोगी, नीरोग, काला, गोरा, सुंदर, कुरूप आदि मानना, धन से तद्रूप होकर अपने को धनी मानना, विद्या से तद्रूप होकर अपने को विद्वान् मानना अर्थात् अपने को अपने से भिन्न से तद्रूप होकर कुछ मानना अपना मूल्यांकन करना 'मान' है। मान ही मद के रूप में प्रकट होता है। मद मान का क्रियात्मक रूप है।

- (5) **अनन्तानुबंधी मान** — देह, धन, बल, बुद्धि, विद्या आदि की उपलब्धि को ही अपना जीवन मानना, इन्हें अनन्तकाल तक बनाये रखने की अभिलाषा रखना, इनका अंत न हो जाय, इसके लिए प्रयत्नशील रहना, अपने अहं को, व्यक्तित्व को अनन्त काल तक बनाये रखने के लिए निरन्तर तत्पर रहना, मरने के बाद भी मेरा नाम अमर रहे, इसके लिए प्रयास करना अनन्तानुबंधी मान है।
- (6) **अप्रत्याख्यानवरण मान**— मान या मद के कारण उत्पन्न महत्ता, दीनता, गर्व, जड़ता, पराधीनता, हृदय की कठोरता आदि दुःखों की उपेक्षा करना, उन्हें दूर करने का प्रयत्न न करना, मान कषाय को न रोकना उसका परिमाण न करना अप्रत्याख्यानवरण मान है।
- (7) **प्रत्याख्यानवरण मान**— मान के त्याग से होने वाले मृदुता, हृदय की कोमलता, विनम्रता आदि दिव्य गुणों से होने वाले सुखों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील न होना, सजग न होना, मान या मद का त्याग न करना प्रत्याख्यानवरण मान कषाय है।

- (8) **संज्वलन मान**— मान की उत्पत्ति से दीनता और अभिमान की अग्नि में जलना संज्वलन मान है।

माया कषाय

मुझे स्वाधीनता चाहिए— इस स्वाभाविक ज्ञान, निजज्ञान, विवेक के विपरीत आचरण करना माया है। ममता इसका क्रियात्मक रूप है। देह, इन्द्रिय, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, धन, संपत्ति आदि जो सदा साथ नहीं देने वाले हैं, जो एक दिन अवश्य धोखा देने वाले हैं, इन्हें अपना मानना धोखा है, माया है।

- (9) **अनन्तानुबंधी माया** — वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, परिवार, धन, संपत्ति, समाज, संप्रदाय आदि नश्वर एवं पौद्गलिक पदार्थों को सदा अपना मानते रहना, ये सब मेरे बने रहें, मेरे से जुड़े रहें, अनन्तकाल तक इनका वियोग कभी न होने पावे, इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना, अनन्तानुबंधी माया है।

- (10) **अप्रत्याख्यानावरण माया**— जहाँ माया या ममता है, वहाँ पराधीनता है। पराधीनता भयंकर दुःख है। इस दुःख से छूटने की अभिलाषा (भावना) उत्पन्न न होना, अर्थात् ममता को बढ़ाने से अपने को न रोकना, इसको न घटाना या परिमाण न करना अप्रत्याख्यानावरण माया है।

- (11) **प्रत्याख्यानावरण माया**— ममता के त्याग से स्वाधीनता, सरलता, सरसता आदि दिव्य गुणों के सुखों की उपलब्धि होती है। उन सुखों के पाने की अभिलाषा न होना अर्थात् ममता का त्याग न करना प्रत्याख्यानावरण माया है।

- (12) **संज्वलन माया**— माया व ममता की रुचि, उत्पत्ति व स्मृति से पराधीनता, विवशता की ज्वाला में जलना संज्वलन माया है।

लोभ कषाय

विषय सुख के प्रलोभन के वशीभूत हो सुख की सामग्री जुटाने की प्रवृत्ति लोभ है। तृष्णा इसका क्रियात्मक रूप है।

- (13) **अनन्तानुबंधी लोभ**— विषय सुख को जीवन मानकर सुख की सामग्री जुटाने एवं उसे सदैव बनाये रखने में अपने को सदैव रत रखना, अनन्तानुबंधी लोभ है।

- (14) **अप्रत्याख्यानावरण लोभ**— लोभ से, तृष्णा से होने वाले अभाव, अतृप्ति, असंतोष आदि दुःखों से मुक्त होने की भावना न होना, अधिकाधिक संग्रह करने के लिए प्रयत्नशील होना, इच्छाओं को घटाने का व इनको सीमित व परिमित करने का प्रयत्न न करना, अप्रत्याख्यानावरण लोभ है।
- (15) **प्रत्याख्यानावरण लोभ**— लोभ के त्याग से मिलने वाले संतोष, शान्ति, ऐश्वर्य आदि दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना अर्थात् लोभ का त्याग न करना प्रत्याख्यानावरण लोभ है।
- (16) **संज्वलन लोभ**— लोभ की रुचि—उत्पत्ति से होने वाले अभाव, अतृप्ति, दरिद्रता के अनुभव की आग में जलना संज्वलन लोभ है।
- सारांश यह है कि भोगों की उपलब्धि में ही जीवन है, सुख है, भोग स्थायी रूप से रहने वाले हैं, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। भोगों का अंत कभी नहीं हो, इसके लिए सतत प्रयत्नशील रहना अनन्तानुबंधी कषाय है। विषय—भोगों की ओर सम्मुख होना, उनकी वृद्धि करने का प्रयत्न करना अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, विषय भोगों के त्याग की भावना न होना प्रत्याख्यानावरण कषाय है। विषय सुखों के विकारों की स्फुरणा से जलते रहना संज्वलन कषाय है।

इसके विपरीत यह यथार्थ बोध होना कि विषय—सुख क्षणिक है, यह सुख नहीं होकर सुखाभास है; विषय—सुख की सामग्री सड़न—गलन, विध्वंसन वाली होने से अशुचिमय एवं नश्वर है, पराधीनता में आबद्ध करने वाली है तथा विषय—सुख अभाव, तनाव, दबाव, हीनभाव, भय, चिन्ता, द्वन्द्व आदि भयंकर दुःखों का हेतु है, दुःखद होने से विषय—सुख त्याज्य है, मुझे स्वाधीन होना है, जो स्वरूप से स्व—भाव में स्थित होने से ही संभव है, ऐसा लक्ष्य बनाना सम्यग्दर्शन है। विषयभोग के सुख की नश्वरता को अवश्यम्भावी जानकर उसमें जीवन नहीं है, यह बुद्धि रखना, स्वाधीनता में ही, स्वरूपरमणता में ही जीवन है इसके लिए प्रयास करना अनन्तानुबंधी का क्षय या उपशम है। विषय—सुखों को समस्त दुःखों का मूल जानकर उनसे विमुख होना अर्थात् उनका बढ़ाना रोककर उन्हें घटाने का प्रयत्न, पुरुषार्थ या पराक्रम करना— अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम व क्षय है। संयम में ही शान्ति, स्वाधीनता का अक्षय— अखंड सुख है। इस सुख से

प्रभावित होकर विषय-भोगों की दासता का त्याग करना, संयम धारण करना, इन्द्रिय व मन को भोगों से हटाना, प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षय या उपशम है। पहले के भोगे हुए विषय भोगों के संस्कारों के उदय में आने से चित्त का क्षुब्ध होना, चंचल होना, संज्वलन कषाय है। इसका उदय न होना संज्वलन कषाय का उपशम है और कषाय के प्रभाव के सर्वथा नष्ट हो जाने से संज्वलन कषाय का क्षय हो जाता है। इस अवस्था में कुछ क्षण टिकने के पश्चात् पूर्ण चैतन्य का सदा के लिए अनुभव हो जाता है। फिर जानना, पाना, करना कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। जानना शेष न रहने से अनन्तज्ञान, चैतन्य का पूर्ण अनुभव हो जाने से अथवा निर्विकल्प- बोध हो जाने से अनन्तदर्शन, साध्य की उपलब्धि होने से वस्तु, व्यक्ति, भोगों की इच्छा, कामना, ममता, तादात्म्य व कर्तृत्व भाव का सर्वथा नाश हो जाने से पाना व करना शेष न रहने से क्षायिक चारित्र की अभिव्यक्ति होती है।

नोकषाय

कषाय में सहायक प्रवृत्तियाँ नोकषाय हैं। हास्यादि 9 नोकषायों का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है— इष्ट वस्तु के संयोग से व भोग से हर्षित होना हास्य है, उसमें रस लेना, रत होना रति है। हास्य-रति ये दोनों बंध एवं उदय में युगपत् होते हैं। इन दोनों का जोड़ा है। अनिष्ट संयोग से अरुचि होना— अरति है और उससे खिन्न होना शोक है। अरति और शोक का जोड़ा है। इन दोनों का बंध व उदय युगपत् होता है। इष्ट संयोग का वियोग न हो जाय, अनिष्ट का संयोग न हो जाय अर्थात् दुःख न आ जाय, इस प्रकार दुःख से भयभीत होना भय कषाय हैं। अनिष्ट संयोग से अरुचि होना, घृणा होना, फिर उसे दूर करने का उपचार—उपाय या चिकित्सा करना जुगुप्सा है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति में, अनिष्ट के निवारण में अपने को समर्थ मानकर वैसा करने में तत्पर होना, पुरुषार्थ करना पुरुष वेद है। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट निवारण में पराश्रय की अपेक्षा व अनुभव करना स्त्री वेद है। भोगेच्छा का रहना या होना, परन्तु उस इच्छा की पूर्ति करने में अपने को असमर्थ मानना—अनुभव करना नपुंसक वेद है।

हास्य-रति-अरति-शोक : वर्तमान में हास्य कषाय का अर्थ हँसना किया जाता है, परन्तु यह अर्थ आगम व कर्म-सिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। कारण कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार हास्य और रति का जोड़ा तथा

अरति और शोक का जोड़ा है। यह नियम है कि जहाँ रति होगी वहाँ हास्य होगा ही और जहाँ अरति होगी वहाँ शोक होगा ही तथा रति और हास्य एवं अरति और शोक इन दोनों जोड़ों में से एक जोड़े का उदय प्रत्येक मिथ्यात्वी जीव के नियम से सदैव होता है। कोई भी मिथ्यात्वी एवं प्रमादी जीव ऐसा नहीं हो सकता जब इन दोनों जोड़ों में से एक का भी उदय उसके न हो। तात्पर्य यह है कि जहाँ रति का उदय (अनुभव) होगा वहाँ उसी समय नियम से हास्य का उदय भी (अनुभव) होगा और यह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के होता है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जब कोई भी प्राणी परिस्थिति की अनुकूलता का रस लेता है अर्थात् उसके रति का उदय होता है तब वह प्राणी हँसता हो, ऐसा नहीं होता है, जबकि उस समय उसके हास्य का उदय नियम से होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हास्य का अर्थ हंसना नहीं है, परन्तु अनुकूलता के रस रूप रति के उदय के समय हर्ष का होना है। अतः हास्य का अर्थ हर्ष ही उपयुक्त लगता है। जैसे रति के साथ हास्य है वैसे ही अरति के साथ शोक जुड़ा हुआ है। ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। इससे यह फलित हुआ कि जैसे अरति का उलटा रति है वैसे ही शोक का विरोधी हास्य है। शोक का विलोम हास्य होने से हास्य का अर्थ हर्ष ही समीचीन लगता है।

अथवा

वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की अनुकूलता का रुचिकर लगना 'रति' और इनकी प्रतिकूलता का अरुचिकर लगना 'अरति' है। अनुकूलता में हर्ष (हास्य) और प्रतिकूलता में शोक (खेद, खिन्नता) होता ही है। इसलिए कर्म-सिद्धान्त में रति और हास्य का जोड़ा एवं अरति और शोक का जोड़ा कहा गया है अर्थात् जहाँ रति होगी वहाँ हास्य होगा ही और जहाँ अरति होगी वहाँ शोक होगा ही। रति के साथ हास्य और अरति के साथ शोक जुड़ा हुआ है। यह नियम हास्य और रति के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता व क्षय सब पर सर्वत्र लागू होता है।

हर्ष और रति राग के तथा अरति और शोक द्वेष के द्योतक हैं। अतः जितना-जितना राग-द्वेष घटाया जाता है अर्थात् विरति (वैराग्य) भाव बढ़ता जाता है; रति और हास्य (हर्ष) का एवं अरति और शोक का प्रभाव (अनुभाव) अर्थात् अनुभाग घटता जाता है। रति और हास्य (हर्ष) तथा

अरति और शोक इन चारों नो-कषायों का उदय राग-द्वेष व प्रमाद के साथ जुड़ा हुआ है। जैसे- जैसे विरति बढ़ती जाती है और प्रमाद घटता जाता है वैसे-वैसे ये चारों नो-कषाय क्षीण होते जाते हैं। विरति या वैराग्य ही रति-अरति तथा हर्ष-शोक के क्षय में हेतु हैं।

अथवा

अनुकूलता का भोग रति है और रति से प्राप्त होने वाला हर्ष हास्य है। इन्द्रियों को अनुकूल लगने वाले विषयों में रमण करना रति है, जैसे विषय-भोगी को विषय-भोग मिल जाने पर सुखाभास होता है वह रति है और उस प्रवृत्ति से होने वाली सुखानुभूति हर्ष या हास्य है। जैसे शराबी का शराब पीने के लिए प्रवृत्त होना रति है और शराब पीते समय होने वाली सुखानुभूति हर्ष है। इसके विपरीत शराब नहीं पीने वाले को शराब पीने के लिए बाध्य होना पड़े; तो उसके लिए वह प्रवृत्ति अरुचि-अरति पैदा करने वाली होगी। इस अरति से उत्पन्न दुःख की अनुभूति शोक होगा। मनचाही वस्तु की भोग-प्रवृत्ति रति है और उस भोग या रति के समय होने वाला सुखद अनुभव हास्य है। ये दोनों अनुकूल अवस्था से एक साथ उत्पन्न होने वाले भाव हैं। अतः इन दोनों (रति और हास्य) का जोड़ा है। इनका उदय सदैव साथ होता है। अनचाही वस्तु की भोग-प्रवृत्ति अरति है और उस भोग-प्रवृत्ति के समय होने वाला दुःखद अनुभव शोक है। ये दोनों प्रतिकूल अवस्था से एक साथ उत्पन्न होने वाले अनुभव या भाव हैं। अतः अरति और शोक इन दोनों का जोड़ा है। जहाँ अरति होगी वहाँ शोक होगा ही और जहाँ रति होगी वहाँ हर्ष होगा ही। रति और अरति परस्पर विपरीत हैं और हास्य तथा शोक परस्पर विपरीत हैं।

जब तक व्यक्ति का देह आदि पदार्थों के साथ अपनत्व व अहंत्व भाव है तब तक उसके अनुकूल अवस्था में रति व हर्ष तथा प्रतिकूल अवस्था में अरति व शोक उत्पन्न होता है। परन्तु जब प्राणी को देह में अपनत्व भाव नहीं रहता है, वह देहातीत हो जाता है तब वह रति-अरति से विरत हो जाता है, विरति को प्राप्त हो जाता है तथा हास्य और शोक को छोड़कर निराकूल प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है।

भय-जुगुप्सा : जुगुप्सा शब्द 'गुप् रक्षणे' धातु से बना है। जिसका अर्थ है रक्षण की इच्छा। धन- धान्य, भवन आदि वस्तुओं के रक्षण की

इच्छा तो किसी के हो और किसी के नहीं भी हो, कारण कि जिसके इन वस्तुओं का अभाव हो वह किसके रक्षण की इच्छा करे? परन्तु शरीर के रक्षण की इच्छा प्राणिमात्र को होती है। क्योंकि जब तक प्राणी का शरीर है तब तक ही वह जीवित है और शरीर के नाश से उस प्राणी की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु किसी को पसंद नहीं है। इसीलिए सभी प्राणी मृत्यु से भयभीत हैं।

जहाँ शरीर के रक्षण की इच्छा है वहाँ शरीर को हानि न पहुँच जाय, शरीर का नाश न हो जाय, यह भय भी बना ही रहता है। रक्षण की इच्छा के साथ हानि या विनाश का भय जुड़ा ही रहता है। इसीलिए प्राणिमात्र अपने शरीर के रक्षण की इच्छा व हानि के भय से सदा संतुष्ट रहता है। पक्षियों को देखिये, एक दाना चुगते हैं फिर चारों ओर देखते हैं, क्योंकि उनको भय है कि वे दाना चुगने में कहीं असावधान रह जायें और कोई उन्हें दबोच न ले। हमारी आँख की ओर कोई वस्तु या हाथ आया कि हमारी पलक तत्काल आँख को ढक कर उसकी रक्षा करती है और यह कार्य इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें पता ही नहीं चलता कि आँख को सामने से आने वाली वस्तु से हानि पहुँचेगी, इस भय से हम कब भयभीत हुए और कब आँख की रक्षा करने के लिए पलक मूँद ली। भय और रक्षण, ये दोनों कार्य हमारे अचेतन मन ने इतनी शीघ्रता से कर दिये कि बेचारे चेतन मन को जानकारी नहीं हो सकी। चेतन मन को जानकारी हो या न हो अचेतन मन में शरीर के रक्षण की इच्छा व शरीर को कोई हानि न पहुँचा दे, यह भय सदा बना रहता है। इसलिए ज्ञानियों ने भय और जुगुप्सा को ध्रुवबंधिनी कर्म प्रकृतियाँ कहा है।

‘जुगुप्सा’ शब्द का एक अर्थ मानसिक ग्लानि भी है। शरीर के रक्षण की अभिलाषा के साथ मरण का भय जुड़ा हुआ है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। शरीर का अंत या मृत्यु अवश्यंभावी है। इस सत्य का पता अचेतन मन या विवेक बुद्धि को सदा रहता है। अतः मृत्यु के भय के दुःख का शूल अंतःकरण में सदा चुभता रहता है। जिससे मन में बड़ी नीरसता, अरुचि व ग्लानि पैदा होती है। इसी ग्लानि को भुलाने या या गम को गलत करने के लिए व्यक्ति अपने को किसी न किसी आमोद-प्रमोद के कार्य में व्यस्त रखता है। युद्ध में रत सैनिक सदा-हंसने-हंसाने, खेल-तमाशों व

नशे में मस्त रहते हैं। पास्कल कहता है— “इसका कारण यह है कि मरण उनकी आँखों के सामने प्रतिक्षण मौजूद रहता है। उसे भूलने के लिए वे आनन्द का आभास खड़ा करते हैं।” मन में जीने की अभिलाषा का, दूसरे शब्दों में मरण के भय का कांटा चुभता रहता है। उस दुःख को भुलाने के लिए खेल-तमाशों द्वारा कृत्रिम वातावरण उत्पन्न कर अपने को उन्माद अवस्था में लाने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस प्रकार जीवन की अभिलाषा व भय मरने तक चलते ही रहते हैं और मरने के पश्चात् भी पीछा नहीं छोड़ते हैं। परन्तु जिसने भोगेच्छा छोड़ दी है, उसके लिए शरीर का होना या न होना कोई अर्थ नहीं रखता है। उसके लिए शरीर की आवश्यकता नहीं रहती है। जीने की कामना न रहने से मृत्यु के भय का अभाव हो जाता है। वह जीवन-मरण से छुटकारा पा जाता है। उसके सारे दुःख अपने आप मिट जाते हैं। देह से अपनेपन का भाव मिटा कि सारी चिन्ता मिटी, फिर उसके भय व जुगुप्सा का बंध व उदय नहीं होता है।

जुगुप्सा शब्द के दो अर्थ प्रचलित हैं— 1. घृणा और 2. विचिकित्सा। घृणा उसी से होती है और चिकित्सा या उपचार उसी का किया जाता है जो अपने को अप्रिय हो। दुःख सभी को अप्रिय है अतः दुःख आने का भय प्रायः सभी को लगता है और आया हुआ दुःख सभी को अप्रिय लगता है। अर्थात् उससे घृणा होती है तथा उसे मिटाने का उपचार (चिकित्सा) भी सभी करते हैं। अतः भय और जुगुप्सा ये दोनों दुःख से संबंधित हैं यथा नया दुःख न आ जाये यह भय है और आया हुआ दुःख जो कि अरुचिकर है अनिष्ट है वह कैसे दूर हो, उसका उपचार करना विचिकित्सा है। विचिकित्सा घृणा-अप्रियता के साथ जुड़ी हुई है। अतः जहाँ घृणा है वहाँ विचिकित्सा है और दोनों का समन्वित नाम जुगुप्सा है।

जो प्राणी दुःख से घबराते हैं उन्हीं में भय और जुगुप्सा उत्पन्न होते हैं। दुःख से वे ही घबराते हैं या भयभीत होते हैं जो विषय-सुख के भोगी हैं। सुख के भोगी को अनुकूलता चाहिए अतः उसे अनुकूलता के जाने का एवं प्रतिकूलता के आने का भय सताता रहता है। क्योंकि कोई भी अनुकूलता सदैव नहीं रहती है। अनुकूलता न जाने पाये, ऐसा चाहने पर भी चली ही जाती है और प्रतिकूलता न आने पावे, ऐसा चाहने पर भी प्रतिकूलता आ ही जाती है। ऐसा प्राकृतिक नियम ही है। अतः प्राणी को

अनुकूलता के जाने का और प्रतिकूलता के आने का भय सदा लगा ही रहता है और इस भय से हटने के उपाय (उपचार—चिकित्सा) में तत्पर रहता है। तात्पर्य यह है कि जो सांसारिक सुख के भोगी हैं, दास हैं उन्हें भय और जुगुप्सा सताते ही रहते हैं।

जिन्होंने सांसारिक सुख को दुःख का हेतु समझकर त्याग दिया है, उनके लिए अनुकूलता—प्रतिकूलता समान हो जाती है। अर्थात् वे अनुकूलता—प्रतिकूलता से ऊपर उठ जाते हैं फिर सुख—दुःख से वे प्रभावित नहीं होते हैं। आकाश में बादल आते जाते रहते हैं, उससे आकाश का कुछ नहीं बिगड़ता है तथा दर्पण में प्रतिबिंब पड़ते रहते हैं। दर्पण उससे प्रभावित नहीं होता है। दर्पण में सागर का प्रतिबिंब पड़ने से वह गीला नहीं होता है और पर्वत का प्रतिबिंब पड़ने से भारी नहीं होता है। इसी प्रकार जो समता भाव में रहते हैं, सुख—दुःख उन्हें सुखी—दुःखी नहीं कर सकते। उनके लिए सुख—दुःख निष्प्राण—निर्जीव हो जाते हैं। वे भय और जुगुप्सा से मुक्ति पा लेते हैं। साथ ही वे रति और हास्य तथा अरति और शोक इन नो कषायों से भी मुक्ति पा लेते हैं।

पुरुष वेद—स्त्रीवेद—नपुंसक वेद : वेद तीन हैं— 1. पुरुष वेद 2. स्त्री वेद 3. नपुंसक वेद। कर्तृत्व भाव पुरुषवेद है। भोक्तृत्व भावना स्त्रीवेद है। दोनों की मिली—जुली भावना नपुंसक वेद है। कर्तृत्व व भोक्तृत्व भाव से रहित होना निर्वेद है अथवा प्रयत्न या पुरुषार्थ करने की भावना पुरुष वेद है। दूसरों के आश्रय को चाहना स्त्रीवेद है। जिसमें ये दोनों हैं, वह नपुंसक वेद है।

वेद का अर्थ वर्तमान में लैंगिक मैथुन सेवन या संभोग करना लगाया जा रहा है। यह उपयुक्त नहीं है। कारण कि संसार में जितने भी जीव हैं, उनके हर क्षण किसी न किसी वेद का उदय होता है। यहाँ तक कि क्षपक श्रेणी में भी वेद का उदय रहता है अर्थात् केवलज्ञान की उत्पत्ति के अन्तर्मुहूर्त पूर्व तक सभी जीवों के वेद का उदय नियम से हर क्षण रहता है। परन्तु मैथुन सेवन की इच्छा हर क्षण नहीं देखी जाती है। अतः वेद के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है।

वेद का अर्थ मैथुन लें तो मैथुन का अर्थ है दो पदार्थों का जुड़ना। जैसे मिथुन राशि है उसमें दो तारे जुड़े हुए हैं। अतः जहाँ दो का संयोग

सम्बन्ध है, वहाँ ही मैथुन है, वहाँ ही वेद का उदय है। शरीर आदि पर-पदार्थों से अपने निज स्वरूप का अलग अस्तित्व क्षपक श्रेणी में ही अनुभव होता है। इसलिए वहाँ ही वेद का क्षय व उपशम संभव है। इसके पूर्व तो देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध, लगाव व जुड़ाव बना ही रहता है। अतः वेद का उदय रहता ही है।

नपुंसक का अर्थ है कुछ भी करने में सक्षम नहीं होना। जिसमें अपने कर्मादय से मिले शरीर, इन्द्रिय आदि के संयोग की दासता से अपने को अलग करने की क्षमता व योग्यता नहीं है, जो भोग योनि है, जिसमें पुरुषार्थ करके संयोग का विच्छेद करने का पुरुषार्थ नहीं है, जो प्रवृत्ति करने में स्वतंत्र नहीं है, प्रकृति के आधीन है वह नपुंसवेदी है। जो प्रवृत्ति करने में पर के आलंबन की अपेक्षा रखता है, वह स्त्रीवेदी है। जो स्वयं अपने पुरुषार्थ से प्रवृत्ति करता है, वह पुरुषवेदी है। विद्वानों को वेद का वास्तविक अर्थ खोजना चाहिए।

मोहनीय कर्म के बंध के कारण

मोहनीय कर्म के बंध के कारण बताते हुए भगवती सूत्र में कहा है—

गोयमा? तिव्व कोल्याए, तिव्व माणयाए, तिव्व माययाए, तिव्व लोल्याए, तिव्व दंमणमोळणिज्जयाए, तिव्वचन्तिमोळणिज्जयाए मोळणिज्जकम्मा-अनीअप्पओग जाव पओग बंधे।—भगवती सूत्र, शतक 8, उद्दे. 9

हे गोतम! तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से, तीव्र माया करने से, तीव्र लोभ करने से, तीव्र दर्शन मोहनीय से, तीव्र चारित्र मोहनीय से और मोहनीय कर्मण—शरीर—प्रयोग नामकर्म के उदय से मोहनीय कर्मण शरीर—प्रयोग—बंध होता है।

ऊपर कहा गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की तीव्रता से मोहनीय कर्म बंधता है। इस बंध प्रक्रिया में तीव्र शब्द अपना महत्त्व रखता है। कारण कि मोहनीय कर्म के बंध का सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक जीव के क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों में से किसी एक कषाय का उदय सदैव रहता है और उस कषाय से चारों कषायों की प्रायः सभी प्रकृतियों एवं नोकषायों में बंध योग्य प्रकृतियों का बंध अवश्य होता है। यह बंध दो प्रकार का होता है—

एक प्रकार का बंध वह है जो उदयमान (विद्यमान) कषाय में मंदता होने से होता है। इस प्रकार के बंध में मोहनीय कर्म की बध्यमान प्रकृतियों

का पहले जितना स्थिति बंध एवं अनुभाग बंध हो रहा था उससे कम स्थिति का और कम अनुभाग का बंध होता है तथा सत्ता में स्थित मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की स्थिति का अपवर्तन (कमी) और अनुभाग का अपकर्षण (कमी) होता है। यद्यपि इस प्रकार के बंध में भी मोहनीय कर्म की प्रायः सभी प्रकृतियों का बंध होता है, लेकिन वह उनके स्थिति व अनुभाग के बंध में कमी का और सत्ता में स्थित प्रकृतियों की स्थिति के अपवर्तन (कमी) एवं अनुभाग में अपकर्षण का हेतु होता है। इस कारण से कषाय की मंदता को मोहनीय कर्म के बंध के हेतुओं में नहीं गिनाया गया है।

दूसरे प्रकार का बंध वह है जो उदयमान (विद्यमान) कषाय के तीव्र होने से होता है। इस प्रकार के बंध में मोहनीय कर्म की बध्यमान प्रकृतियों का पहले जितना स्थिति बंध व अनुभाग बंध हो रहा था उससे स्थिति और अनुभाग बंध अधिक होता है तथा सत्ता में स्थित प्रकृतियों की स्थिति का उद्वर्तन (वृद्धि) और अनुभाग का उत्कर्षण (वृद्धि) होता है। इस प्रकार कषाय की तीव्रता मोहनीय कर्म की बध्यमान एवं सत्ता में स्थित प्रकृतियों के स्थिति बंध और अनुभाग बंध में वृद्धि का कारण होने से कषाय की तीव्रता को ही मोहनीय कर्म के बंध के हेतुओं में स्थान दिया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र में चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय के बंध हेतुओं के सूत्र अलग-अलग दिए हैं। चारित्र मोहनीय के बंध हेतुओं का वर्णन करते हुए कहा है—

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामप्रचारित्रमोहस्य।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अ. 6 सूत्र 15

अर्थात् कषाय से होने वाला तीव्र आत्म-परिणाम चारित्र मोहनीय कर्म बंध का हेतु है। इस सूत्र में आए तीव्र शब्द के प्रयोग का कारण ऊपर बता आए हैं। यहाँ चारित्र मोहनीय बंध के हेतुओं पर विशेष प्रकाश डाल रहे हैं—

कषाय ही समस्त पाप-कर्म-प्रकृतियों के स्थिति और अनुभाग (फल) बंध के हेतु हैं और कषाय की उत्पत्ति के हेतु हैं— विषय-सुखों का भोग, उनकी दासता तथा प्रलोभन। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

कोटं च माणं च तदेव मायं, लोटं दुगुच्छं अन्नं च।

खन्नं भय न्नोद-पुमिथिवेयं, णपुंनवेयं विविधे य भावे।।

—उत्तराध्ययन अध्ययन 32, गाथा 102

अर्थात् विषय-भोगों के सुखों में आसक्त जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति (अरुचि), रति, हर्ष, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और विविध भावों को प्राप्त होता है। आशय यह है कि प्रत्येक विषय-भोग के साथ अप्रत्यक्ष रूप में समस्त कषाय और नो कषाय जुड़े-बंधे हुए हैं। परन्तु विषय-भोग में प्रवृत्ति या क्रियात्मक रूप में किसी एक कषाय का प्रत्यक्ष उदय होता है और बंध सभी कषायों और नो कषायों का होता है।

दर्शन मोहनीय के बंध के हेतुओं का वर्णन करते हुए कहा है—

“**केवलिश्रुतग्रन्धधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहनीयः।**

—तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 6 सूत्र 14

अर्थात् केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अवर्णवाद दर्शन मोहनीय कर्म के बंध का हेतु है।

‘दर्शन’ का अर्थ है निर्विकल्पता। निर्विकल्पता दो प्रकार की होती है—

1. स्व-संवेदन एवं चिन्मयता रूप अनुभव। इसमें भी विकल्प नहीं होता है। इस दर्शन का सम्बन्ध दर्शनावरण कर्म में आए ‘दर्शन’ से है। जिसका विशेष विवेचन पूर्व में दर्शनावरण कर्म की व्याख्या में कर दिया गया है।

2. श्रद्धा, आस्था, विश्वास रूप दर्शन। इसमें श्रद्धा का अर्थ है विकल्प रहित विश्वास अर्थात् पूर्ण आस्था। श्रद्धा में विकल्प रहित (निर्विकल्प) स्थिति होती है, उसमें संदेह, तर्क, विकल्प, ऊहापोह आदि नहीं होते। उपर्युक्त श्रुत, संघ, धर्म आदि श्रद्धा के विषय हैं। इनका अवर्णवाद है इनके स्वरूप के प्रति सन्देह व विकल्प होना। यह तभी होता है जब इनके विपरीत छद्मस्थ, कुश्रुत, बाल जीवों का संग, अधर्म (दुराचरण) और भोगी देवों से सुख-प्राप्ति का विश्वास हो, आस्था हो, मोह हो। इनसे सुख-प्राप्ति का विश्वास, आस्था व मान्यता मिथ्या है। यह मिथ्या मान्यता ही दर्शन मोहनीय है। दर्शन मोहनीय की उत्पत्ति व उसका बंध तभी होता है जब अविनाशी अरिहंत-सिद्ध वीतराग देव, स्वभाव रूप धर्म, विवेक रूप श्रुत ज्ञान और त्यागी संघ पर श्रद्धा-आस्था न कर अविश्वसनीय, नश्वर, असत्, शरीर, संसार, विषय-कषाय जन्य सुखों में आस्था, विश्वास तथा श्रद्धा की जाय। यह मिथ्यात्व ही दर्शनमोहनीय के बंध का हेतु है।

मोह—विजय क्यों आवश्यक?

कामभोग प्राणी के लिये भयंकर दुःखदायी हैं, जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा है—

दुक्खं व्यं जन्म न लेइ मोले, मोले ठओ जन्म न लेइ तण्ण।

तण्ण व्या जन्म न लेइ लोले, लोले ठओ जन्म न किंचणार्इ॥

—उत्तरा. 32.8

दुःख उसी का नष्ट होता है जिसको मोह नहीं है। मोह उसी का नष्ट होता है जिसके तृष्णा नहीं है। तृष्णा उसी के नहीं होती है जिसके लोभ नहीं है। लोभ उसी के नहीं होता है जो अकिंचन होता है अर्थात् जो अपने को कुछ नहीं मानता, किसी की कुछ भी कामना नहीं रखता वह ही दुःख रहित होता है।

जे यावि दोअं अमुवेइ तिव्वं, तन्नि वक्खणे अे उ उवेइ दुक्खं।

दुद्धंतदोअेण अएण जंतू, न किंचि भावं अवज्झइ अे॥

—उत्तरा.32.90

जो जीव तीव्र द्वेष को प्राप्त होता है, वह अपने ही दुर्दान्त दोष के कारण उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। इसमें मन के भाव का कुछ भी दोष—अपराध नहीं है। अर्थात् इसके लिए राग—द्वेष कर्ता व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है।

भावाणुवाएण पणिग्गहेण, उप्पायणे वक्खण अण्णियोगे।

वए वियोगे य कठिं भुठं अे, अंभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

—उत्तरा. 32.93

भावों में आसक्ति एवं ममत्व रखने वाले जीव को भावानुकूल पदार्थ के उत्पन्न करने में, रक्षण में, उपयोग करने में, व्यय में, वियोग में सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? कदापि सुख नहीं होता है। उसका उपभोग करते समय भी तृप्ति नहीं होने के कारण दुःख ही होता है। भोगों में सुख कहीं भी नहीं है, सर्वत्र दुःख ही दुःख है।

मोअन्म पच्छ य पुनत्थओ य, पओगकाले य दुखी दुन्ते।

एवं अदत्ताणि अमाययंतो, भावे अतित्तो दुठिओ अणिन्मो॥

—उत्तरा. 32.96

असत्य (पर एवं विनाशी) पदार्थ का भोग करने वाला भोग के पहले, पीछे एवं प्रयोग (उपभोग) करते समय दुःखी होता है और उसका अंत भी

बुरा ही होता है। इस प्रकार भावों से पर पदार्थों या विनाशी वस्तुओं को ग्रहण करता हुआ वह जीव दुःखी तथा आश्रयहीन अर्थात् असहाय होता है।

इसके विपरीत विरक्त जीव के शब्दादि विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं होते—

**विज्जमाणञ्च य इदियत्था, अद्दाइया तावइयप्पगाना।
न तञ्च अच्चे वि मणुब्बयं वा, निव्वत्तयंती अमणुब्बयं वा॥**

—उत्तरा. 32.106

शब्दादि जितने भी प्रकार के इन्द्रिय विषय हैं वे सभी उस विरक्त हुए व्यक्ति के मन में मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता का भाव उत्पन्न नहीं करते।

**एवं अन्नंकप्पविकप्पणाञ्चुं, अजायई, अमयमुवदिट्ठयञ्च।
अत्थे य अंकप्पयओ तओ अ, पक्खिए कामगुणेञ्चु तण्ण॥**

—उत्तरा. 32.107

अपने ही संकल्प एवं विकल्पों में इस प्रकार समता में उपस्थित व्यक्ति कामगुणों की तृष्णा से रहित हो जाता है।

मोह के कारण ही ज्ञान—दर्शन गुण पर आवरण आता है और अन्तराय की उत्पत्ति होती है। मोह के कारण जड़ता आती है, यह दर्शन गुण पर आवरण है, दर्शनावरण है। मोह के कारण विवेक का, निज ज्ञान का, अपरिवर्तनशील ज्ञान का प्रभाव नहीं होता, यह ज्ञान पर आवरण है, ज्ञानावरण है।

मोह के कारण राग पैदा होता है, राग से संसार के पदार्थों के भोग की इच्छा होती है। भोग की इच्छा से संसार के प्राप्त पदार्थों के प्रति ममता एवं उनके साथ तद्रूपता होती है। इससे प्राणी में संसार के पदार्थों को पाने की, उन पर अपना अधिकार रखने की इच्छा होती है। वह संग्रह करना चाहता है, देना नहीं। देने की भावना अर्थात् उदारता न होना और माँगने की इच्छा होना ही दानान्तराय है। संसार से पाने की, लाभ प्राप्त करने की इच्छा से कामना उत्पन्न होती है, जिससे अभाव का अनुभव होता है। अभाव का अनुभव होना ही लाभान्तराय है। मोह या ममता के कारण जड़ता आ जाने से स्व—संवेदन शक्ति पर आवरण आ जाता है। इससे निज रस के भोग से वंचित हो जाता है— यह भोगान्तराय है। मोह के

कारण पदार्थों के साथ आई तद्रूपता या अहंभाव से व्यक्तित्व का सूक्ष्म राग बना रहता है, उससे प्रीति का प्राकाट्य नहीं होता है। फलतः प्राणी प्रीति के नित-नव रस से वंचित हो जाता है। यह उपभोगान्तराय है। मोह के कारण प्रवृत्ति करने का राग पैदा होता है— प्रवृत्ति करने से शक्ति का क्षय होता है—अशक्तता आती है— अशक्तता, निर्बलता ही वीर्यान्तराय है। तात्पर्य यह है कि जहाँ मोह है वहाँ शेष तीनों घाती कर्म हैं। जितना मोह कम— ज्यादा हो उतना ही तीनों घाती कर्मों में न्यूनाधिकता होती है, क्षयोपशम में हानि—वृद्धि होती है। अतः मोह पर विजय आवश्यक है।



आयु कर्म

आयुकर्म का स्वरूप

जिस कर्म के उदय से जीव जीवित रहता है, एक भव में अवस्थित रहता है, चाहकर भी उससे निकल नहीं पाता, उसे आयु कर्म कहते हैं। यह नियम है कि प्राणी की प्रवृत्ति जब प्रगाढ़ हो जाती है तो वह प्रकृति (आदत) का रूप धारण कर लेती है। फिर वह जीवन बन जाती है अर्थात् उस प्रकृति के अनुरूप ही वह आगे का जीवन या भव धारण करता है। यह भव धारणा जिससे होती है, वह आयु कर्म है। भव की स्थिति ही आयु कर्म की स्थिति है। संक्षेप में एक भव में शरीर की जीवनी—शक्ति को आयु कर्म कहा जा सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि आयु कर्म का बंध सदैव नहीं होता है तथा आयु कर्म का बंध प्राणी की मध्यमान प्रकृति (औसत आदत) के अनुसार होता है। भावावेश आदि में आकर की गई प्रवृत्ति की तीव्रता या मन्दता में जो केवल कुछ काल टिकने वाली है, उसमें आयु कर्म का बंध नहीं होता है। आयुकर्म चार प्रकार का है— 1. नरकायु 2. तिर्यचायु 3. मनुष्यायु और 4. देवायु। इन चारों आयुओं के बंध के हेतुओं का ज्ञान जीवन के लिए अत्युपयोगी है। अतः यहाँ पर प्रत्येक आयु कर्म के बंध के हेतुओं पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

नरकायु

जीव को नरकभव में रखने वाली जीवनी—शक्ति नरकायु है। यह अशुभ आयु है। भगवती सूत्र में नरकायु बंध के हेतुओं का निरूपण करते हुए कहा गया है—

**गोयमा? मलानंभयाए, मलपनिगठयाए, कुणिमाठनेणं,
पचिन्द्रियवहेणं णेन्द्रियाउयकम्मा, जाव पओगबंधे।**

—भगवती सूत्र, शतक 8, उद्दे.9, सूत्र 103

अर्थात् हे गौतम! महारंभ, महापरिग्रह, मांसाहार एवं पंचेन्द्रिय जीवों के वध से नरक आयु का बंध होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय छह, सूत्र सोलहवें में कहा है—
 'बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः' अर्थात् बहु आरम्भ एवं बहु परिग्रह
 नारक के आयुष्य का कारण है। इसका तात्पर्य है कि आरम्भ एवं परिग्रह
 की अधिकता नरकायु बंध के विशेष कारण हैं।

विषय, वासना एवं कषाय-कामना से प्रेरित होकर की गई प्रवृत्ति,
 व्यवसाय या व्यापार को आरम्भ कहा जाता है। क्योंकि इससे कार्य या कर्म
 की शुरुआत होती है। विषय-सुख भोग हेतु इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए
 कामना उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होते ही इष्ट वस्तु प्राप्त नहीं हो
 जाती है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए मन, वचन, काया से व्यवसाय या
 कार्य आरम्भ करना पड़ता है। यह आरम्भ करना कामना-अपूर्ति का
 द्योतक है। जहाँ कामना की अपूर्ति है वहाँ दुःख है। कामना-पूर्ति अपने
 से भिन्न अर्थात् पर पदार्थ पर निर्भर करती है। अतः कामना-पूर्ति में प्राणी
 पराधीन है। पराधीनता दुःख ही है। इस प्रकार कामना की उत्पत्ति से
 लेकर कामना-पूर्ति तक प्राणी कामना-अपूर्ति के दुःख से दुःखी ही रहता
 है। साथ ही कामना-उत्पन्न होते ही उसका चित्त अशांत हो जाता है।
 अशान्ति भी दुःख ही है। इससे यह परिणाम निकलता है कि जहाँ कामना
 है वहाँ आरम्भ है तथा दुःख है। अतः जहाँ बहुत कामनाएँ हैं वहाँ बहु आरम्भ
 है। जहाँ बहु आरम्भ है वहीं बहुत दुःख है, जहाँ बहुत दुःख है वहाँ नरक
 है। बहु आरम्भ नरक का कारण है एवं दुःख रूप है।

विषय-सुख हेतु प्राप्त वस्तुओं का ममत्व व स्वामित्व भावपरिग्रह कहा
 जाता है। यह नियम है कि जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग
 अवश्यम्भावी है। जहाँ वियोग है वहाँ दुःख है। यह सब का अनुभव है कि
 एक वस्तु या व्यक्ति का वियोग ही असह्य दुःख देता है। बहु परिग्रही तो
 अनेक वस्तुओं का स्वामी होता है, अतः उसे बहुत वस्तुओं के वियोग
 स्वरूप बहुत तीव्र दुःखों को सहना पड़ता है। बहुत तीव्र दुःखों का होना
 ही नारकीय अवस्था है। परिग्रहधारी वस्तुओं के भोग में सुख मानता है।
 इस मान्यता के कारण विषय-सुख पाने के लिए उसके हृदय में बहुत
 कामनाओं की उत्पत्ति होती ही रहती है। बहुत कामनाएँ बहु आरम्भ को
 जन्म देने वाली हैं। बहु आरम्भ नारकीय यातना देने वाला है— यह तथ्य
 ऊपर प्रकट हो चुका है। परिग्रह पराधीनता का द्योतक है। बहु परिग्रही

बहुत पराधीन है। बहुत पराधीनता बहु दुःख है। अतः बहु परिग्रही को नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं अर्थात् उसके नरकायु का बंध होता है।

तिर्यचायु

भगवती सूत्र में तिर्यचायु बंध के कारणों का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

**गोयमा? माइल्लयाए नियडिल्लयाए अलियवयणेणं कूडतूलकूड-
माणेणं तिनिक्खवजोणियकम्मान्नीन जाव पयोगबंधे।**

—भगवती सूत्र शतक 8, उद्देशक 9 सूत्र 104

अर्थात् माया करने से, निकृति (परवंचनार्थ निकृष्ट आचरण करने से), मिथ्या बोलने से, खोटा तोल-माप करने से तिर्यचायु का बंध होता है।

माया तैर्ययोनय्य।-तत्त्वार्थ सूत्र, 6.17

अर्थात् तिर्यचायु का कारण माया है।

जो प्राणी उन्नत मस्तक के साथ गति नहीं कर सकता, वह तिर्यच है। उन्नत मस्तिष्क मुख्यतः तीन बातों का द्योतक है 1. गौरवशाली (गुण गरिमामय) जीवन होना 2. बुद्धिमान होना 3. विकसित चेतना वाला होना। ये तीनों बातें तिर्यचों में नहीं पायी जाती हैं।

तिर्यच में चेतना कम विकसित होती है। जिस प्राणी में चेतना का जितना कम विकास होता है, वह उतना ही स्थूल (मंद) बुद्धि होता है और स्थूल जगत् में विचरण करता है। अविकसित बुद्धि केवल देह और इन्द्रिय भोगों तक ही सीमित रहती है; शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श सम्बन्धी विषयों में लगे रहने तक ही उसका जगत् है। ऐसा प्राणी इन्हीं विषयों के भोगों में लगा रहता है तथा इन्हीं में सुख मानता है। उसे भोग के परिणामस्वरूप होने वाले दुःखों का बोध नहीं होता।

विषयरत प्राणी का हृदय भोग में लगे रहने के कारण कठोर हो जाता है। उसे दूसरे के दुःख का अनुभव नहीं होता। मोर, चीते, बाज, गिद्ध आदि पशु-पक्षियों में यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। जीवों को तड़पा कर मारने वाले की आँखों में क्रूरता स्पष्ट झलकती है। जीवों की तड़पड़ाहट से उसका हृदय जरा भी अनुकम्पित या करुणित नहीं होता। इसी प्रकार बूचड़खाने में पशुओं व होटलों में मुर्गों को मारते समय उनकी छटपटाहट

व दुःखपूर्ण चिल्लाहट से मारने वाले व मांस खाने वाले के दिल में कोई अनुकम्पा या करुणा नहीं देखी जाती है।

अभिप्राय यह है कि भोग के कारण हृदय की जैसी स्थिति पशु-पक्षी आदि तिर्यचों की होती है वैसी ही स्थिति अपनी ही सुख-सुविधा और इन्द्रिय-भोगों में लीन स्वार्थी मनुष्य की होती है। उसे दूसरों के दुःख का अनुभव नहीं होता है, जिससे उसके हृदय में सहानुभूति, नम्रता, मृदुता, उदारता, सरलता आदि मानवीय गुणों में कमी हो जाती है और क्रूरता, कठोरता स्वार्थपरता आदि पाशविक वृत्तियों की प्रधानता हो जाती है। आकृति से भले ही वह मनुष्य हो, पर वृत्ति, प्रवृत्ति, प्रकृति से उसका सब व्यवहार पशुओं जैसा हो जाता है।

भोग में गृद्ध रहने वाले व्यक्ति का विवेक, इन्द्रिय शक्ति, संवेदन शक्ति आदि क्षीण होने लगते हैं जिससे उसकी आन्तरिक स्थिति पशुओं से भी निम्न स्तर की हो जाती है अर्थात् वह भोगों में जितनी अधिक तीव्रता (गृद्धता) से संलग्न होता है उसकी स्थिति उतनी अधिक निम्न श्रेणी के प्राणी की बनती जाती है। कारण कि जिसकी जैसी मति या वृत्ति होती है, उसकी वैसी ही गति होती है। इसलिए स्वार्थपरता एवं भोगों में गृद्धता को अर्थात् माया को तत्त्वार्थ सूत्र में तिर्यच गति का कारण कहा है।

मनुष्यायु

भगवती सूत्र में मनुष्यायु बंध के कारणों का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

**गोयमा? पगइभइयाए, पगइविणीययाए, ञाणुक्कोनयाए,
अमच्छनिययाए मणुन्नाउय कम्मा जावपओगबंधे॥**

—भगवती सूत्र, शतक 8, उद्देशक 9, सूत्र 105
तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

अल्पावम्भपनिग्रहत्वं न्वभावमार्दवार्जवं च मानुषन्य।

—तत्त्वार्थसूत्र, 6.1

अर्थात् प्रकृति की भद्रता, विनीतता, मृदुता, ऋजुता, दयालुता, अमत्सरभाव और आरम्भ-परिग्रह की अल्पता से मनुष्य आयु का बंध होता है। जहाँ हृदय की मृदुता अर्थात् कोमलता है, सरलता-विनम्रता है तथा दूसरों के दुःख को देखकर हृदय पसीजता है वहाँ मानवता है। जिसमें मानवता है

वह मानव है। मृदु व सरल हृदय मानव वह है जो दूसरों के दुःख-सुख की अनुभूति अपने हृदय में करता है अर्थात् दूसरों के दुःख में दुःख की और सुख में प्रसन्नता की अनुभूति करता है। हृदय की ऐसी स्थिति को सहानुभूति कहा जाता है। सहानुभूति का ही दूसरा नाम मानवता है। मानवता या सहानुभूति में मृदुता व विनम्रता ओत-प्रोत है। मानवता के विकास में ही मानव का विकास है। अर्थात् जिसके हृदय में जितनी गहरी सहानुभूति है, वह उतना ही उच्चकोटि का मानव है।

मृदुता का विरोधी गुण कठोरता है। जहाँ कठोरता है वहाँ रस कहाँ? वहाँ नीरसता है। जहाँ नीरसता है वहाँ सुख नहीं, दुःख है, जीवन नहीं, मृत्यु है। इसके विपरीत जहाँ मृदुता है वहाँ सरसता है। जहाँ सरसता है, सहानुभूति है, वहाँ सुख है, जीवन है। परन्तु अपरिपक्व बुद्धि वाला व्यक्ति सहानुभूति युक्त हृदय की सरसता के सुख की अनुभूति से परिचित नहीं होता। उसकी दृष्टि इन्द्रिय-सुख तक सीमित होती है। वह इन्द्रिय सुख में गृद्ध होकर अपना विवेक खो देता है। फलतः इन्द्रिय सुख की सामग्री की प्राप्ति को ही जीवन मान लेता है। फिर उस सामग्री के संग्रह में जुट जाता है। सामग्री का संग्रह करने में दूसरों को जो हानि और दुःख होता है, उसका अनुभव संकीर्ण व स्वार्थपरक हृदय नहीं कर पाता। वह हृदयहीन हो जाता है।

हृदयहीनता निम्नस्तर के अविकसित पशु, पक्षी व स्थावर प्राणियों की द्योतक है। हृदयहीन को दया नहीं आती। जहाँ दया नहीं वहाँ मृदुता नहीं, जहाँ मृदुता नहीं, वहाँ मानवता नहीं, जहाँ मानवता नहीं वहाँ मानव देह पाने का कोई लाभ या अर्थ नहीं। ऐसे मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं। ऐसा व्यक्ति मानव देह धारण करके भी मृदुता, विनम्रता, सरलता-जनित सरसता व उच्च-स्तरीय सुख से वंचित रह जाता है। हृदयहीनता या अमानवता की उत्पत्ति का मुख्य कारण है स्वार्थपरता या लोभ प्रवृत्ति। स्वार्थी या लोभी व्यक्ति प्राप्त वस्तुओं की ममता व अप्राप्त वस्तुओं के संचय को ही जीवन का सर्वस्व समझता है। अपने लोभ के लिये दूसरों का अहित करने में संकोच नहीं करता और न किसी की कुछ सहायता ही करने को उद्यत होता है। वह बड़ा क्रूर, कृपण, निर्दय और अनुदार हृदय वाला होता है जो अमानवता है। इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि

अमानवता का मूल है प्राप्त वस्तुओं की ममता एवं अप्राप्त वस्तुओं की संचय प्रवृत्ति। प्राप्त वस्तुओं की ममता को परिग्रह और अप्राप्त वस्तुओं की संचय प्रवृत्ति को आरम्भ कहा जाता है। यह आरम्भ—परिग्रह अमानवता को जन्म देता है। इसीलिये तत्त्ववेत्ताओं ने आरम्भ—परिग्रह की अल्पता (कमी) को मृदुता या मानवता की प्राप्ति का कारण कहा है।

जैसे मृदु नवनीत आग की ताप से पिघलता है, द्रवित होता है वैसे मृदु हृदय दूसरों के दुःख के ताप से पिघलता है, द्रवित होता है, करुणित होता है। हृदय की मृदुता, कोमलता, सरलता तथा करुणाभाव ही मानवता है। जिसमें मानवता है उसमें सहानुभूति एवं सेवाभाव सहज ही प्रस्फुटित होते हैं।

सहानुभूति से दूसरों के दुःख दूर करने व प्रसन्नता देने के भाव की जागृति होती है। इससे आत्मीयभाव की वृद्धि होती है। आत्मीय भाव की वृद्धि आत्मा के विकास की वैसे ही द्योतक है जैसे चाँदनी की वृद्धि चाँद के विकास की द्योतक है। आत्मीय भाव का ही सक्रिय रूप सेवा है। दूसरों की सेवा के लिए अपना स्वार्थ छोड़ना पड़ता है। स्वार्थ भाव घटने से राग—द्वेष भाव निर्बल होते हैं, गलते हैं। राग—द्वेष भाव के गलने से मोह घटता है, जिससे यथार्थ बोध होता है। यथार्थ बोध से प्राणी को विकार से मुक्त होने की प्रेरणा जगती है जिससे मानव राग—द्वेष रहित हो वीतरागता व निर्विकारता को प्राप्त होता है। निर्विकारता से अमरता, स्वाधीनता (मुक्ति), संपन्नता (अभाव का अभाव) अक्षय प्रसन्नता, सर्वज्ञता, चिन्मयता आदि दिव्य गुणों की उपलब्धि होती है, जो मानव जीवन की मांग है। इन्हीं की प्राप्ति में मानव जीवन की सफलता है।

जहाँ सहानुभूति एवं सेवाभाव नहीं है, कठोरता व स्वार्थ भाव है, वहाँ मानवता नहीं, मानव जीवन नहीं, पाशविक जीवन या दानव—जीवन है। जिसका परिणाम है—अभाव—जड़ता, मूढ़ता, अज्ञानता, स्वार्थपरता, संघर्ष और दुःख है। ऐसा व्यक्ति देह भले ही मानव की धारण किए हो, परन्तु हृदय या वृत्तियों से तो वह पशु ही है।

जिस मनुष्य का सहानुभूति का क्षेत्र जितना संकीर्ण है, वह सुख, शान्ति और सत्य से उतना ही दूर है। जिस सीमा पर उसकी सहानुभूति समाप्त होती है, वहीं से अज्ञान की अंधेरी रात्रि, कामना जनित उद्वेग की

आंधी, तनाव का तूफान— ये सब प्रारम्भ हो जाते हैं। असीम सहानुभूति राग के विकार को खा जाती है जिससे सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। असीम सहानुभूति व करुणा में ही असीम (अनन्त) आनन्द मिलता है।

सहानुभूति का आनन्द कभी क्षीण नहीं होता है। सहानुभूति का आनन्द चित्त के विकार को दूर करता है, नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देता है अतः पवित्र आनन्द है। स्वार्थी मनुष्य अपने सुख का दूसरों के लिए त्याग नहीं कर सकता है। अतः वह उनके साथ पावन या सच्ची सहानुभूति नहीं रख सकता। वह दूसरों के गुण—दोष या सम्पन्नता को देखकर जलता है और उन्हें हानि या कष्ट पहुँचाता है। जो निःस्वार्थ होता है वह सच्ची सहानुभूति रखता है। जो सच्ची सहानुभूति रखता है वह सम्यक्द्रष्टा होता है। वह दूसरों को, जैसे वे हैं वैसा ही देखता है। वह देखता है कि सभी प्राणी राग—द्वेष की आग में जल रहे हैं; दुःखी हो रहे हैं, अभाव से पीड़ित हैं। सभी पाप से ग्रसित हैं। जो पाप से ग्रसित हैं वे दुःख से ग्रसित हैं। अतः सभी को सहानुभूति की आवश्यकता है। उसके हृदय में पापी को पाप का फल—दुःख पाते देख करुणा उमड़ पड़ती है। वह पाप को बुरा मानता है, पापी को नहीं। वह पापी पर सहानुभूति की वर्षा कर उसकी पाप—कालिमा धोने का व पाप के ताप को शान्त करने का प्रयत्न करता है। जो जितना अधिक पापी है, प्राकृतिक न्याय से वह उतना ही अधिक दुःखी है। उसे सहानुभूति की भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है। ज्ञानी पवित्रात्मा, महात्मा को सहानुभूति की आवश्यकता नहीं होती है। वे स्वयं सहानुभूति के भंडार होते हैं। उनसे तथा उन्हें असीम सहानुभूति बिना मांगे ही मिलती रहती है। कारण कि प्रकृति का यह नियम है कि जो वस्तु दी जाती है बदले में वहीं वस्तु कई गुनी होकर वापिस मिलती है। अतः जो दूसरों के साथ सहानुभूति का व्यवहार करता है उसके प्रति दूसरों के हृदय में सहानुभूति पैदा हो जाती है।

साधारणतः जिसे सहानुभूति कहते हैं, वह सहानुभूति नहीं है, वह एक प्रकार का शारीरिक स्नेह है, मोह है। जो हम से स्नेह करे उससे हम भी स्नेह करें, यह साधारण प्राणी की प्रकृति है। परन्तु जो हम से घृणा करे उससे भी हम स्नेह करें, यह पवित्र सहानुभूति है, यह विवेक की देन है। ऐसी सहानुभूति उसी में होती है जिसे यह विवेक है कि जो मेरे से घृणा

कर रहा है वह अपनी अज्ञानता से कर रहा है और बड़ा दुःखी हो रहा है। अज्ञानी और दुःखी व्यक्ति करुणा का ही पात्र होता है, घृणा का नहीं, जैसे बालक। ऐसा विचार कर वह अपने से घृणा करने वाले पर करुणा की ही वर्षा करता है और उसके हृदय को सरस, शान्त व सुखी बनाने का प्रयत्न करता है।

अपने से निम्न श्रेणी के प्राणी पशु-पक्षी, कीट-पतंगे, पेड़-पौधे आदि पर दया करना सहानुभूति के विकास का द्योतक है। मूक प्राणियों की रक्षा के लिये बड़ी गहरी सहानुभूति की आवश्यकता है। बल की शोभा निर्बलों की रक्षा करना है, निर्बलों को दुःख देना या नाश करना नहीं। जीवन सब का एकसा है। छोटे से छोटे प्राणी और महत् से महत् प्राणी में केवल बल और बुद्धि का अन्तर है, नहीं तो सब प्राणी समान ही हैं, एक हैं। अतः उनका दुःख दूर करना अपना ही दुःख दूर करना है। अपना दुःख दूर करने में अभिमान की क्या बात है?

मनुष्य का कर्तव्य है कि उसे न केवल मनुष्य पर ही, बल्कि समस्त प्राणियों का बड़ा भाई होने के नाते प्राणिमात्र पर प्रेम या दया भाव रखना चाहिए। उसे अपने विशाल हृदय में प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति व सद्भावना रखनी चाहिए। जो प्राणिमात्र पर दया भाव रखता है वह मनुष्य के रूप में देवता है। जो मनुष्य, मनुष्य मात्र पर दया करता है, वह मनुष्य है। जो मनुष्य होकर भी मनुष्य पर दया नहीं रखता, उसमें मनुष्यता नहीं है, वह मनुष्य के रूप में पशु से भी गया बीता है और जो मनुष्य मनुष्य पर द्वेष भाव रखता है, दुःख देता है, वह राक्षस है। उसे नारकीय प्राणी ही समझना चाहिए।

मानव जीवन का भावात्मक रूप मृदुता, दयालुता, विनम्रता, करुणाभाव है। जब हम दूसरों के दुःख में दुःखी होते हैं और उनके दुःख को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं तब चित्त से कामनाएँ-वासनाएँ तिरोहित हो जाती हैं, समभाव आ जाता है। दुःखी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति जागृत होती है जिससे चित्त में निर्मलता आती है। मन भोगों से हटता है। भोगों से मन हटने से भोगेच्छा घटती जाती है, भोगेच्छा घटने से आरम्भ-परिग्रह घटता जाता है, संयम में वृद्धि होती जाती है। जिसकी पूर्णता होती है निष्काम वीतराग भाव में, जिसके फलस्वरूप जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। करना शेष न रहने से तथा निष्काम व वीतराग होने से उसे शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, फिर कभी जन्म नहीं लेना पड़ता और वह रोग-शोक, अभाव-तनाव आदि समस्त दुःखों से वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है, जो चेतन का सर्वोच्च-सर्वोत्कृष्ट एवं चरम लक्ष्य है।

देवायु

भगवती सूत्र में देवायु बंध के कारणों का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

**गोयमा? अनागमंजमेणं, अंजमाअंजमेणं बालतवोकम्मजाणं,
अकामणिज्जवाए, देवाउय कम्माअनीन जाव पओगबंधे।।**

—भगवती सूत्र शतक 8, उद्दे. 9, सूत्र 106

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

अनाग-अंयम-अंयमाअंयमाकामनिर्जनाबालतपाग्नि देवअय।

—तत्त्वार्थ सूत्र अ.6, सूत्र 19

सराग संयम, देश संयम, अकाम निर्जरा और बालतप ये देव जीवन के कारण हैं, अर्थात् देवत्व की प्राप्ति के लिए संयम, तप व सहिष्णुता (समता) आवश्यक है। देव वह है जो दिव्य ऋद्धिधारी हो। ऋद्धि उसे कहा जाता है जिससे सुख मिले। दिव्य ऋद्धि वह है जो साधारण ऋद्धि से विशेष प्रकार की हो। जिससे इन्द्रिय भोगों का क्षणिक सुख मिलता है, ऐसी भूमि, भवन, धन-वैभव आदि साधारण ऋद्धि है और जिससे शान्तिजनित सुख मिलता है वह दिव्य ऋद्धि है। शान्ति मिलती है कामनाओं के त्याग से, इन्द्रियों के नियन्त्रण से, संयम से, सहिष्णुता (समता) से। इसलिए त्याग, संयम और तप (सहिष्णुता) को देवत्व प्राप्ति का कारण कहा है।

कष्टों को स्वेच्छा से समभावपूर्वक सहन करना अकाम निर्जरा और बालतप है। जो व्यक्ति आए हुए कष्टों में समभाव रखता है उसे प्रतिकूल परिस्थितियाँ अशान्त, क्षुब्ध व दुःखी नहीं कर सकती तथा संयम से इन्द्रिय पर नियन्त्रण रखने से उसके चित्त में कामना उत्पन्न नहीं होती। कामना उत्पन्न नहीं होने से चित्त अशान्त या दुःखी नहीं होता है, इस प्रकार संयमी व कष्टसहिष्णु व्यक्ति के चित्त में सदैव शान्ति बनी रहती है। चित्त की शान्ति से मिलने वाला 'आध्यात्मिक सुख', भोगों से मिलने वाले 'विषय

सुख' से विशेष प्रकार का होता है। कारण कि भोगों से मिलने वाला 'विषय-सुख' प्रथम तो क्षणिक होता है। दूसरा, इस सुख का अन्त नीरसता में होता है। तीसरा यह सुख वस्तुओं के अधीन होने से पराधीन बनाता है। चौथा, इस सुख के भोग के समय इन्द्रियों में उत्तेजना होती है जो चित्त को आकुल बनाती है एवं तनाव पैदा करती है। पाँचवाँ इस सुख से कभी तृप्ति नहीं होती है। छठा, इस सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। सातवाँ, इससे शक्ति क्षीण होती है आदि। विषय सुख में अनेक कमियाँ हैं, परन्तु समता भाव व संयम से प्राप्त सुख में ये कमियाँ तो होती ही नहीं, साथ ही अनेक प्रकार की विशेषताएँ भी होती हैं यथा 1. यह सुख स्थायी होता है। 2. इससे चित्त में सदा सरसता बनी रहती है। 3. यह सुख वस्तुओं व परिस्थितियों के आधीन नहीं होने से स्वाधीन है। 4. यह तनाव रहित होने से निराकुल होता है। 5. सदा तृप्ति देने वाला होता है। 6. इस सुख के परिणाम से दुःख नहीं मिलता है। 7. इससे शक्ति का संचय होता है। अतः यह दिव्य सुख है। जो इस दिव्य सुख का अनुभव करता है, वही देव है। इस प्रकार भोगग्रस्त प्राणी को मिलने वाला इन्द्रिय सुख, संयम, समता, तप व सहिष्णुता से मिलने वाले सुख के समक्ष कुछ भी नहीं है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संयम या इन्द्रिय-नियन्त्रण ज्ञानपूर्वक किया जाय या अज्ञानपूर्वक (बालतप) किया जाय, उसका फल देवत्व रूप में मिलता है। कारण कि कामना का त्याग कोई ज्ञानपूर्वक करे अथवा अनजाने करे, शान्ति मिलती ही है। जो जितना त्याग करता है, संयम पालन करता है, वह उतना ही अभाव के दुःख से छुटकारा पाता है, उसका चित्त समता व शान्ति जनित प्रसन्नता से भर जाता है। ऐसी प्रसन्नता कामी, असंयमी, भोगी जीव को कभी नहीं मिल सकती।

देना ही जिसका जीवन है वह देव है, जो देता है वह देवता है। उसके प्रति जन-मानस के मुँह से अनायास ही ये शब्द निकलने लगते हैं कि वह मनुष्य, मनुष्य नहीं देवता है। हृदय की कोमलता या देने का भाव देवता का सामान्य लक्षण है। देवता या दिव्यता का विशेष लक्षण है—इन्द्रिय संयम, इन्द्रिय नियमन। जो जितना अधिक इन्द्रिय नियमन करता है वह उतना ही ऊँचे स्तर का देव होता है। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले-दूसरे स्वर्ग के देव, देवियों के शरीर से काम-सुख का भोग

करते हैं। तीसरे—चौथे स्वर्ग के देव, देवियों के शरीर से काम—सुख का भोग नहीं करते हैं। पांचवे—छठे स्वर्ग के देव उनके शरीर के स्पर्श सुख का भोग नहीं करते हैं। सातवें—आठवें स्वर्ग के देव उनके शब्द सुख का भी नियमन कर लेते हैं। इनके ऊपर के स्तर के देव उनके चिन्तन से भी दूर रहते हैं। इस प्रकार जो जितने अधिक उच्चस्तरीय देव हैं, वे उतने ही अधिक इन्द्रिय—निग्रह करने वाले होते हैं। वहाँ उनके काम—भोग के साधन भी अल्प से अल्पतर होते जाते हैं। यहाँ तक कि अनुत्तर विमानवासी देव न केवल इन्द्रियों के सुख—भोग का ही निग्रह करते हैं, अपितु वे विषयों के चिन्तन के सुख का भी निग्रह कर लेते हैं। ये देव विषय सुख की दासता रहित होने से अहमिन्द्र कहे जाते हैं।

अहमिन्द्र अपने चित्त के भी दास नहीं होते हैं। अतः इनमें विषय—कषाय की प्रवृत्ति अत्यल्प, नगण्य होती है। इन देवों में दूसरे देवों पर आक्रोश करने रूप क्रोध की प्रवृत्ति एवं अपने को छोटा—बड़ा समझने रूप मान की प्रवृत्ति, कथनी—करनी के भेद रूप माया की प्रवृत्ति एवं वस्तुओं के संग्रह करने रूप लोभ की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है। ये विषय—सुख का चिन्तन तक नहीं करते हैं। ये सदैव शुक्ल या शुभ्रभाव—शुभभाव में रहते हैं। 'जैसी गति वैसी मति' सिद्धान्तानुसार इन स्वर्गों में वे ही जाते हैं जो पूर्ण संयमी होते हैं। जो अपने सर्व स्वार्थ पर सर्वथा विजय पा लेते हैं; वे सर्वार्थ सिद्ध विजय के देव होते हैं। यह स्मरणीय है कि जैनागम में नीचे—नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर—ऊपर के देवों में भोग व भोग सामग्री कम तथा उनमें सुख अधिकाधिक कहा गया है।

आशय यह है कि जो जितना अधिक संयमी है, वह उतना ही उच्चस्तरीय देव है, उतना ही अधिक वैभवशाली है। इस दृष्टि से विचारें तो पूर्ण संयमी वीतराग देव सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि देव हैं, महादेव हैं। पूर्ण संयमी होने से उनके पास विषयों के भोगोपभोग की किंचित् भी सामग्री नहीं है, फिर भी जैनागम में उनमें अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग बताया है अर्थात् अनन्त वैभवशाली व सौभाग्यशाली कहा है, जो समीचीन ही है। कारण कि उनके अभाव का अभाव है, अंतः वैभवशाली हैं। शान्ति, मुक्ति, स्वाधीनता, समता के अक्षय रस का वे सतत भोग करते रहते हैं, अतः अनन्त भोगोपभोगवान् हैं।

वस्तुतः दीन वह है जो अभावग्रस्त है। अभाव का सम्बन्ध भोगेच्छा से है, वस्तु से नहीं। जैसे जैन श्रावक के घर में शराब नहीं होने पर भी उसके शराब का अभाव हो सो बात नहीं है। कारण कि उसे शराब की आवश्यकता ही नहीं है। फलितार्थ यह है कि जहाँ भोगेच्छा है, वहाँ अभाव है, दुःख है, पराधीनता है, विवशता है, दासता है, दीनता है। जो दीन है वह सम्पन्न नहीं, जो दास है वह ईश नहीं। इसके विपरीत जो संयमी है वह सम्पन्न है, ईश है, ऐश्वर्यवान है, दिव्य है, देव है। तात्पर्य यह है कि संयमी व्यक्ति ही दिव्यसुख, देवत्व, देवभव पाने का पात्र होता है, असंयमी नहीं।

सारांश यह है कि जो संयम पालन करते हैं अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की कामना नहीं करते हैं और प्राप्त वस्तुओं को अपनी आवश्यकता से अधिक पाते हैं वे वैभवशाली हैं, वे देव हैं। इसी अर्थ में वीतराग देव वस्त्र, पात्र आदि वस्तुओं के बिल्कुल नहीं होने पर भी, बिल्कुल भोग—उपभोग नहीं करने पर भी अनन्त वैभवशाली एवं भाग्यशाली कहे गये हैं। उनके लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय कर्म का आत्यन्तिक विनाश होने से अनन्त लाभ, अनन्त भोग व अनन्त उपभोग कहा गया है।

संयमी व्यक्ति वस्तुओं की प्राप्ति के लिये हाय—हाय नहीं करता है। वस्तुओं के न होने पर भी उसे दुःख नहीं होता है। वह वस्तु के अधीन या दास नहीं है, वह स्वामी है। वस्तुएँ उसके पीछे दौड़ती हैं। वह वस्तुओं के पीछे नहीं दौड़ता है।

संयमी व्यक्ति की इच्छा अल्प होती है और क्रियात्मक शक्ति भरपूर होती है। वह वस्तुओं का उपार्जन एवं निर्माण तो करता है, परन्तु उसे अपने उपभोग या उपयोग के लिये तो कम इच्छाओं के कारण बहुत कम ही वस्तुएँ चाहिये। अतः उसके पास सदैव आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ रहती हैं। इसलिये वह सच्चे अर्थों में संपत्तिवान होता है। वस्तुओं का स्वामी या ईश होने से वह ऐश्वर्यवान होता है। इसी प्रकार उसे अणिमा—गरिमा आदि अन्य ऋद्धियाँ भी उपलब्ध होती हैं।

गति और आयु

नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चारों गतियाँ भी हैं और आयु भी हैं। परन्तु गति और आयु में बहुत अन्तर है। कारण की गति का सम्बन्ध जीव

के भावों से है और आयु का सम्बन्ध जीवन—शक्ति (Living Power) से है। जीव के भावों में उतार—चढ़ाव आने के साथ गति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। भावों के परिवर्तन के साथ गति बंध में परिवर्तन होना सहज है। उदाहरणार्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को लें, वे ध्यान में खड़े थे। उधर से कुछ पदयात्री निकल रहे थे। उनके मुख से निकले शब्द मुनि के कान में पड़े कि यह राजा भी कैसा है जो अपने असमर्थ राजकुमार पर राज्य का भार छोड़कर साधु हो गया। इसके साधु होते ही अन्य राजा ने इसके राज्य पर चढ़ाई कर दी और युद्ध प्रारम्भ हो गया। अब बेचारे राजकुमार का युद्ध में क्या होगा, यह कहना कठिन है। यह वचन सुनते ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को आक्रोश आया और उसके मन में आक्रान्ता राजा को पराजित करने के लिए भयंकर युद्ध के विचार उठे। उसके मन में क्रोध, रोष, द्वेष, संघर्ष की आग भभक उठी, जिससे उसके सातवें नरक की गति का बंध होने लगा। परन्तु युद्ध करने के लिए जैसे ही उसका हाथ ऊपर उठा और सिर पर गया तो उसको विचार आया कि मैं साधु हो गया हूँ, जिससे उसका विवेक जगा और वैराग्य बढ़ने लगा। वैसे ही उसकी गति का बंध प्रतिक्षण बदलता गया, नरक गति का बंध घटता गया, फिर वह बदलकर देव गति का बंध होने लगा और कुछ ही मिनटों में वह बंध भी रुककर केवलज्ञान हो गया। इस प्रकार उस राजा के गति का बंध तो हुआ, परन्तु आयु का बंध नहीं हुआ। गति का बंध भी संक्रमित हो गया। यदि किसी आयु का बंध हो जाता तो उसे केवलज्ञान नहीं होता और उसे अगला जन्म लेना ही पड़ता।

यह नियम है कि किसी प्राणी की कोई प्रकृति (आदत) इतनी प्रगाढ़ व दृढ़ हो जाती है कि वह जीवन ही बन जाती है और आयु का रूप धारण कर लेती है। वही आयु बंध का कारण बनती है, परन्तु जब तक जो विचार वृत्ति— प्रवृत्ति किसी आवेश या परिवेश के कारण उत्पन्न होती है वह अल्पकालिक, अस्थिर व अस्थायी होती है तब तक उसी के अनुरूप गतिबंध होता रहता है। जैसे—जैसे परिणामों में परिवर्तन होता जाता है वैसे—वैसे गतिबंध में परिवर्तन होता जाता है। जो प्रवृत्ति दृढ़ प्रकृति का रूप धारण कर लेती है वही आयुबंध का रूप लेती है।

पहले कह आये हैं कि आयु का सम्बन्ध जीवनी—शक्ति से है। जीवनी—शक्ति को ही जैन दर्शन में आयुबलप्राण कहा है। जीवनी शक्ति

संयमित व नियमित आहार—विहार पर निर्भर करती है। विषय भोग से प्राण शक्ति का ह्रास होता है और भोग न करने से, विश्रान्ति से, शान्त रहने से प्राण शक्ति में अर्थात् जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है जिससे आयु के स्थितिबंध में वृद्धि होती है। अतः तिर्यच, मनुष्य और देव इन तीन शुभआयुओं का स्थितिबंध शुभ भाव से होता है अतः शुभ है, किन्तु शेष समस्त कर्म प्रकृतियों का स्थिति बंध उनके साथ रही हुई फलासक्ति व कषाय से होता है। अतः अशुभ है।

आयु का सम्बन्ध शरीर की सक्रियता से है। शरीर तभी तक सक्रिय रहता है, जब तक उसमें जीवनी—शक्ति है। वह जीवनी—शक्ति ही आयुबल प्राण है। शरीर की यह जीवनी शक्ति आहार पर निर्भर करती है। आहार के अभाव में शरीर अधिक काल तक टिक नहीं सकता है। इसीलिए आहार को आयुर्कर्म का नोकर्म (निमित्त) कहा है। यथा—

णिन्यायुन्नम अणिद्वालो न्नेन्नाणमिद्वमण्णादी।।

— गोमटसार कर्मकाण्ड 78

अर्थात् अनिष्ट आहार नरकायु का नोकर्म है और शेषायु (तिर्यच—मनुष्य—देव आयुओं) का मधुर अन्न आदि नोकर्म है।

आहार से अभिप्राय यहाँ रसनेन्द्रिय का आहार भोजन तो है ही, साथ ही चक्षु, श्रोत्र आदि शेष इन्द्रियों के विषयों को भी लिया जा सकता है। इन विषयों का उपयोग भोगवृत्ति एवं दुष्प्रवृत्ति में करना अशुभ आहार है। जो आसुरी प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाला एवं नारकीय जीवन उत्पन्न करने वाला है। इसके विपरीत इनके प्रति विरति भाव, उदासीनता, समतारूप शुभ—मधुर आहार है जो मानवीय व दिव्य वृत्तियों को उत्पन्न करने वाला है एवं जीवनी—शक्ति बढ़ाने वाला है। आयुर्वेद शास्त्र मुख्यतः आयु से ही सम्बन्ध रखता है उसमें अनिष्ट आहार—औषध—भेषज को रोगवर्द्धक व आयु क्षय का कारण कहा है और इष्ट—शुभ आहारादि को आयुवर्द्धक कहा है।

अशुभ आहार इन्द्रियों व मन की भोग प्रवृत्ति अविरति, दुष्प्रवृत्ति एवं दुर्व्यसन का सूचक है जो जीवनी—शक्ति का ह्रास करता है तथा विरति, इन्द्रिय—संयम शुभ आहार है जिससे जीवनी शक्ति बढ़ती है। अतः संयम से तिर्यच, मनुष्य और देव इनकी आयु की स्थिति में वृद्धि होती है।

विषभक्षण से मृत्यु प्रत्यक्ष देखी जाती है। अतिभोग से मधुमेह, तपेदिक (क्षय) रोग तथा चिंता से अल्सर, रक्तचाप आदि रोग होते हैं, जो आयु क्षीण करने के नोकर्म बनते हैं।

कर्मसिद्धान्तानुसार नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चार आयु हैं और ये चार ही गतियाँ हैं। इनमें से नरक गति और नरक आयु ये दोनों अशुभ प्रकृतियाँ हैं। इन दोनों कर्म— प्रकृतियों का प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध, प्रदेश बंध ये चारों बंध अशुभ योग व कषाय से होते हैं। इनके बंध के कारणों में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु तिर्यच गति एवं तिर्यच आयु में बहुत अन्तर है। तिर्यच गति अशुभ है, क्योंकि वह भोग प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है अतः इसके स्थिति, अनुभाग व प्रदेश बंध अशुभ हैं। इनकी वृद्धि योग की अशुभता व कषाय की वृद्धि की सूचक है। परन्तु तिर्यच की आयु का सर्जन विषय भोग से नहीं होकर विषय भोगों में तथा कषाय में कमी होने से होता है। अतः तिर्यच आयु प्रकृति शुभ है और इस आयु का स्थिति बंध, अनुभाग बंध एवं प्रदेश बंध भी शुभ है। तिर्यच गति अशुभत्व की और तिर्यच आयु शुभत्व की सूचक है। परन्तु मनुष्य गति और देवगति में और इनकी आयु के स्थितिबंध में अन्तर है। इन गतियों का स्थिति बंध तो कर्तृत्व— भोक्तृत्व एवं अहंत्व स्वरूप भावकषाय से होता है। अतः जितना कषाय अधिक होता है, उतना ही स्थिति बंध अधिक होता है लेकिन आयु का स्थिति बंध, सरलता, मृदुता आदि सद्गुणों, सद्प्रवृत्तियों एवं संयम से होता है, अर्थात् कषाय की कमी से होता है। इन गुणों से जीवनी—शक्ति का हास रुकता है, उसमें वृद्धि होती है।

आयु कर्म का स्थितिबंध विशुद्धि भाव से

कर्मों की कुल 148 प्रकृतियों में तिर्यच, मनुष्य और देव इन तीन शुभ आयुओं को छोड़ कर शेष 145 कर्मप्रकृतियों के स्थिति बंध का कारण कषाय है। इनमें कषाय की वृद्धि से स्थिति बंध में वृद्धि होती है और कषाय में कमी से स्थिति बंध कम हो जाता है। प्राणी का जीवन आयु पर निर्भर करता है। अतः आयु जीवनी—शक्ति पर निर्भर करती है। जीवनी—शक्ति प्राणों पर निर्भर करती है। प्राणान्त होना, निष्प्राण होना ही मृत्यु है, आयु का क्षय होना है। प्राणशक्ति संयम पर निर्भर करती है। जितना संयम का पालन किया जाता है उतनी ही प्राणशक्ति कम क्षीण होती है, अपितु बढ़ती

है। इसके विपरीत असंयम से, भोग-विलास से तथा वेदना, प्राणाघात से आयु क्षीण होती है। इन सबमें प्राण मुख्य है। अभिप्राय यह है कि संयम, सदाचार, सेवा, सद्प्रवृत्ति आदि विशुद्ध भावों से शक्ति में वृद्धि होती है जिससे भावी शुभ आयु की स्थिति बंध में वृद्धि होती है तथा कषाय व संक्लेश भाव से शुभ आयु के स्थिति बंध में कमी होती है। अन्य सात कर्मों की समस्त पुण्य और पाप कर्म प्रकृतियाँ फल की आकांक्षा व राग-द्वेष, विषय-कषाय से विशेष समय तक फल देने वाली होती है, टिकने वाली होती है। अतः उनका स्थिति बंध अधिक होता है। परन्तु कषाय की वृद्धि प्राण-शक्ति का ह्रास करने वाली होती है, अतः आयु कर्म की स्थिति के लिए बाधक व घातक होती है।



नाम कर्म

नाम कर्म का स्वरूप

अंगोपांग-अनीविदिय-मणुअन्नाअ जोगणिव्वत्ती।

जअओदएण अिद्धो तण्णामअवएण अअनीवो॥

—प्राचीन गाथा, धवल टीका, पुस्तक 07, पृष्ठ 15

जिस नाम कर्म के उदय से अंगोपांग, शरीर, इन्द्रिय, मन, उच्छ्वास और योग की निष्पत्ति होती है उसी नाम कर्म के क्षय से सिद्ध अशरीरी होते हैं। प्रस्तुत गाथा में नाम कर्म के उदय से शरीर इन्द्रिय आदि का परिणाम उपलब्धि होना कहा है और नाम कर्म के क्षय से शरीर रहित होना कहा है। नाम कर्म से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होना नहीं कहा है।

नाम कर्म मन और शरीर से संबंधित नाना रूपों का सूचक है। इसीलिए नाम कर्म को चितेरे की एवं नाम कर्म के भेदों को नाना प्रकार के चित्रों की उपमा दी गई है। यथा—

नामकम्मं चित्तिसमं।—कर्मग्रन्थ भाग—1, गाथा 22

अर्थात् जिस प्रकार आकृति की बनावट एवं रंगों की सजावट से चित्र नाना रूप धारण कर लेते हैं, इसी प्रकार शरीर की आकृति आदि की बनावट और जीव के मन के परिणामों से शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों से नाम कर्म अनेक रूपों में प्रकट होता है।

नाम कर्म का सम्बन्ध शरीर से है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन, क्रिया आचरण व व्यवहार से है। शरीर में इन्द्रियों का होना, शरीर की संरचना, आकृति, सबलता—निर्बलता (संहनन) शरीर के पुद्गलों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, वचन का कांत, मधुर, प्रिय होना आदि सब नाम कर्म से सम्बद्ध हैं।

नाम कर्म की 36 पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का सम्बन्ध शरीर संरचना विज्ञान से है, यथा 5 शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर), 3 अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय, आहारक), 6 संहनन

(वज्रऋषभ नाराच, ऋषभ नाराच, नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलक और सेवार्त), 6 संस्थान (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्जक और हुंडक), वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आतप, उद्योत, उपघात, पराघात, अगुरु—लघु, निर्माण, शुभ—अशुभ, स्थिर—अस्थिर, प्रत्येक, साधारण ये 36 पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ शरीर से संबंधित हैं।

चित्रकार द्वारा कोई चित्र बना देने के पश्चात् उसके भाव बदल जाते हैं। पहले का भाव नष्ट हो जाता है, नया भाव आ जाता है, परन्तु चित्र नष्ट नहीं होता है कुछ काल तक रहता है। इसी प्रकार घातिकर्म बदल जाते हैं, परन्तु उनके निमित्त से उत्पन्न हुए अघाती कर्म तत्काल नष्ट नहीं होते हैं, बने रहते हैं। उन पर प्राणी का वश नहीं चलता है, उनका प्रकृति के विधान से सर्जन होता है। ये प्रकृति की देन हैं। प्रकृति के विधान में किसी का अहित नहीं है। अतः ये कर्म अघाती हैं।

घाती कर्म यानी दूषित कर्म प्राणी की स्वयं की उपज या देन हैं। घाती कर्म करने या न करने में एवं उनका क्षय करने में प्राणी स्वाधीन है, परन्तु अघाती कर्मों का क्षय करने में स्वाधीन नहीं है। जैसे भोजन करने, न करने में, अच्छा, बुरा भोजन करने में प्राणी स्वाधीन है, परन्तु भोजन के पश्चात् उसका पाचन होना, उसका शरीर पर प्रभाव प्रकट होना— यह प्रकृति का कार्य है, इसमें प्राणी स्वाधीन नहीं है। विष खाना न खाना अपने वश की बात है, परन्तु उसके प्रभाव रूप मूर्च्छा—बेहोशी न आने देना यह वश की बात नहीं है। शरीर का विकास होना, आयु समाप्त होना, निकृष्ट मानसिक स्थिति का होना, वश की बात नहीं है, ये स्वतः होते हैं। इसी प्रकार सात्त्विक भोजन, शरीर का पुष्ट होना, साता एवं असाता का वेदन होना, जीवनी— शक्ति का सुरक्षित रहना, शरीर—मन का प्रसन्न होना स्वतः होता है।

नाम कर्म का विस्रसाभाव (पारिणामिक भाव)

नाम कर्म दो प्रकार का है— 1. शुभ नाम कर्म और 2. अशुभ नाम कर्म। इनके अनुभाग उदय अर्थात् फल का प्रतिपादन इस प्रकार है—

गोयमा? सुभणामस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोगगल— पणिणामं पप्प चोद्धस्सविटेअणुभावे पण्णत्ते तंतत्त— इट्ठस्सहा, इट्ठस्सवा इट्ठस्स गंधा, इट्ठस्स न्ना, इट्ठस्स फास्सा, इट्ठस्स गई, इट्ठस्स

ठिई, इट्ठे लावण्णे, इट्ठा जन्मोकित्ती, इट्ठे उट्ठाण-कम्मबल-वीनिय-पुनिअक्काअपअक्कमे इट्ठअअया, कंतअअया, पियअअया मणुणअअया जंवेइ.. पौगल-पणिआमं. अणिट्ठा अट्ठा जाव अकन्तअअया।।-पन्नवणा पद 23, उद्देशक 1

हे गौतम! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल परिणाम को प्राप्त करके शुभ नाम कर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव कहा गया है— 1. इष्ट शब्द 2. इष्ट रूप 3. इष्ट गंध 4. इष्ट रस 5. इष्ट स्पर्श 6. इष्ट गति 7. इष्ट स्थिति 8. इष्ट लावण्य 9. इष्ट यशकीर्ति 10. इष्ट उत्थान कर्म, बल वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम 11. इष्ट स्वर 12. कान्त स्वर 13. प्रिय स्वर 14. मनोज्ञ स्वर। यह शुभ नाम कर्म है और इसके विपरीत अनिष्ट शब्द, यावत् अकान्त स्वर ये अशुभ नामकर्म के 14 अनुभाव हैं। नाम कर्म में इष्ट (अभिलषित) शब्दादि अपने स्वयं के ही समझना चाहिए।

इस प्रकार नाम कर्म मन, वचन, शरीर व इन्द्रिय की सक्रियता से संबंधित है। यहाँ पर इष्ट का अर्थ अपने शरीर, इन्द्रिय, वचन और मन के लिए उचित व हितकर है और अनिष्ट का अर्थ शरीर, वचन, मन व इन्द्रिय के लिये अनुचित व अहितकर है। नाम कर्म के उदय का सम्बन्ध अपने शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से भिन्न अन्य बाहरी पदार्थों व क्रिया से नहीं है, जैसा कि कहा है—

अंगोवंगअनीविन्दिय-मणुअअजोअणिप्पती।

जअओदण अिद्धो तण्णाम अवणं अअनीनी।।

—धवला पुस्तक 7, गाथा 9, पृ. 15

जिस नाम कर्म के उदय से अंगोपांग, शरीर, इन्द्रिय, मन और उच्छ्वास के योग्य निष्पत्ति होती है, उसी नाम कर्म के क्षय से सिद्ध अशरीरी होते हैं।

आशय यह है कि नाम कर्म का सम्बन्ध शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन तथा इनकी सक्रियता से है। इनमें स्थित आत्मप्रदेशों की विद्यमानता से है। आत्म-प्रदेश निकलते ही मृत शरीर, इन्द्रिय आदि में नाम कर्म या अन्य किसी भी कर्म का उदय संभव नहीं है— तब शरीर से बाहर के पदार्थों में कर्मोदय कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

वण्णवज्झाणि य ओ कम्माइ बद्धाइ पुट्ठाइ निठ्ठाइ कडाइ पट्ठवियाइ अभिनिविट्ठाइ अभिअमन्नागायाइ उदिण्णाइ नो उवअताइ

भवति; तओ भवइ दुक्खे दुवण्णे दुग्गंधे दूक्खे दुप्फाक्खे अणिट्ठे अकंते
अप्पिए अन्नुभे अमणुण्णे अमणामे छीणक्खवे दीणक्खवे अणिट्ठक्खवे
अकंतक्खवे अप्पियक्खवे अन्नुभक्खवे अणुण्णक्खवे अमणामक्खवे
अणादेज्जवयणे पच्चायाए यावि भवइ। वण्णवज्झाणि य भे कम्माइ नो
बद्धाइ जाव उवन्नंताइ भवइ तओ भवइ न्नुक्खे। जाव आदेज्जवयणे
पच्चायाए यावि भवइ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 1 उ.7 सूत्र 22

कर्मानुभाव से जीव के कुरूपत्व, सुरुपत्व आदि की उत्पत्ति होती है।
गर्भ से निकलने के पश्चात् उस जीव के कर्म यदि अशुभ रूप में बंधे हों,
स्पृष्ट हों, निधत्त हों, कृत हों, प्रस्थापित हों, अभिनिविष्ट हों, अभिसमन्वागत
हों, उदीर्ण हों और उपशान्त न हों तो— वह जीव कुरूप, कुवर्ण, दुर्गन्ध
वाला, कुरसवाला, कुस्पर्शवाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ,
अमनाम, हीनस्वर, दीनस्वर, अशुभ स्वर, अमनोज्ञ स्वर, अमनाम स्वर और
अनादेय वचन वाला उत्पन्न होता है। यदि उस जीव के कर्म शुभ रूप में
बंधे हों यावत् उपशान्त हों तो वह जीव सुरुप यावत् आदेय वचन वाला
उत्पन्न होता है।

नामकर्म के बंध हेतु

गोयमा? कायउज्जुयाए भावुज्जयाए भावुज्जयाए
विन्नंवायणजोगेणं न्नुभनामकम्मान्नीनं जाव पओगबंधे। —भगवती
सूत्र 8.9.107

गोयमा? कायअणुज्जुयाए भावअणुज्जुयाए भावअणुज्जुयाए
विन्नंवायणजोगेणं अन्नुयनामकम्मा जाव पओगबंधे। —भगवती सूत्र 8.
9.108

काया की सरलता, भावों की सरलता, भाषा (वाणी) की सरलता तथा
अविसंवादन योग से शुभनामकर्म का बंध होता है।

काया की वक्रता, भावों की वक्रता, भाषा (वाणी) की वक्रता और
विसंवादयोग से अशुभ नामकर्म का बंध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में संक्षेप में कहा गया है—

योगवक्रता विन्नंवादनं चाशुभन्य नाम्नः।

विपनीतं शुभन्य॥ —तत्त्वार्थ सूत्र, 6.21—22

योगों की वक्रता एवं विसंवाद अशुभ नाम कर्म के और इसके विपरीत योगों की सरलता एवं सद्प्रवृत्ति शुभ नाम कर्म के बंध के हेतु हैं।

योगों की वक्रता का सम्बन्ध माया कषाय है तथा योगों की सरलता का सम्बन्ध माया कषाय में कमी से है। माया को जीतने से ऋजुभाव प्राप्त होता है। यह ऋजुभाव ही सरलता है। ऋजुता से ही जीव काया, भाव, वाणी की सरलता एवं अविस्वादिता को प्राप्त करता है तथा इनकी अऋजुता अर्थात् वक्रता (कुटिल—व्यवहार) से काया, भाव, वाणी की वक्रता एवं विसंवाद को प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि माया कषाय अशुभनामकर्म के बंध में विशेष हेतु है। इसके विपरीत इसमें कमी से शुभनामकर्म का बंध होता है।

मन एवं वचन की प्रवृत्ति के लिए शरीर धारण करना होता है। अतः नाम कर्म में मन, वचन, तन तथा इनकी प्रवृत्ति गर्भित है। मन, वचन, तन की प्रवृत्ति से आत्मा में परिस्पंदन होता है, जिससे आत्मा का कर्म के साथ योग होता है। अतः कारण में कार्य का आरोप कर उपचार से मन, वचन, तन की प्रवृत्ति को भी योग कहा जाता है। योग शरीर के ही अंग हैं। अतः योग और शरीर में जातीय एकता है। अंडे और मुर्गी की उत्पत्ति के समान वे एक दूसरे की उत्पत्ति के हेतु हैं अथवा जैसे बीज से फल व फल से बीज की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार शरीर से योग की प्रवृत्ति होती है, योगों की प्रवृत्ति से कर्म बंध होता है जिसके फलस्वरूप शरीर मिलता है।

यह योग प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है— एक भोगमय और दूसरी सेवामय। भोगमय प्रवृत्ति विकारी प्रवृत्ति है, अस्वाभाविक, अनैसर्गिक, अप्राकृतिक है। यह विकृत वक्र—विसंवादी प्रवृत्ति होने से अशुभ है। विकारी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप मिलने वाला शरीर विकारी, विकलेन्द्रिय, न्यून चेतना वाला एवं जड़वत् (स्थावर) होता है।

इसके विपरीत सेवा—प्रवृत्ति प्रकृति का अनुसरण करने वाली (अविस्वादी) एवं सहज, सरल तथा शुभ होती है। मन से तन सर्जन सिद्धान्तानुसार इसके परिणाम से पूर्ण इन्द्रियाँ, सुभग आदि शुभ प्रकृतियाँ मिलती हैं। सीधे शब्दों में कहें तो मन, वचन, तन की दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ नाम कर्म का और सद् प्रवृत्तियों से शुभ नाम कर्म का बंध होता है।

नामकर्म की विभिन्न प्रकृतियाँ

नामकर्म की 14 पिण्ड प्रकृतियाँ हैं, जिनके उत्तर भेदों में 93 या 103 प्रकृतियाँ मानी गई हैं। यहाँ पर इन प्रकृतियों के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

गति नामकर्म

गति का सम्बन्ध आत्मा की आन्तरिक प्रवृत्ति रूप स्थिति से है। ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का सदुपयोग—दुरुपयोग इसके बंध का कारण है। गति चार प्रकार की है— 1. नरक गति 2. तिर्यच गति 3. मनुष्य गति और 4. देव गति।

मोह की वृत्ति की अधिकता से बढ़ी हुई मूर्च्छा एवं जड़ता की अवस्था ही तिर्यच गति है। जब मोह में कमी आती है—मूर्च्छा हटती है तो ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है। जिसके फलस्वरूप इन्द्रियों की तथा मन की प्राप्ति होती है। प्राणी अपनी भूल के कारण इन्द्रियों से विषय सेवन में प्रवृत्त होता है और विषय भोग को ही सुख मानने लगता है। फलस्वरूप सुख—प्राप्ति के लिए अगणित नई—नई कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु उनकी पूर्ति नहीं हो पाती है। अगणित कामनाओं की पूर्ति न होने के कारण पूर्ति हेतु वस्तुओं का संग्रह करने के लिए दूसरों का शोषण करता है। हृदयहीन होकर क्रूरतापूर्वक पीड़ा देता है, जिससे परस्पर में संघर्ष व कलह पैदा होता है। इस प्रकार वह अपनी आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों से उत्पन्न अंतर्द्वन्द्व आदि से तथा दूसरों के संघर्ष के कारण सदा महादुःखी रहता है। ऐसी क्रूरता व विषय—कषाय की अतिगृद्धता नारकीय गति की द्योतक व जनक है।

जो जीव प्राप्त विषय—भोग में ही गृद्ध एवं मूर्च्छित रहता है और उसको जीवन मानता है, ऐसी जड़ता जैसी स्थिति तिर्यच पशु—पक्षी की है। यही तिर्यच गति की जनक भी है। जब जीव विषय—भोग के दुःखद परिणाम को जानकर उससे छूटने, उन पर विजय पाने के लिए प्रयत्न करता है, दूसरों के साथ उदारता, करुणा आत्मीयता, प्रेम, स्नेह व सेवा का व्यवहार करता है तो यह मानवता की स्थिति है। मानवता ही मनुष्य गति की जनक है। जो जीव दिव्य सात्त्विक प्रकृति के सुखभोग में डूबा रहता है, अपना विकास करने के लिए उद्यत नहीं होता है, प्रयत्न नहीं करता है। ऐसी स्थिति देव गति की जनक है।

भगवद्गीता के शब्दों में 1. आसुरी राक्षसी प्रकृति नरक गति की 2. तामसी प्रकृति तिर्यच गति की, 3. राजसी प्रकृति— मनुष्य गति की एवं 4. सात्त्विक प्रकृति देव गति की जनक व द्योतक है।

प्रकृति का यह नियम है कि व्यक्ति की जैसी प्रवृत्ति या प्रकृति होती है उसी प्रवृत्ति के अनुरूप उसके जीवन का सर्जन होता है, ताकि वह अपनी प्रकृति, प्रवृत्ति या कामना का उचित फल भोग सके। जिसकी पाशविक वृत्ति, प्रवृत्ति, प्रकृति है वह पशु शरीर धारण करता है। मानवीय गुणों से संपन्न व्यक्ति मानव बनता है। दिव्य गुणों से संपन्न जीव देव बनता है। आशय यह है कि गति का बीज—वपन अन्तःकरण की भूमिका में होता है, जो कालान्तर में उस गति को प्राप्त कराता है।

मानव इस बात में स्वतन्त्र है कि वह अपने अन्तःकरण में किसी भी गति का बीज वपन कर उसका फल भोग सकता है। वह अन्तःकरण में अनेक कामनाओं को उत्पन्न कर नारकीय जीवन भोग सकता है। वह भोग में गृद्ध हो पशु का जीवन भोग सकता है, भोग से जड़ता की स्थिति को प्राप्त हो स्थावर का जीवन भोग सकता है। वह मानवता व संयम को धारण कर अमरत्व व अक्षय सुख को प्राप्त कर अपने मानव जीवन को सार्थक भी बना सकता है। वह करुणा, उदारता व शुभभाव को धारण कर देव जीवन के दिव्य सुख को भोग सकता है। आशय यह है कि कामना की अधिकता से नरकगति की, भोगों की गृद्धता से तिर्यच गति की, मृदुता और सरलता से मनुष्य गति की और भावों की शुभता से देव गति की प्राप्ति होती है।

प्रकारान्तर से कहें तो अप्राप्त अनेक वस्तुओं की कामना करने वाला नरकगामी, प्राप्त वस्तुओं के भोगों की दासता में आबद्ध रहने वाला तिर्यचगामी, प्राप्त वस्तुओं का परोपकार या सेवा में सदुपयोग करने वाला देवगामी एवं प्राप्त विषय—भोगों का त्याग करने वाला जीव मुक्तिगामी होता है।

जाति नामकर्म एवं इन्द्रियों का विकास

अनेक प्राणियों में एकता की प्रतीति करानेवाले समान धर्म को जाति कहा जाता है। जैसे— गो जाति के अन्तर्गत पीली, सफेद, लाल आदि सभी गायें गाय कहलाती हैं। इसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ समान

संख्या में रखने वाले जीव एक जाति के कहे जाते हैं। जातियाँ पाँच हैं—जिनके शरीर में केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय है वे पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि जीव एकेन्द्रिय कहे जाते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन और रसना (मुँह) ये दो इन्द्रियाँ हैं ऐसे केंचुआ आदि जीव द्वीन्द्रिय कहे जाते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं ऐसे कीड़े, मकोड़े आदि त्रीन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ हैं ऐसे मक्खी, मच्छर आदि चतुरिन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ऐसे पशु, पक्षी, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं।

जीव के परिणाम में जितना कषाय घटता जाता है, उतनी ही उसकी आत्मा पवित्र होती जाती है, जिससे पुण्य में वृद्धि होती जाती है। पुण्य से जितनी आन्तरिक आत्मिक शुद्धि बढ़ती जाती है, उतनी ही बाहर में भौतिक समृद्धि (इन्द्रिय, मन आदि) में भी वृद्धि होती जाती है। जब जीव पूर्ण पवित्र (वीतराग) हो जाता है तो उसकी सब पुण्य प्रकृति का अनुभाग उत्कृष्ट हो जाता है।

जब प्राणी का कषाय घटता है अर्थात् राग व आसक्ति घटती है तो विषय—भोग जनित मोह व मूर्च्छा कम होती जाती है जिससे उसकी चेतना विकसित होती जाती है अर्थात् उसकी जानने एवं अनुभव करने की, संवेदन करने की शक्ति बढ़ती है। इसे ही ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम कहा जाता है। चेतना के स्तर पर ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम होता है, प्राकृतिक नियमानुसार उस विकसित चेतना के अनुरूप बाह्य जगत् में इन्द्रियों का विकास होता है। उसकी स्पर्शनेन्द्रिय विकसित होती है। उसके परिणाम स्वरूप वह अपने संपर्क में आने वाले पदार्थों को छूने से संवेदन का अनुभव करता है और उस पदार्थ में रहे कटुक, मीठे, कसैले आदि रसों का संवेदन कर उन्हें पहचानने लगता है। इस प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय का विकास रसना इन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है। ऐसे प्राणी के शरीर में गति करने, हिलने—डुलने की, चलने—फिरने की शक्ति भी आ जाती है। इस विकास को सागर में रहने वाले बहुमुखी जीवों में स्पष्ट देखा जा सकता है। उनके शरीर का आकार वनस्पति की शाखाओं के समान होता है अर्थात् उनमें

शाखाओं के जैसे लंबे-लंबे कितने ही मुख होते हैं और उनमें हिलने की शक्ति भी बहुत होती है, परन्तु चलने की शक्ति अत्यल्प होती है। चलने की गति इतनी कम होती है कि वे चलते हुए भी दिखाई नहीं देते हैं। ऐसा लगता है जैसे एक ही स्थान पर पौधे की तरह स्थिर हों। जब स्पर्शनेन्द्रिय का और अधिक विकास होता है तो वस्तुओं से निकले हुए सूक्ष्म पदार्थ जिसे गंध कहा जाता है उसे भी संवेदन करने व पहचानने की शक्ति आ जाती है। इसे ही घ्राणेन्द्रिय कहा जाता है। रसनेन्द्रिय में तो स्पर्श होने पर पदार्थों को स्थूल रूप में पहचानने एवं संवेदन करने की शक्ति होती है, परन्तु घ्राणेन्द्रिय में उससे भी सूक्ष्म पदार्थ गंध के स्पर्शन का संवेदन होता है व पहचाना जाता है।

जब स्पर्शनेन्द्रिय की शक्ति और भी अधिक विकसित होती है तो गंध से अति सूक्ष्म पदार्थ प्रकाश का संवेदन करने की व पहचानने की शक्ति आ जाती है, इस शक्ति व इसके माध्यम (स्थान) को ही चक्षुइन्द्रिय कहा जाता है। जब स्पर्शनेन्द्रिय की शक्ति और भी अधिक विकसित होती है तो वह तरंग रूप पदार्थ ध्वनि को संवेदन करने व पहचानने लगती है। इस शक्ति के स्थान को ही कर्णेन्द्रिय कहा जाता है। चक्षुइन्द्रिय जिस पदार्थ का संवेदन करती है वह दृश्यमान होता है, परन्तु कर्णेन्द्रिय जिस पदार्थ का संवेदन करती है वह अदृश्यमान पदार्थ होता है। इसीलिए चक्षुइन्द्रिय से कर्णेन्द्रिय को अधिक विकसित माना है। डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त भी इन्द्रियों के इस विकास क्रम के सिद्धान्त को पूरी तरह पुष्ट करता है। परन्तु डार्विन ने अपने सिद्धान्त का आधार केवल जीवन की बाहरी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं रूप प्रक्रिया को ही बनाया। जीवन के आंतरिक विकास के साथ उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा अतः डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त एकांगी व अधूरा है, उसमें अनेक विसंगतियाँ आ गई हैं।

आत्मा की आंतरिक स्थिति के अनुरूप ही हमारे शरीर, इन्द्रिय आदि बाहरी स्थिति व परिस्थिति का निर्माण होता है। इसमें आंतरिक स्थिति कारण रूप है तथा बाहरी स्थिति कार्य रूप है। अतः बाहरी स्थिति से आंतरिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। क्योंकि बाहरी स्थिति आंतरिक स्थिति की द्योतक है।

अनेक व्यक्ति दूसरों को धोखा देने के लिए बाहरी स्थिति का कृत्रिम निर्माण भी कर सकते हैं। ऐसी कृत्रिम बाहरी स्थिति से वास्तविक आन्तरिक स्थिति का पता नहीं चलता है। जैसे गहरी निद्रा की जड़ता को प्राप्त हुए व्यक्ति की शांति तथा ध्यान की गहराई से चित्त की उत्पन्न हुई शांति— इन दोनों प्रकार की शान्तियों की बाहर की स्थिति, स्थूल दृष्टि से एक समान प्रतीत होती है, परन्तु सूक्ष्म व वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों की स्थिति में आकाश— पाताल जितना अन्तर होता है। अतः बाहरी स्थिति के आधार पर आन्तरिक स्थिति या विकास का निर्णय करते समय सूक्ष्म दृष्टि का होना अत्यावश्यक है।

इन्द्रियों की प्राप्ति तथा उनका विकास ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करते हैं। अन्तर में इनका जितना क्षयोपशम होता है बाहरी जगत् में इन्द्रियों की उपलब्धि के रूप में इनकी उतनी अभिव्यक्ति होती है। इन्द्रियों की उत्पत्ति का सम्बन्ध आत्मा की आन्तरिक वृत्ति से है और गति का सम्बन्ध आन्तरिक प्रवृत्तियों है। इसी का विवेचन आगे प्रकारान्तर से किया जा रहा है।

आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने प्रकृति के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियम का उद्घाटन किया है, यथा— जहा अंतो तहा बाहि, जहा बाहि तहा अंतो। अर्थात् जैसा अंदर है वैसा ही बाहर है और जैसा बाहर है वैसा ही अन्दर है। इस नियमानुसार प्राणी के आन्तरिक स्तर पर जैसे—अध्यवसाय, भाव या परिणाम होते हैं उसे उस परिणाम के परिणामस्वरूप बाहरी स्तर पर शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि मिलते हैं। यही कारण है कि जिस प्राणी में जितना मोह, जड़ता (मूर्च्छा) होती है उसकी इन्द्रियों का विकास उतना ही कम होता है और जैसे—जैसे अन्तर जगत् में विषय—सुख जनित मोह (मूर्च्छा) घटता जाता है और उससे ज्ञान का तथा दर्शन का आवरण हटता जाता है वैसे—वैसे चेतना का विकास होता जाता है अर्थात् उसकी संवेदन (अनुभव) करने की शक्ति बढ़ती जाती है और उसी के अनुरूप बाह्य जगत् में इन्द्रियों का विकास होता जाता है।

कोई भी प्राणी कितना ही मोह ग्रसित (मूर्च्छित) क्यों न हो, उसके ज्ञान व दर्शन की शक्ति सर्वथा लुप्त नहीं होती है। यदि प्राणी की ज्ञान—दर्शन की शक्ति पूर्ण लुप्त हो जाती तो वह पूर्ण जड़ता को प्राप्त

होकर जड़ (अचेतन) हो जाता, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता है। प्राणी में ज्ञान व दर्शन की शक्ति की कुछ न कुछ अभिव्यक्ति सदैव रहती है। उसी आंतरिक ज्ञान—दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए उसे स्पर्शनेन्द्रिय मिलती है। आंतरिक विकास की अत्यंत कमी की इस अवस्था में प्राणी केवल स्थूल पदार्थों का शरीर से स्पर्श—संसर्ग होने पर ही उनका संवेदन, अनुभव व ज्ञान कर पाता है। इस प्रकार अत्यंत अल्प विकसित प्राणी के एक ही स्पर्शनेन्द्रिय होती है। ऐसे प्राणियों को एकेन्द्रिय कहा जाता है, जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय।

जब प्राणी में ज्ञान तथा दर्शन का आवरण कुछ अधिक घटता है तो उसकी चेतना का विकास होता है, जिससे उसके संवेदन की व पहचानने की शक्ति बढ़ती है और वह पदार्थ में रहे हुए सूक्ष्म रस तीखे, कड़वे, कषैले, मीठे, खट्टे का अनुभव करने व पहचानने लगता है। शरीर के जिस स्थान से वह संवेदन करता एवं पहचानता है उसे रसना (जिह्वा) इन्द्रिय कहते हैं। ऐसा जीव द्वीन्द्रिय कहा जाता है।

जब प्राणी में ज्ञान व दर्शन का आवरण कुछ और अधिक कम होता है तो उसकी संवेदन की व पहचानने की शक्ति और बढ़ती है। जिससे वह पदार्थ से निकलने वाली सूक्ष्म गंध के स्पर्श का संवेदन कर लेता है व पहचान लेता है। शरीर के जिस स्थान से वह संवेदन करता है उसे घ्राण(नाक) इन्द्रिय कहते हैं। ऐसा जीव त्रीन्द्रिय कहा जाता है।

जब जीव में ज्ञान व दर्शन का आवरण फिर कुछ और अधिक घटता है तो उसकी ज्ञान—दर्शन की अर्थात् संवेदन की व जानने की शक्ति और बढ़ जाती है जिससे वह प्रकाश जैसे सूक्ष्म पदार्थ का संवेदन कर उससे प्रकाशित वस्तु के रंग—आकार—प्रकार को पहचान लेता है। शरीर के जिस स्थान में ऐसी शक्ति होती है उसे चक्षुइन्द्रिय कहते हैं। ऐसे जीव को चतुरिन्द्रिय कहा जाता है। जब प्राणी के ज्ञान व दर्शन का आवरण और विशेष घटता है तो उसकी संवेदन करने व जानने की शक्ति का विशेष विकास हो जाता है और वह पदार्थों के संघर्ष से उत्पन्न हुई सूक्ष्म ध्वनि की लहरों के स्पर्श का संवेदन करने लगता है तथा उस संवेदन के आधार पर उन्हें पहचानने लगता है कि यह किसकी ध्वनि है। शरीर के जिस स्थान में ऐसी शक्ति होती है उसे कर्णेन्द्रिय या श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं। इस श्रोत्रेन्द्रिय से युक्त जीव को पंचेन्द्रिय कहा जाता है।

इस प्रकार ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम (कमी) के अनुसार जीव में ज्ञान व दर्शन की शक्ति बढ़ती है और उसमें स्थूलतर, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पदार्थों के संवेदन रूप से ग्रहण करने व उन्हें जानने की शक्ति का विकास होता है और प्रकृति या कर्म के नियमानुसार उस शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में पाँच इन्द्रियाँ हैं, अतः जातियाँ भी पाँच हैं, यथा— केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले जीव एकेन्द्रिय जाति के; स्पर्शन व रसना इन दो इन्द्रिय वाले जीव द्वीन्द्रिय जाति के; स्पर्शन, रसना, घ्राण इन तीन इन्द्रिय वाले जीव त्रीन्द्रिय जाति के; स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु इन चार इन्द्रिय वाले जीव चतुरिन्द्रिय जाति के तथा इनमें श्रोत्र और मिलाने पर पाँच इन्द्रिय वाले जीव पंचेन्द्रिय जाति के कहे जाते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न संख्याओं में इन्द्रियों को धारण करने वाले जीवों के समूह को जाति कहा गया है।

शरीर नामकर्म

शरीर चेतना की क्रिया या प्रवृत्ति करने का साधन है। यह पहले कहा जा चुका है कि जैसा अंतर में होता है उसी के अनुरूप बाह्य जगत् का निर्माण होता है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार जब प्राणी में भोग की कामना उत्पन्न होती है तो उसे भोगने के लिए साधन चाहिए और वह साधन शरीर होता है। अतः जब-जब भोग की इच्छा या कामना उठती है तब-तब शरीर का निर्माण करने वाली प्रकृति का भी निर्माण होता है। शरीर पाँच हैं यथा— (1) औदारिक, (2) वैक्रिय, (3) आहारक, (4) तैजस और (5) कार्मण। औदारिक शरीर— अर्थात् उदार या स्थूल पुद्गलों से निर्मित स्थूल शरीर जिसका काटने, छेदने आदि से विनाश संभव है।

वैक्रिय शरीर— मानसिक विकार के अनुरूप शरीर का निर्माण होना।

आहारक शरीर— जिज्ञासा पूर्ति के लिए ऐसे शरीर का निर्माण होना जिसके माध्यम से वीतराग सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप से अपना संपर्क कर उत्तर प्राप्त किया जा सके।

तैजस शरीर— वे पुद्गल जो शरीर में सर्वत्र व्याप्त होते हैं एवं शरीर को सक्रिय रखते हैं।

कार्मण शरीर— कर्म पुद्गलों का वह समूह जो प्राणी की इच्छा उत्पत्ति के आकर्षण से, राग-द्वेष से, आकृष्ट हो कर्मशरीर रूप में आत्मा

के चिपका रहता है तथा इसमें निरन्तर नये कर्म पुद्गल जुड़ते रहते हैं एवं पुराने निर्जरित होते रहते हैं।

इनमें से जहाँ कामना-भोगेच्छा उत्पन्न होती है, वहाँ तैजस व कार्मण शरीर की संरचना तो होती ही है, साथ ही औदारिक या वैक्रिय शरीर में से किसी एक शरीर की रचना भी होती है। जिस प्रकार की गति के अनुरूप इच्छा है उसी के अनुरूप शरीर की रचना की क्षमता उत्पन्न होती है।

अंगोपांग नामकर्म

जब शरीर निर्माण करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तो उसके अनुरूप अंगों का निर्माण होना भी स्वाभाविक है। इसे ही अंगोपांग प्रकृति कहा गया है। अंग उसे कहा जाता है जो शरीर के निश्चित स्थान पर होता है और वह एक विशेष निश्चित क्रिया या कार्य ही करता है। इस दृष्टि से एकेन्द्रिय में अंगोपांग नहीं होता है। षट् खंडागम में यही मत मान्य किया गया है। साधारण भाषा में शरीर के एक भाग को भी अंग कहा जाता है। इस दृष्टि से आगमों में वनस्पति में भी अंगोपांग कहा गया है। औदारिक, वैक्रिय एवं आहारक शरीर के ही अंगोपांग संभव हैं, अतः अंगोपांग तीन कहे गये हैं, यथा— 1. औदारिक अंगोपांग 2. वैक्रिय अंगोपांग 3. आहारक अंगोपांग।

शरीर बन्धन नामकर्म के 5 भेद, संघातन नाम कर्म के 5 भेद, संहनन के 6 भेद, संस्थान नाम के 6 भेद तथा वर्ण-गंध, रस, स्पर्श के 20 भेद हैं।

बंधन नाम

जिस कर्म के उदय से पहले से गृहीत शरीर पुद्गलों के साथ नवीन पुद्गलों का बंध हो उसे बंधन नाम कहते हैं। औदारिक आदि पाँच शरीरों के अनुरूप इसके पाँच भेद हैं।

संघातन नाम

यह ग्रहण किए हुए पुद्गलों का यथास्थान व्यवस्थित रूप से स्थापन करता है। यह भी औदारिक आदि पाँच प्रकार का है।

संहनन नाम

शरीर की अस्थि रचना को संहनन नाम कहते हैं। यह 6 प्रकार का है, यथा— 1. वज्रऋषभ नाराच 2. ऋषभ नाराच 3. नाराच 4. अर्द्ध नाराच 5. कीलक और 6. सेवार्त्त।

शरीर में रही हुई दो अस्थियों के ऊपर पट्टा होने को ऋषभ, ऊपर नीचे मर्कट बंध को नाराच और पट्टी पर वज्रमय कीलिका को वज्र कहा गया है।

1. जिस शरीर में दोनों अस्थियों पर दृढ़ कीले हों वैसे अस्थि बंध की रचना को वज्रऋषभ नाराच संहनन कहते हैं।
2. जिस शरीर में वज्र की कीलिका को छोड़कर ऋषभ और मर्कट बंध हो उसे ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं।
3. जिस शरीर में वज्र और ऋषभ को छोड़कर केवल मर्कट बंध हो उसे नाराच संहनन कहते हैं।
4. जिस शरीर में अस्थियों पर ऊपर नीचे बंधन न होकर केवल एक ओर मर्कट बंधन हो उसे अर्द्ध नाराच कहते हैं।
5. जिस शरीर में कीलक युक्त अस्थि बंधन हो, उसे कीलक संहनन कहते हैं।
6. जिस शरीर में कीलक आदि कुछ भी न होकर मात्र अस्थियाँ हों ऐसे शिथिल शरीर बंधन को सेवार्त्त कहते हैं।

इनमें आगे-आगे के संहनन में क्रमशः शारीरिक बल और अस्थि रचना की मजबूती में कमी मानी गई है।

संस्थान नाम

शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। यह 6 प्रकार का है, यथा— 1. समचतुरस्र 2. न्यग्रोध परिमण्डल 3. सादि 4. वामन 5. कुब्जक और 6. हुंडक।

1. पालथी आसन से बैठे हुए को दाहिने कंधे से बांये घुटने तक और बांये कंधे से दाहिने घुटने तक दोनों घुटनों और स्कन्धों का अन्तर मापने में समान हो अथवा जिस शरीर में ऊपर और नीचे के अवयव लक्षण—प्रमाण सहित हों, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं।
2. जो शरीर वट वृक्ष की तरह ऊपर विस्तार युक्त और नीचे से संकुचित हो, उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान कहते हैं।
3. जिस शरीर में नाभि से नीचे के अंग प्रमाणोपेत हों और ऊपर के अंग प्रमाण से हीन हों, उसे सादि संस्थान कहते हैं।
4. जिस शरीर का आकार वामन रूप (बौना) हो, उसे वामन संस्थान कहते हैं।

5. जिस शरीर की आकृति कुबड़े के रूप में हो, जिसमें छाती आगे निकली हुई हो, उसे कुब्जक संस्थान कहते हैं।
6. जिसका पूरा शरीर प्रमाण रहित हो, सभी अवयव बेडोल आकृति के हों, उसे हुडक संस्थान कहते हैं।

वर्णादि चतुष्क

इसमें वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श की गणना होती है।

वर्ण— जिस कर्म के उदय से शरीर में काला, नीला, पीला, लाल, श्वेत वर्ण प्राप्त हो उसे वर्ण नाम कहा है।

गंध— जिस कर्म से शरीर में सुगन्ध व दुर्गन्ध की प्राप्ति हो उसे गंध नाम कहते हैं।

रस— जिस कर्म से शरीर के पुद्गल तिक्त, कटु, कसैले, खट्टे, मीठे रस रूप में परिणत हों उसे रस नाम कहते हैं।

स्पर्श— शरीर में कर्कश, मृदु, गर्म, ठंडा, स्निग्ध, रुक्ष, लघु, भारी स्पर्श वाले अंग— प्रत्यंगों का होना स्पर्श नाम है।

वर्णादि अपेक्षाकृत शुभ और अशुभ माने गये हैं। शुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श शुभ नाम कर्म के उदय से और अशुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अशुभ नाम कर्म के उदय से होते हैं। व्यवहार में कृष्ण और नील वर्ण, गंध में दुरभिगंध, रस में तिक्त और कटु तथा स्पर्श में खुरदरा, भारी, लूखा और ठंडा, इनको अशुभ प्रकृतियों के रूप से माना गया है। इसे सामान्य कथन समझना चाहिये। विशेष रूप से सभी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श शुभ भी होते हैं। जैसे आँख का तारा व सिर के बाल काले होकर भी शुभ हैं। इनका श्वेत (सफेद) होना अशुभ माना जाता है। इस प्रकार वर्ण, गंध, रस और वर्ण की सभी प्रकृतियाँ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की मानी गई हैं।

आनुपूर्वी नामकर्म

इस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति द्वारा अपने नये उत्पत्तिस्थान पर पहुँचता है। इसका उदय तभी होता है जब जीव को मरकर विषम श्रेणी में स्थित उत्पत्ति स्थान में जन्म लेना होता है। यदि उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में हुआ तो आनुपूर्वी के उदय की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। उस स्थिति में तो जीव स्वयं ही, पूर्व-शरीर से प्राप्त वेग के कारण, उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है। चूँकि संसारी जीव चार गतियों में ही भ्रमण करता है इसलिए आनुपूर्वीनामकर्म के चार ही भेद होते हैं।

1. **नरकानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विषम श्रेणी स्थित नरकसम्बन्धी जन्म-स्थान पर पहुँचता है।
2. **तिर्यचानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विषम श्रेणी—स्थित तिर्यच सम्बन्धी जन्म-स्थान में पहुँचता है।
3. **मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विषम श्रेणी—स्थित मनुष्य सम्बन्धी जन्म-स्थान में पहुँचता है।
4. **देवानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विषम श्रेणी—स्थित देव सम्बन्धी जन्म-स्थान में पहुँचता है।

आनुपूर्वीनामकर्म की उपर्युक्त व्याख्या श्वेताम्बर आचार्यों ने की है। परन्तु दिगम्बर आचार्यों की व्याख्या इससे सर्वथा भिन्न है यथा—
“पूर्वशरीराकाशविनाशो यन्मयोदयाद् भवति तद्वानुपूर्वी नाम” (तत्त्वार्थ सूत्र 8. 11, सर्वार्थ सिद्धि टीका) जिसके उदय से पूर्व शरीर का आकार विनाश नहीं होता, वह आनुपूर्वी नाम कर्म है।

पुव्वुत्तन्नमनीनामन्तरे एव दो-तिण्णि-अमए वट्ठमाण- जीवन्नम कम्मन्नम उदएण जीवपदेन्नाणं विमिद्वो अंठाणविम्वेन्नो छेदि, तन्नम आणुपुव्वि ति अण्णा—इच्छिद्दगदिगमणं—आणुपुव्वीदो।

—सर्वार्थसिद्धि 8/11, धवला टीका खंड 1.9.1, सूत्र 41, पृष्ठ 76

पूर्व तथा उत्तर शरीरों के अंतरालवर्ती एक, दो और तीन समय में वर्तमान जीव के जिस कर्म के उदय से जीव प्रदेशों का विशिष्ट आकार विशेष होता है, उस कर्म की आनुपूर्वी संज्ञा है। आनुपूर्वी नामकर्म से इच्छित गति में गमन होता है।

सारांश यह है कि इस भव के शरीर को छोड़कर अन्य भव में जाने वाले जीव ने जिस गति में जाने का बंध किया है, उस गति में ले जाने वाला कर्म आनुपूर्वी नामकर्म है। गतियां चार होने से यह चार प्रकार का है— 1. नरकगति प्रायोग्य आनुपूर्वी नाम कर्म 2. तिर्यचगति प्रायोग्य आनुपूर्वी नाम कर्म 3. मनुष्य गति प्रायोग्य आनुपूर्वी नामकर्म और 4. देवगति प्रायोग्य आनुपूर्वी नामकर्म।

विहायोगति नामकर्म

जीव की चाल को विहायोगति कहते हैं। इसके दो भेद हैं— शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति।

शुभ—विहायोगति— जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ हो अर्थात् उसे चलने में कठिनाई नहीं हो, वह शुभ विहायोगति है।

अशुभ—विहायोगति— जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अशुभ हो अर्थात् उसे चलने में कष्ट हो वह अशुभ विहायोगति है, जैसे लंगड़ा कर चलना, पोलियो होने से पैरों को घसीटते हुए चलना।

कुछ विद्वान् हाथी जैसी चाल को शुभ और ऊँट जैसी चाल को अशुभ मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता है, कारण कि पशु, पक्षी एवं सब जीवों को अपनी स्वाभाविक व सहज चाल बुरी नहीं लगती है। ऊँट को भी अपनी चाल अच्छी ही लगती है, बुरी नहीं।

जिज्ञासा— विहायस् आकाश को कहते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है। अतः जो भी गति होती है वह आकाश में ही होती है, अन्यत्र हो ही नहीं सकती, फिर गति शब्द के साथ विहायस् विशेषण क्यों लगाया गया?

समाधान—विहायस् विशेषण न लगाकर यदि केवल गति ही कहते तो नाम कर्म की प्रथम प्रकृति का नाम भी गति होने के कारण पुनरुक्ति दोष की आंशका हो जाती और इन दोनों गतियों की भिन्नता को जानने में भ्रान्ति हो जाती। अतः यहाँ जीव की चाल को गति समझने और नरक आदि गति को ग्रहण न करने हेतु विहायस् शब्द लगाना उपयुक्त ही है।

अगुरुलघु नाम कर्म

जिस प्रकृति के उदय से कान, नाक, आँख, हाथ, पैर आदि शरीर के अवयव छोटे—बड़े न होकर यथोचित हों, वह अगुरुलघु नामकर्म प्रकृति है। इसका उदय प्रत्येक प्राणी में सदैव रहता है।

अगुरुलघु का अर्थ होता है न तो छोटा, न बड़ा अर्थात् जैसा चाहिये वैसा होना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संतुलित अवस्था ही अगुरुलघु है। जीवन चलाने के लिए शरीर के हाथ, पैर, नाक, कान आदि अंगों का संतुलित रहना आवश्यक है। शरीर में यह एक प्रकृति प्रदत्त प्रक्रिया है जिससे उसका सिर, नाक, कान, आँख, पैर, पेट, कमर आदि संतुलित अनुपात में होते हैं। यही संतुलित अनुपात शरीर को स्वस्थ रखता है एवं टिकाये रखता है। इसीलिए शरीर को संतुलित रखने वाली अगुरुलघु प्रकृति का उदय सदा माना गया है। किसी व्यक्ति का पेट या शरीर भारी अर्थात् गुरु हो जाता है तो यह अगुरुलघु प्रकृति के निर्बल होने

का द्योतक है। ऐसा व्यक्ति अस्वस्थ होता है व उसका जीवन दुर्भर हो जाता है। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के निर्माण में अगुरुलघु प्रकृति का बहुत बड़ा भाग होता है।

शरीर में संतुलन रखने वाली अंतःस्रावी ग्रंथियों को भी अगुरुलघु कर्मोदय कह सकते हैं— जैसे थायरायड, पैरा थायराइड, एड्रीनल, अग्नशय, थाइमस, पीनियल आदि। इनमें प्रत्येक से अलग-अलग हार्मोन स्रावित होते हैं, जो शरीर के अंग-उपांग व अन्य तत्त्वों को नियंत्रित रखने का कार्य करते हैं। ये ग्रंथियाँ हार्मोन वाहिनी होती हैं। अतः इन्हें शरीर के अंगोपांग नहीं कहा जा सकता। थायरायड ग्रन्थि शरीर रूपी मशीन का बड़ा अच्छा रेगुलेटर है। यदि थायरायड की सक्रियता कम हुई तो मोटापा आ जायेगा, थकान अनुभव होगी। सक्रियता अधिक हुई तो वजन घटता ही जायेगा, हृदय की धड़कन बढ़ेगी। थायरायड की गड़बड़ी का अर्थ है शरीर के संतुलन चक्र का गड़बड़ होना। पैराथायरायड का स्राव रुधिर में कैल्सियम और फॉस्फोरस की मात्रा का संतुलन रखता है। एड्रीनल ग्रंथि के स्राव का प्रभाव रक्तचाप, श्वास की गति आदि पर पड़ता है। अग्नशय ग्रंथि का स्राव रुधिर में शक्कर की मात्रा का नियमन करता है। इसकी कमी से मधुमेह रोग हो जाता है। पीयूष ग्रन्थि में लगभग 13 प्रकार के हार्मोन स्रावित होते हैं। इनमें से कुछ अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को नियन्त्रित करते हैं। एक हार्मोन शरीर की अस्थियों की लम्बाई को नियन्त्रित करता है तथा जननग्रन्थि को भी प्रभावित करता है।

जिस प्रकार मनुष्य में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से हार्मोन पैदा होते हैं उसी प्रकार पशुओं व पौधों में भी इन्डोस एसिटिक अम्ल हार्मोन होते हैं। पौधों के शीर्ष स्थानों पर कई इन्डोस हार्मोन बनते हैं जो कि पौधे की वृद्धि और परिवर्द्धन का नियंत्रण करते हैं।

आशय यह है कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सभी प्राणियों के शरीर में उसको यथोचित रूप में संतुलित रखने वाले हार्मोन होते हैं, जो शरीर में सदा कार्यरत रहते हैं। इसीलिए इन्हें अगुरुलघु प्रकृति कहा जा सकता है। शरीर से अर्थात् पुद्गल से संबंधित होने से यह प्रक्रिया पुद्गल विपाकी प्रकृति कही गयी है।

निर्माण नाम कर्म

यह पुद्गल विपाकी प्रकृति है। कारण कि इसका सम्बन्ध पुद्गलों द्वारा शरीर का निर्माण करना होता है। 'निर्माण' शब्द का अर्थ है बनाना या रचना करना। शरीर में सर्जन की जो प्रक्रिया चलती है वही निर्माण नामकर्म है। जब शरीर पर कहीं अस्त्र-शस्त्र की चोट लग जाती है और घाव हो जाता है तो उस घाव को भरने के लिए, दूसरे शब्दों में उस विक्षत अंग का पुनः निर्माण करने के लिए शरीर में एक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उसी प्रक्रिया के फलस्वरूप घाव के तल में मांस का व घाव के चारों ओर चमड़ी का निर्माण होने लगता है और धीरे-धीरे घाव पूरा भर जाता है। शरीर की यही प्रक्रिया निर्माण नामकर्म कही जाती है।

शरीर में जब कहीं हड्डी टूट जाती है तो उसे पुनः जोड़ने, निर्माण करने का कार्य शरीर की यही निर्माण प्रकृति करती है। चिकित्सक उसे जोड़ नहीं सकता है। चिकित्सक तो केवल हड्डी के टूटे हुए टुकड़ों को सही स्थिति में लाकर चूने का पट्टा बांध देता है। उस चूने के पट्टे में कोई दवा नहीं होती है और न कोई दवा ही लगाई जाती है। शरीर की यह निर्माणकारी प्रकृति ही उसे पुनः जोड़ती है। शरीर की निर्बलता को दूर कर सबल बनाना भी इसी प्रकृति का कार्य है।

जिस व्यक्ति की यह निर्माण प्रकृति जितनी सबल होती है उस व्यक्ति का घाव उतना ही शीघ्र भरता है एवं हड्डी शीघ्र जुड़ती है और जिस जीव की निर्माण कर्म प्रकृति निर्बल होती है उसके घाव भरने व हड्डी जुड़ने में उतना ही अधिक समय लगता है। वृद्धावस्था में घाव भरने व हड्डी जुड़ने, शरीर में शक्ति आने में अधिक समय लगने का कारण भी निर्माण नाम की प्रकृति का निर्बल हो जाना है।

शरीर-क्रिया विज्ञान में शरीर की मरम्मत व निर्माण करने वाले पदार्थों की उत्पत्ति को उपचय सृजनात्मक क्रिया कहते हैं। विज्ञान जगत् में जीवधारी का पहला मुख्य लक्षण उपचयापचय है। जीव के शरीर में सजीव कोशिकाओं में अनवरत होने वाली जैव रासायनिक क्रियाओं को सामूहिक रूप से उपचयापचय कहते हैं। ये जैव-रासायनिक क्रियाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। एक प्रकार की क्रियाएँ सृजनात्मक होती हैं, जिससे निरन्तर नये यौगिक बनते रहते हैं और शरीर का सृजन या निर्माण

निरन्तर होता रहता है। इसे ही कर्म—सिद्धान्त में निर्माण नामकर्म कहा जा सकता है।

आतपनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तो उष्ण नहीं हो, परन्तु शरीर से उष्ण प्रकाश निकलता हो उसे आतपनाम कहा है। सूर्य के विमान स्वरूप पृथ्वी कायिक एकेन्द्रिय जीवों के ऐसा शरीर माना गया है, परन्तु वर्तमान में खगोल विज्ञान ने सूर्य को आग का गोला माना है, विमान नहीं। अतः यह खोज का विषय है। कुछ मछलियाँ व जन्तु ऐसे हैं जिनके शरीर से निकलने वाले प्रकाश से विद्युत् के करंट जैसा धक्का लगता है।

उद्योत नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में उद्योत अर्थात् चमक उत्पन्न हो। उद्योत का अर्थ है शरीर से प्रकट होने वाला शीतल प्रकाश। तिर्यच गति में एकेन्द्रिय वनस्पति आदि से लेकर पंचेन्द्रिय तक ऐसे पशु—पक्षी पाये जाते हैं, जिनके शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है। पहले साधारणतः जुगनू को ही ऐसा माना जाता था, परन्तु जीव—विज्ञान की खोज में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में उद्योत प्रकट करने वाले जीव हैं। जीव—विज्ञान में जिन जीवों के प्रकाश का उत्सर्जन होता है उन्हें प्रदीपी जीव कहते हैं, इनमें केवल जुगनू ही नहीं, प्रदीपी जीवों में कुछ विशिष्ट प्रकार के जीवाणु कवक, स्पन्ज, कोरल, फ्लैजिलेट, रेडियो—लेरियन, घोंघे, कनखजूरे, कान सलाई गोवारी(मिलीपीड) आदि अनेक प्रकार के कीट तथा अधिक गहराई में पाई जाने वाली समुद्री मछलियाँ आदि हैं। कवक और बैक्टीरिया जाति के एकेन्द्रिय जीव जब पेड़ों की सड़ी—गली शाखाओं—प्रशाखाओं पर उग आते हैं, तो वृक्ष प्रकाशमय दिखाई देने लगते हैं। यह प्रकाश इन्हीं बैक्टीरिया जीवों व कवकों का परिणाम है। न्यूजीलैण्ड की कुछ गुफाओं की छतों पर हजारों की संख्या में ग्लोवर्म—लार्वा रेंगते रहते हैं, जिनके शरीर के प्रकाश से गुफायें जगमगाती रहती हैं, इनके शरीर से एक धागा निकलता रहता है, जब कोई गुफा की दीवारों को थपथपा देता है, या आवाज करता है, तो प्रकाश निकलना बंद हो जाता है, गुफा में अंधेरा हो जाता है। यहीं एक कृमि कीट सेटोप्टेरसी पाया जाता है, यह इतना चमकीला होता है कि इसे मछली खा लेती है तो उसका पेट चमकने लगता है।

अमेरिका की चेजपीक खाड़ी में नाक्टील्यूका नाम का जीव होता है, नाक्टील्यूका का शाब्दिक अर्थ होता है रात्रि का प्रकाश। ये जीव सूक्ष्मदर्शी यंत्र से दिखाई देते हैं, परन्तु इतनी अधिक संख्या में होते हैं, कि खाड़ी का पानी बहुत दूर तक हरे प्रकाश से जगमगाता है। हरा प्रकाश प्रकट करने वाले जीवों में जेलीफिश भी एक है। कुछ जन्तु जापान के निकट सिप्रिडाइना समुद्र के तट के जल में पाये जाते हैं, जब वे भोजन की खोज में बाहर निकलते हैं तब तो उनके चारों ओर नीला प्रकाश छा जाता है।

अमेरिका में एक 'ग्रव' नामक जीव पाया जाता है। इसके लार्वा के सिर पर लाल रंग के चमकीले प्रकाश वाले दो बिन्दु दिखाई देते हैं। जब रात्रि में वह चलता है तब इंजन के प्रकाश की तरह दो बिन्दु चमकते दिखाई देते हैं, अतः वह जीव रेलरोडवर्म के नाम से पुकारा जाता है।

प्रदीपी जीवों में जुगनुओं की जाति बहुत प्रसिद्ध है। लगभग 50 जुगनुओं के इकट्ठे प्रकाश में पुस्तक पढ़ी जा सकती है। जब मादा जुगनू नर को पास बुलाने का संकेत करती है तो उसका प्रकाश 80-80 मीटर दूर से दिखाई देता है। जुगनू के प्रकाश में अल्ट्रावायलेट और इन्फ्रारेड किरणें नहीं होती हैं। अतः इनका प्रकाश शीतल होता है। इस ठंडी आग का होना इसमें ल्युसिर्फेरिन नामक पदार्थ का होना है। आशय यह है कि एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के तिर्यचों में उद्योत नामकर्म का अस्तित्व पाया जाता है।

पराघात नामकर्म

'पर' पर आघात कर उसे पराजित करने की शक्ति वाली कर्म प्रकृति को पराघात कहा जाता है। इसे प्रतिरक्षात्मक शक्ति Immunity Power कहा जा सकता है।

वर्तमान में अपने दर्शन व वाणी से दूसरों को निष्प्रभ कर देना अथवा बड़े-बड़े बलवानों व पहलवानों के लिए अजेय होना पराघात माना जाता है। परन्तु यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता है, कारण कि इन्द्रिय पर्याप्ति की उपलब्धि होते ही संसार के समस्त जीवों के नियम से पराघात का उदय होता है। यह उदय शरीर के विद्यमान रहते निरन्तर होता रहता है। इस प्रकार सभी जीव सदैव अजेय ही सिद्ध होंगे। कोई भी जीव कभी भी पराजय को प्राप्त नहीं होगा। अतः उपर्युक्त अर्थ की अपेक्षा शरीर की

बैक्टीरिया, वायरस आदि कीटाणुनाशक, प्रतिरोधात्मक शक्ति इम्यूनिटी पावर को पराघात मानना अधिक उपयुक्त लगता है। कारण कि असंख्य प्रकार के बैक्टीरिया आदि कीटाणुओं का शरीर पर निरन्तर आक्रमण होता रहता है और प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रत्याक्रमण कर उन पर विजय प्राप्त करती रहती है।

पराघात प्रकृति उसे कहते हैं, जिससे पर अर्थात् दूसरे का घात हो, दूसरे पर विजय प्राप्त हो। यह पुद्गल विपाकी प्रकृति है, इसलिये इसका सम्बन्ध शरीर से है, शरीर में आने वाले दूषित पदार्थ, दूषित वायु विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थ और संक्रामक या साधारण ज्वर— जुकाम आदि बीमारी पैदा करने वाले कीटाणु शरीर में बाहरी वातावरण से आकर हमला करते हैं— इसलिये सबको पर कहा जाता है। परन्तु हमारे शरीर में रक्त के श्वेतकण आदि ऐसे तत्त्व हैं जो इन बाह्य विकारों या शरीर में होने वाले विकारों से युद्धकर इनको पराजित करते रहते हैं। पर को आघात पहुँचाने वाली यही प्रकृति पराघात कहलाती है। पराघात प्रकृति के उदय से जीव शरीर की दृष्टि से शक्तिशाली होता है। वह अनेक प्रकार की परिस्थितियों का सामान्य रूप से सामना कर सकता है। प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी के शरीर में एक ऐसी प्रक्रिया की व्यवस्था की है जो विजातीय पदार्थ के प्रभाव से उसे सुरक्षित रखती है। यह निष्प्रभावन तंत्र पराघात नामकर्म है, जो पर के आघात व आक्रमण को प्रभावहीन बनाने का कार्य करता है। यह पुण्य प्रकृति है।

जीव जिस संसार में रहते हैं, उसके वातावरण में विषाणु, जीवाणु, कीटाणु आदि ऐसे जीव भरे पड़े हैं जो प्राणी के शरीर पर आक्रमण करके उसे अपना आहार बनाना चाहते हैं। डाक्टरों का कथन है कि हैजे के, मोतीझरे के, राजयक्ष्मा आदि रोगों के कीटाणु प्रायः सभी जगह न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं और अनजाने ही प्राणी के शरीर में प्रवेश कर उस शरीर को आहार व निवास स्थान बनाकर अपनी आबादी बढ़ाना चाहते हैं। ये एक दिन में इतने बढ़ जाते हैं कि एक जीव से करोड़ों जीवों की उत्पत्ति हो सकती है। ये कीटाणु आदि विजातीय तत्त्व श्वास, भोजन, स्पर्श आदि के द्वारा हमारे शरीर में पहुँच जाते हैं। परन्तु हमारे शरीर में रक्त के श्वेताणु आदि ऐसे तत्त्व हैं जो इनके साथ युद्धकर इनको पराजित कर

इनको नष्ट कर देते हैं। इन्हीं विजातीय पदार्थों व शरीर को आघात पहुँचाने वाले कीटाणुओं पर विजय पाने वाली प्रकृति पराघात कहलाती है।

उपघातनामकर्म

उपघात का अर्थ है अपने ही अंग द्वारा अपने शरीर को हानि पहुँचाना। वर्तमान में उपघात के उदय से प्रतिजिह्वा, चोर दांत, रसौली आदि उपघातकारी विकृत अवयवों की प्राप्ति माना जाता है, परन्तु संसार के समस्त जीवों के शरीर पर्याप्ति की उपलब्धि होते ही नियम से उपघात का उदय होता है। यह उदय शरीर के साथ मृत्यु पर्यन्त होता रहता है। साधारण एकेन्द्रिय वनस्पति काय के जीव जो एक शरीर में अनंत होते हैं, उनके भी उपघात का उदय सदैव रहता है और इन्द्रिय—प्राप्ति के पहले ही इसका उदय हो जाता है। अतः इसका सम्बन्ध इन्द्रिय से नहीं हो सकता। आहार करने से शरीर बनते ही उसमें विजातीय पदार्थ उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाते हैं, जो शरीर के लिए घातक हैं। अतः शरीर में इन विजातीय पदार्थों की उत्पत्ति को उपघात कहना अधिक उपयुक्त लगता है।

जिस कर्म के उदय से स्वयं के शरीर का घात हो, शरीर को हानि पहुँचे, उसे उपघात नाम कर्म कहते हैं। इससे शरीर में स्थित रक्त संस्थान, पाचन संस्थान, श्वास संस्थान आदि संस्थानों व अवयवों में सदैव कुछ विजातीय पदार्थों से अनेक विकार उत्पन्न होते ही रहते हैं। कुछ विकार बाहरी वातावरण जैसे दूषित वायु, दूषित खाद्य आदि पदार्थों के द्वारा भी शरीर में प्रकट होते हैं, कई संक्रामक रोगों के कीटाणु भी शरीर में प्रवेश कर जाते हैं जिनके द्वारा शरीर में हानिकारक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो हानि पहुँचाती हैं। यह सब उपघात प्रकृति का उदय है। यह पुद्गल विपाकी प्रकृति है। इसका फल शरीर में पुद्गलों के रूप में ही होता है। इसे पाप प्रकृति कहा गया है।

उपघात—पराघात (प्रतिरोध तंत्र)— पराघात एवं उपघात कर्म—प्रकृति पुद्गल विपाकी हैं। पुद्गल—विपाकी शब्द का अर्थ है इनका फल शरीर के पुद्गलों के रूप में ही प्रकट होता है। इनमें उपघात प्रकृति को पाप प्रकृति और पराघात प्रकृति को पुण्य प्रकृति कहा है, जो उचित ही है। कारण कि उपघात प्रकृति उसे कहा जाता है जिससे शरीर को हानि पहुँचे और पराघात प्रकृति उसे कहा जाता है जिससे दूसरे पर विजय मिले।

शरीर में हानि उत्पन्न होने का क्या कार्य है? इस पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि शरीर में स्थित रक्त संस्थान, पाचन संस्थान, श्वास संस्थान आदि सभी संस्थानों में प्रतिक्षण कोई न कोई विकार उत्पन्न हो रहा है। रक्त में प्रतिक्षण अशुद्धि आ रही है। इस अशुद्धि का शोधन हृदय के संचालन से हो रहा है तथा पसीने आदि के रूप में वह अशुद्धि बाहर निकलती है। पाचन संस्थान में विकार उत्पन्न हो रहा है जो मल-मूत्र के रूप में वह बाहर निकलता है। श्वसन द्वारा बाहर निकले वाली वायु भी अंदर की विकारयुक्त वायु ही है, जिसमें कार्बन-डाई-आक्साइड मिला हुआ है, जो शरीर के लिए हानिकारक होता है। शरीर में इन हानिकारक पदार्थों का उत्पन्न होना ही उपघात प्रकृति है।

तात्पर्य यह है कि शरीर में निरन्तर हानि पहुँचाने वाले अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते ही रहते हैं तथा शरीर उन्हें श्वास आदि के द्वारा बाहर निकालने का कार्य करता ही रहता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता है कि जिसमें विकार उत्पन्न न होते हों। शरीर में विकार उत्पन्न होने की यह प्रक्रिया शरीर के धारण करने के साथ चालू हो जाती है। इसीलिए कर्म-सिद्धान्त में शरीर पर्याप्ति के साथ ही उपघात प्रकृति का उदय माना है।

जिन जीवों की पराघात प्रकृति कमजोर होती है उनके शरीर पर बाहर से आक्रमण करने वाले क्षय, हैजे आदि के कीटाणु विजयी हो जाते हैं और थोड़े से समय में ही वे अपनी संतति बढ़ाकर लाखों-करोड़ों की संख्या में हो जाते हैं और वह प्राणी क्षय रोग व हैजे आदि से पीड़ित हो जाता है। चिकित्सक पुनः उनकी उन कीटाणुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति को बढ़ाने के लिए औषधियाँ देते हैं और औषधियों से जब पराघात प्रकृति की शक्ति बढ़ जाती है तब वह रोग के कीटाणुओं को युद्ध में हराकर उनका नाश कर देती है। तब प्राणी पुनः रोग मुक्त हो जाता है। नगर में हैजे आदि का रोग फैलने पर एक ही वातावरण व एक ही घर में रहने पर भी कुछ व्यक्ति रोग ग्रस्त नहीं होते हैं और कुछ व्यक्ति रोग ग्रस्त हो जाते हैं। इसका भी कारण यही है कि जिसके शरीर में ऐसे तत्त्व विपुल मात्रा में विद्यमान हैं, जो रोग के कीटाणु पर आक्रमण करके उनका नाश करने में समर्थ हैं, तो वह व्यक्ति उस रोग से बच जाता है। परन्तु जिस व्यक्ति में रोग के कीटाणुओं पर विजय पाने वाले तत्त्वों की कमी हो वह

उस रोग से ग्रस्त हो जाता है। कर्म—सिद्धान्त की भाषा में यह कहा जा सकता है कि सबल पराघात प्रकृति वाला व्यक्ति संक्रामक रोगों से बच जाता है और निर्बल पराघात प्रकृति वाला व्यक्ति संक्रामक रोग से आक्रांत हो जाता है।

श्वासोच्छ्वास नामकर्म

नामकर्म की प्रकृतियों में 'श्वासोच्छ्वास नाम कर्म' प्रकृति जीव विपाकी प्रकृति है। कारण कि इस क्रिया का सम्बन्ध जीव के भाव से है, न कि पुद्गलों से। श्वास छोड़ने में जो वायु बाहर निकलती है वह विकृत होती है और उसका विकृत होना उपघात प्रकृति का कार्य है और श्वास में ग्रहण की गई वायु से आक्सीजन ग्रहण करना, उसका उपयोग करना, उसे यथास्थान पहुँचाना, उससे नव—निर्माण करना, शरीर को पुष्ट करना आदि शरीर, बंधन, संघातन व निर्माण आदि नामकर्म की पुद्गल विपाकी प्रकृतियों के कार्य हैं। इस प्रकार वायु के रूप में ऑक्सीजन आदि पुद्गलों का आना व कार्बन—डाई—ऑक्साइड पुद्गलों का वायु के रूप में निकलना ये दोनों बातें पुद्गलों से अर्थात् पुद्गल विपाकी प्रकृतियों से संबंधित हैं, परन्तु श्वास को निकालने व छोड़ने की प्रक्रिया किन्हीं पुद्गलों द्वारा नहीं होती है प्रत्युत स्वयं जीव के द्वारा होती है। इसी कारण श्वसन की यह प्रक्रिया जीवन की द्योतक है। इसीलिए प्रक्रिया या प्रवृत्ति के बंद होते ही जीवन का भी अंत हो जाता है।

श्वासोच्छ्वास के जीव विपाकी होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि श्वास की गति के तीव्र—मंद होने का सम्बन्ध जीव के भावों के साथ है। जब जीव में राग—द्वेष, काम—क्रोध आदि विकार तीव्र होते हैं तो श्वास की गति तीव्र हो जाती है। राग की तीव्रता से ही संभोग के समय श्वास की गति तीव्र हो जाती है। इस प्रकार विषय—कषाय रूप विकारों का सम्बन्ध श्वासोच्छ्वास के साथ है। जब चित्त शान्त व एकाग्र होता है तो स्वतः श्वास की गति धीमी हो जाती है एवं कुम्भक होने लगता है। श्वास का सम्बन्ध भावों के साथ होने से ही इसे जीव विपाकी प्रकृति कहा गया है।

तीर्थकर प्रकृति

जिस कर्म के उदय से जीव धर्म तीर्थ की स्थापना करे उसे तीर्थकर नामकर्म कहते हैं। इसका उदय कैवल्य दशा में ही होता है।

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर जब यह अनुभव होता है कि दुःख का कारण विषय—कषाय, राग—द्वेष आदि विकार हैं, इन विकारों से ग्रस्त सभी प्राणी दुःखी हैं, इन प्राणियों का कल्याण राग—द्वेष आदि विकार दूर होने में है। मैं इन्हें वह मार्ग बताऊँ जिस पर चलकर इनके विकार दूर हों और इनका कल्याण हो। कल्याण करने की इस भावना का अत्यन्त तीव्र होना तीर्थंकर प्रकृति का सूचक है। चौथे गुणस्थान में कल्याणकारक सेवाभाव का अनुभाग सीमित होता है, परन्तु जैसे—जैसे साधक साधना पथ पर आगे बढ़ता जाता है उसका सेवाभाव विस्तृत होता जाता है तथा कर्तृत्व भाव घटता जाता है। यह कल्याणकारी सेवाभाव जितना विभु होता जाता है, तीर्थंकर प्रकृति का अनुभाग उतना ही बढ़ता जाता है जो आठवें गुणस्थान में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। उस समय उसमें संसार के समस्त जीवों का कल्याण हो, सब जीव निर्विकार हों, यह उत्कृष्टभाव हो जाता है। फिर केवलज्ञान प्रकट होने पर वह तीर्थ की स्थापना करता है और भव्य जीवों को मुक्ति के मार्ग का उपदेश देता है।

त्रस नाम कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्व—प्रयत्न से चल सके वह त्रस नाम कर्म है। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस जीव हैं।

स्थावर नाम कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव स्वेच्छा से न चल सके, एक ही स्थान पर स्थिर रहे, वह स्थावर नाम कर्म है।

बादर नामकर्म

जिस जीव का शरीर छेदा, भेदा जा सके, ऐसे स्थूल शरीर का मिलना बादर नामकर्म है।

सूक्ष्म नामकर्म

जिस जीव का शरीर अदृश्य हो एवं इतना सूक्ष्म हो कि छेदा—भेदा नहीं जा सके वह सूक्ष्म नामकर्म है।

पर्याप्त नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों से युक्त हो, उसे पर्याप्त नाम कर्म कहते हैं।

अपर्याप्त नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर सके, उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

प्रत्येक नामकर्म

जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव को अपना शरीर पृथक् मिले उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

साधारण नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव अपना पृथक् शरीर न होकर अनेक जीवों का एक ही शरीर हो, उसे साधारण नामकर्म कहते हैं।

स्थिर-अस्थिर नामकर्म

शारीरिक पुद्गलों का यथावत् स्थान पर रहना 'स्थिर' और उनका च्युत हो जाना 'अस्थिर' नामकर्म है। वर्तमान में स्थिर नामकर्म के उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त होना और अस्थिर नामकर्म के उदय से जिह्वा, रक्त-संचरण आदि अस्थिर अवयव प्राप्त होना माना जाता है, परन्तु ऐसा मानने से प्रथम तो अन्तराल गति में औदारिक, वैक्रिय शरीर व इनके अवयव- अंगोपांग होते ही नहीं हैं, वहाँ स्थिर-अस्थिर का उदय मानने में आपत्ति आयेगी। वहाँ केवल तैजस और कार्मण शरीर का उदय है। अतः इनके अर्थ तैजस व कार्मण शरीर से संबंधित स्थिरता-अस्थिरता से भी होने चाहिए।

द्वितीय बात यह है कि अस्थिर नाम कर्म पाप प्रकृति है, अतः इस अर्थ के अनुसार अस्थिर जिह्वा की प्राप्ति व क्रिया को पापकार्य का उदय और स्थिर दाँत की प्राप्ति को पुण्यकर्म का उदय मानना होगा जो भूल होगी, कारण कि दाँत की प्राप्ति को पुण्य कर्म का और जीभ की प्राप्ति को पापकर्म का उदय मानना उचित नहीं है।

अथवा

शरीर के अंगोपांग व अवयवों की जहाँ पर जैसी बनावट है उसमें पुद्गलों का परिवर्तन बराबर होते रहने पर भी उसकी बनावट ज्यों की त्यों स्थिर रहना तथा वात, पित्त, कफ आदि का चलायमान न होना, कुपित न होना आदि स्थिर नामकर्म है। यह शरीर की स्वस्थता का द्योतक है। इसे ही स्थिर नामकर्म कहा जा सकता है।

इसी प्रकार शरीर के अंगोपांग व अवयवों का चलायमान होना, जैसे अंडकोश का उतर जाना, वात, पित्त, कफ का कुपित हो जाना, शरीर की अस्वस्थता का द्योतक है। इसे ही अस्थिर नामकर्म कहा जा सकता है।

शुभ—अशुभ नामकर्म

वर्तमान में शुभ नामकर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त होना माना जाता है और नाभि के नीचे के अवयव अप्रशस्त होने से उनको अशुभ माना जाता है, परन्तु ऐसा माना जाय तो बाधा यह आती है कि शुभ और अशुभ इन दोनों नामकर्म का उदय अन्तराल गति में भी होता है। वहाँ औदारिक शरीर नहीं होने से नाभि है ही नहीं। द्वितीय, संसार के समस्त जीवों के किसी भी शरीर के उदय रहते हुए इन दोनों का युगपत् ध्रुव उदय है। अतः संसार के सभी जीवों के सदैव नाभि से ऊपर के अवयव प्रशस्त और नीचे के अवयव अप्रशस्त मानने होंगे। फिर समचतुरस्र संस्थान जिसमें सभी अंग, नाभि के नीचे के अंग भी प्रशस्त होते हैं तब अशुभ कर्म के उदय के अभाव का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। जो कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार उचित प्रतीत नहीं होता है। अतः शरीर में इष्ट (हितकारी), स्वास्थ्यप्रद पुद्गलों का होना शुभ नाम कर्म का और अनिष्ट (अहितकारी) अस्वास्थ्यकारी पुद्गलों का होना अर्थात् विकार युक्त या रोगग्रस्त होना अशुभ नामकर्म का उदय मानना उचित लगता है।

सुस्वर—दुःस्वर

प्रचलित अर्थ के अनुसार जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोता में प्रीति उत्पन्न करे वह सुस्वर और जो स्वर श्रोता में अप्रीति उत्पन्न करे वह दुःस्वर माना जाता है। परन्तु ऐसा मानने पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक ही व्यक्ति का, एक ही पक्षी का या एक ही पशु का स्वर कितने ही श्रोताओं को प्रिय लगता है और कितने ही श्रोताओं को अप्रिय लगता है तथा वीतराग केवली की वाणी भव्य जीवों को प्रिय और अभव्य व विरोधी जीवों को अप्रिय लगती है। इस प्रकार श्रोताओं को प्रीतिकर—अप्रीतिकर लगने के आधार पर सुस्वर और दुःस्वर माना जाय तो एकही स्वर को सुस्वर और दुःस्वर दोनों मानना होगा जो कर्म सिद्धान्त के विपरीत है, क्योंकि वहाँ किसी जीव के दोनों स्वरों का उदय युगपत् होना नहीं माना है। अपितु दोनों स्वरों में से किसी एक स्वर का ही उदय माना है। जब दुःस्वर का

उदय हो तब उसकी वाणी सभी को अप्रीतिकर लगनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः सुस्वर—दुःस्वर के उदय का सम्बन्ध स्वयं व्यक्ति को मधुर व कर्कश स्वर लगने से है। दूसरों को प्रिय और अप्रिय स्वर लगने से नहीं हो सकता।

अथवा

सुस्वर— जिस कर्म के उदय से कोमल और सुंदर कंठ मिले, बोलने की, अपने भावों को स्पष्ट प्रदर्शित करने की क्षमता प्राप्त हो, स्वर में मिठास हो, वह सुस्वर प्रकृति है। इसका प्रभाव जीव के भावों पद होने से यह जीव विपाकी प्रकृति है। एक अन्य लक्षण के अनुसार जो स्वर स्वयं जीव को मधुर लगे वह सुस्वर प्रकृति है।

दुःस्वर— जिस कर्म के उदय से कठोर और कर्कश कंठ (वाणी) मिले, जिसके उदय से अपने भावों को स्पष्ट करने की क्षमता प्राप्त न हो, वह दुःस्वर प्रकृति है। इसका प्रभाव जीव के भावों पर होता है, अतः यह भी जीव विपाकी प्रकृति है।

सुभग—दुर्भग, आदेय—अनादेय, यशकीर्ति—अयशकीर्ति नामकर्म

वर्तमान में सुभग नामकर्म का प्रचलित अर्थ है जो सबके मन को प्रिय लगे वह सुभग और अप्रिय लगे वह दुर्भग नाम कर्म है। इसी प्रकार आदेय नाम कर्म के उदय का अर्थ— जिसके वचन बहुमान्य हों, जिसका आदर दूसरे व्यक्ति करें यह माना जाता है और अनादेय के उदय का अर्थ इसके विपरीत माना जाता है। यशकीर्ति के उदय से दुनिया में यशकीर्ति प्राप्त हो और अयशकीर्ति के उदय से दुनिया में अपयश मिले यह माना जाता है। परन्तु दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति के उदय से दूसरों को अप्रिय लगाना, दूसरों के द्वारा वचन मान्य न होना, अथवा अनादर होना और दूसरों के द्वारा अपयश करना माना जाय तो व्रती श्रावक, साधु एवं वीतराग के प्रति भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है। अतः इस प्रकार व्रतधारी श्रावक, साधु एवं वीतराग के भी दुर्भग, अनोदय, अयशकीर्ति का उदय मानना होगा, जो कर्म—सिद्धान्त के विपरीत है। अतः इनके स्थान पर सुभग का अर्थ— शुभ मनोभाव, दुर्भग का अर्थ— अशुभ मनोभाव, आदेय का अर्थ— उपादेय (शुभ) आचरण, अनादेय का अर्थ— हेय (अशुभ) आचरण, यशकीर्ति का

अर्थ— उदार प्रवृत्ति, और अयशकीर्ति का अर्थ कृपण प्रवृत्ति लेना अधिक उपयुक्त लगता है।

अथवा

सामान्य केवली, मूक केवली, असोच्चा केवली, तीर्थकर केवली के सभी पुण्य प्रकृतियों का जिनमें आदेय, यशकीर्ति, आदि प्रकृतियों का नियम से उत्कृष्ट अनुभाग होता है। इनके इन प्रकृतियों के अनुभाग में कोई अंतर नहीं होता है। ऐसी स्थिति में यदि यशकीर्ति का अर्थ दूसरों के द्वारा प्रशंसा करना माना जाये तथा आदेय का अर्थ दूसरों के द्वारा आदर करना माना जाये तो यह अर्थ उपयुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि इन के इन सब प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग का उदय निरन्तर रहता है, परन्तु निरन्तर इनकी कोई प्रशंसा नहीं करता है। निर्वाण के बाद भी इनकी प्रशंसा वैसे ही होती रहती है जैसे पहले होती थी, तो क्या अब भी उनके यशकीर्ति कर्म का उदय है? उनके विद्यमान रहते भी कोई यशगान करता है तो कोई निंदा—बुराई एवं अपयशकीर्ति भी करता था। जबकि यह नियम है कि यशकीर्ति और अयशकीर्ति का तथा आदेय और अनादेय का उदय एक साथ कभी नहीं होता है।

यदि संसार के व्यक्तियों के द्वारा प्रशंसा करने को यशकीर्ति एवं आदर देने को आदेय माना जाय तो सांसारिक व्यक्ति तो जिसके पास जितनी भोग की सामग्री अर्थात् परिग्रह अधिक है, जिसे जितने अधिक भोग प्राप्त हैं जो जितना बड़ा भोगी है उसकी उतनी ही अधिक प्रशंसा या यशोगान करते हैं, उसे उतना ही अधिक आदर देते हैं। सारे इतिहास ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। इतिहास में उन्हीं राजा—महाराजाओं, सम्राटों, बादशाहों की महिमा है, यशोगान है, जिन्होंने युद्ध के रूप में अपने क्रूरतापूर्ण आततायी कार्यों से आक्रमण कर लाखों निरपराध लोगों की हत्या की, उनको लूटा, गुलाम बनाकर गाजर—मूली की तरह बेचा। ऐसे घोर हत्यारों, लुटेरों, डाकुओं, अत्यन्त क्रूर, राक्षसी, जघन्य पाप वृत्ति वालों की महिमा एवं यशोगान से इतिहास भरा पड़ा है और जो इन जघन्य—नीच, अधम, पाप कार्यों में असफल हो गया उसे अयोग्य व हीन माना गया है, उनका अनादर किया गया है। सफल पापी का आदर करना, यशोगान करना आज तक सांसारिक लोगों का कार्य रहा है। मिथ्यात्वी लोगों का कार्य

सत्य के विपरीत होता है। उन्हें भोगी या पापी और भोग व पाप ही प्रशंसनीय लगते हैं, आदरणीय लगते हैं। उनके द्वारा की गई प्रशंसा, महिमा, आदर—सत्कार—कार्य सचमुच वास्तविक प्रशंसा एवं आदर नहीं है।

कर्मसिद्धान्तानुसार व्रती श्रावकों, समस्त साधुओं एवं तीर्थकरों के दुर्भग नाम, अनादेय नाम और अयशकीर्ति का उदय कदापि नहीं होता है। जबकि दूसरों के द्वारा इनका अपमान, अनादर, तिरस्कार, निंदा, अपयश करते प्रत्यक्ष देखा जाता है। उत्तराध्ययन के 12वें अध्ययन में हरिकेशी मुनि का घोर अपमान, अनादर, अपयश, निंदा, तिरस्कार किया गया है। अन्य तीर्थियों के द्वारा भगवान महावीर का अनादर, तिरस्कार किया गया है, निंदा की गई है। अतः आम लोगों की प्रशंसा—अप्रशंसा से, यशकीर्ति—अपयशकीर्ति से एवं आदर—अनादर से आदेय—अनादेय से इस कर्म की प्रकृतियों के बंध व उदय का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आशय यह है कि सुभग—दुर्भग, आदेय—अनादेय, यशकीर्ति—अयशकीर्ति ये सब प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं। अतः ये जीव के स्वयं के भावों से तथा जीव की शुभ—अशुभ प्रवृत्ति से संबंधित हैं। जीव के कामना, ममता, विषय, कषाय आदि दोषों में वृद्धि से, दुराचरण से होने वाली अप्रसन्नता, खिन्नता, दुर्भगनाम कर्म, अकर्तव्य में वृद्धि होना, हेय कार्य करना, अनादेय है। स्वार्थपरता में वृद्धि होना, अनुदारता, संकीर्णता, अयशकीर्ति नाम कर्म है। सदाचरण—सदाचार से होने वाली प्रसन्नता या प्रमोद, सुभग नाम कर्म है। कर्तव्य परायणता, उपादेयता, आदेयनामकर्म और उदारता में आत्मीयता यशकीर्ति नाम कर्म है। ऐसा माना जाना अधिक उचित लगता है।

अथवा

सभी जीवों को सौभाग्य, आदर और यशकीर्ति पसंद है। सौभाग्य की प्राप्ति का अर्थ है उत्तम भोगों की प्राप्ति। विषय—सुखों के भोग उत्तम नहीं हो सकते। क्योंकि ये राग—द्वेष आदि विकारों से युक्त होने से आकुलतामय होते हैं। पर पदार्थों पर आश्रित होने से पराधीनता युक्त होते हैं। क्षणिक होने से नश्वर हैं। बहिर्मुख करने वाले होने से जड़ता (मूर्च्छा) युक्त होते हैं। अतः जो सुख आकुलता, पराधीनता, नश्वरता, जड़ता आदि दुःखों से युक्त है उस सुख का भोग निकृष्ट भोग है। वह दुर्भग है, सुभग (सौभाग्य) नहीं है। इसके विपरीत कामना, ममता, अहंकार आदि दोषों के घटने से,

क्षयोपशम से मिलने वाली शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता, प्रमोद के सुखों में आकुलता, पराधीनता, जड़ता आदि दोष नहीं हैं, अतः इन सुखों का भोग श्रेयस्कर है, श्रेष्ठ भोग है, सुभग है, सौभाग्य है। कामना रहित होने से अभाव का अभाव होता है। अभाव का न रहना ऐश्वर्य है, संपन्नता है। जो संपन्न है वही सौभाग्यशाली है।

जो उपादेय कार्य करता है, दूसरों का अहित करने से अपने को बचाता है। उपादेय कार्य करता है। वह ही आदर के योग्य है, आदेय है और जो उदारता एवं आत्मीयता पूर्वक दूसरों के हित में, सेवा में तत्पर होता है वह ही प्रशंसा का, यशकीर्ति का पात्र होता है। इसके विपरीत जो स्वार्थी एवं दूसरों का अहित करने वाला होता है वह अनादर का, अनादेय का पात्र होता है और जो अनुदार एवं दूसरों का शोषण करने वाला होता है वह अयशकीर्ति का पात्र होता है।

आशय यह है कि जो विषय-भोगों के सुख में आबद्ध है, स्वार्थी है, अनुदार है वह दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति का पात्र है तथा जो विषय-भोग के सुख को घटाता है, त्यागता है, हिंसा आदि दोषों से अपने को बचाता है, श्रावक व साधु है, उसके कभी भी दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति का उदय नहीं होता है। सच्चे श्रावक एवं साधु के सदैव सुभग, आदेय एवं यशकीर्ति का उदय रहता है। भले ही इनके पास धन-संपत्ति, विषय सुखों की भोग-सामग्री व सुविधा कुछ नहीं हो तथा इनका कोई अनादर तथा निंदा कर रहा हो। क्योंकि ये प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं। अतः इनका सम्बन्ध जीव के भावों से एवं आचरण से है। बाह्य भोग-सामग्री न्यून होना दुर्भग तथा अधिक होना सुभग नहीं है। दूसरों के द्वारा आदर दिया जाना और अनादर किया जाना, अनादेय नहीं है तथा दूसरों के द्वारा प्रशंसा, यशकीर्ति और निंदा किया जाना अयशकीर्ति नहीं है। सुभग, आदेय तथा यशकीर्ति ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं। अतः आत्मा के पवित्र भावों व पवित्र आचरण से इनका सम्बन्ध है इसी प्रकार दुर्भग, अनादेय तथा अयशकीर्ति पाप प्रवृत्तियाँ हैं, अतः आत्मा के अपवित्र-दूषित भावों एवं दुराचरण से इनका सम्बन्ध है।



गोत्र कर्म

गोत्र कर्म का स्वरूप

जैनागम में गोत्रकर्म के विषय में कहा है—

गोए णं भंते? कम्मं कइविठे पण्णते?

गोयमा? दुविठे पण्णते, तंजल्ल- उच्चगोए य नीयागोए व ॥

—पन्नवणा पद 23 उद्दे.2

भगवन्! गोत्र कर्म कितने प्रकार का कहा गया है?

गौतम! गोत्र कर्म दो प्रकार का है— उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

सामान्यतः उत्तम कुल में जन्म लेना उच्च गोत्र और लोकनिंद्य कुल में जन्म लेना नीच गोत्र माना जाता है। परन्तु कौनसा कुल उच्च है और कौनसा कुल नीचा है, इसका कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है। काल और क्षेत्र के अनुसार मानदंड में परिवर्तन होता रहता है। वर्ण—व्यवस्था में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि कुलों को उच्च गोत्र माना गया है, परन्तु इन वंशों में भी लोकनिंद्य पुरुषों ने जन्म लिया है और चांडाल, चमार, रैगर आदि कुलों को नीच गोत्र माना गया है, परन्तु इन वंशों में भी महात्मा, साधु—सन्तों, महापुरुषों ने जन्म लिया है तथा साधु सदैव उच्च गोत्र वाला ही होता है, नीच गोत्र वाला नहीं होता है। अतः जाति, वंश एवं वर्ण—व्यवस्था के आधार पर उच्च तथा नीच गोत्र नहीं माना जा सकता। उच्च आचरण को उच्च गोत्र और नीचे आचरण को नीच गोत्र मानना ही अधिक उपयुक्त है। जैसाकि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है—

अंतानकमेणागयजीवायणवन्न गोदमिदि अण्णा।

उच्चं णीचं चण्णं उच्चं णीचं ल्वे गोदं॥

—गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा 13

अर्थात् संतान क्रम से चला आया जो जीव का आचरण है, उसकी गोत्र संज्ञा है। जीव का ऊँचा आचरण उच्च गोत्र है और नीचा आचरण नीच गोत्र है। यहाँ ऊँचे आचरण से आशय अहिंसा, दया, शिष्टता, मृदुता,

सरलता, सज्जनता, सहृदयता आदि सद्गुणयुक्त सद्प्रवृत्ति से है और नीच आचरण से आशय अशिष्टता, निर्दयता, क्रूरता, हिंसा आदि दुर्गुणयुक्त दुर्व्यवहार से है। अतः गोत्रकर्म का सम्बन्ध आचरण से है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

ण वि मुंडिएण अमणो, ण ओंकाणेण बंभणो।
 ण मुणी ण्णवाग्गेणं , कुअचीणेण ण तावअो॥
 अमयाए अमणो छोइ, बंभचेणेण बंभणो।
 णाणेण य मुणी छोइ, तवेण छोइ तावअो॥
 कम्मुणा बंभणो छोइ, कम्मुणा छोइ न्वत्तिओ।
 वइअओ कम्मुणा छोई, अुद्धो ठवइ कम्मुणा॥

—उत्तराध्ययन 25.31—33

अर्थात् मस्तक मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता है, ओंकार का उच्चारण करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता है, वन में निवास करने से कोई मुनि नहीं हो जाता है, एवं कुश से बने चीवर (वस्त्र) के धारण करने से कोई तापस नहीं हो जाता है।।31।।

अपितु समता भाव धारण करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप करने से तपस्वी होता है।।32।।

तथा कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है, किसी वंश में जन्म लेने मात्र से नहीं।।33।।

आशय यह है कि गुणों से एवं सदाचरण से ही व्यक्ति जातिवान्, कुलवान्, बलवान्, रूपवान् एवं ऐश्वर्य संपन्न होता है। बाह्य वेशभूषा एवं पदार्थों की प्राप्ति से नहीं होता है। उच्च आचरण वाला उच्च गोत्रीय और अधम आचरण वाला नीच गोत्रीय होता है।

गोत्रकर्म जातिगत नहीं

श्रमणसंघ के आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी ने उच्च आचरण वाले को उच्च गोत्रीय और अधम आचरण करने वाले को नीच गोत्रीय कहा है, यथा— “अदाचारियों या कदाचारियों की पन्थान में जन्म लेने, वैशा वातावरण मिलने अथवा स्वीकार करने का कारणभूत कर्म गोत्र कर्म

है। जैन कर्मविज्ञान ज्ञातिकृत (कौम या वर्णकृत या आजीविकाकृत) उच्च नीच भेद को नहीं मानता। ये भेद गुणकृत या आचरणकृत माने जाते हैं। जो अच्छे आचार-विचार एवं संस्कार वाले कुल या वंश की परम्परा में जन्म लेते हैं, शिष्ट आचार-विचार को धर्मयुक्त सुसंस्कृति का स्वीकार करने चलते हैं, ऐसे मनुष्यों की संगति को जीवन का उच्चतम कर्तव्य समझते हैं और जीवन के संशोधन एवं सुसंस्करण में सहायक आचार-विचार का स्वीकार एवं क्रियान्वयन करते हैं, वे उच्चगोत्री कहलाते हैं और जो इसके विरुद्ध आचार वाले होते हैं वे नीच गोत्री से जाते हैं। नीच गोत्री अपने जीवन में अशुभ आचार-विचार-संस्कार का त्याग करने उच्च गोत्री से आते हैं। ऐसे व्यक्ति गृहस्थ श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म के पालन के अधिकारी से जाते हैं।”-कर्म विज्ञान भाग 2, पृष्ठ 348

उच्च-नीच गोत्र कर्म के इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए दिवाकर मुनि श्री चौथमल जी महाराज ‘निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य’ में फरमाते हैं-

“जायकृवं जल मट्ठं, निद्धंतमलपावगं।

नगदोन्नभयातीतं, तं वयं ब्रूम माहणं॥

— उत्तराध्ययन सूत्र, 25.21

अर्थात् अग्नि में तपा हुआ और कसौटी पर कसा हुआ सुवर्ण गुणयुक्त होता है, उसी प्रकार राग, द्वेष और भय से अतीत पुरुष को हम ब्राह्मण कहते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र की इस गाथा में तथा इसके आगे की गाथाओं में सूत्रकार ने ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप दर्शाया है।

“भारतवर्ष में, प्राचीन काल से एक ऐसा वर्ग चला आया है जो अपनी सत्ता, अन्य वर्गों पर स्थापित करने के लिए तथा स्थापित की हुई सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अखण्ड— एक जातीय मानव-समाज को अनेक खण्डों में विभक्त करता रहा है। गुण और कर्म के आधार पर समाज की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना उचित है, जिसमें व्यक्ति के विकास को भी अधिक से अधिक अवकाश हो, परन्तु जन्म के आधार पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है। इस अनौचित्य का परिहार करने का ही यहाँ प्रयत्न किया गया है। एक व्यक्ति

दुःशील, अज्ञान और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सत्त्वगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म ग्रहण करने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाज-घातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान है। इस दोषपूर्ण व्यवस्था को अंगीकार करने से 'दुराचार' सदाचार से ऊँचा उठ जाता है, 'अज्ञान' ज्ञान पर विजय प्राप्त करता है और 'तमोगुण' सत्त्वगुण के सामने आदरास्पद बन बैठता है। यह ऐसी स्थिति है, जो गुण-ग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती।

अतएव वर्ण-विभाग का आधार जन्म न होकर गुण और कर्म ही हो सकता है। गुणों के कारण ही कोई व्यक्ति आदरणीय या प्रतिष्ठित होना चाहिए या अनादरणीय और अप्रतिष्ठित माना जाना चाहिए। इसमें भी एक बात और ध्यान देने योग्य है। वर्ण विभाग वंश-परम्परागत कर्म के अनुसार हो तो समाज का अधिक विकास हो सकता है और उस वर्ण वाले में प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, आदरणीयता-अनादरणीयता आदि का भेद गुण पर अवलम्बित होना चाहिये।" —निर्ग्रन्थ प्रवचन भाष्य, पृष्ठ 289

सारांश यह है कि पिता भूप है, जैन धर्मानुयायी है और माता का वंश, ननिहाल पक्ष वाले भी धर्मानुयायी —सद्प्रवृत्तियों के करने वाले हैं, उच्च जाति, कुल के हैं वे उच्च गोत्री हैं, उनके पुत्र शराबी, जुआरी, वेश्यागमन करने वाले, अभक्ष्य सेवन करने वाले, व्यसनी हो गये तो वे नीच गोत्री माने जायेंगे। एक ही कुल (वंश) में पैदा होकर आचरण से पिता उच्च गोत्री व पुत्र नीच गोत्र वाला कहलाएगा। इसलिये गोत्र कर्म के सम्बन्ध में बाह्य जाति, कुल, रंग, रूप, धन, प्रतिष्ठा का कोई महत्त्व नहीं है, आचरण से गोत्र का सम्बन्ध है।

'गोत्र' का अर्थ वर्तमान में प्रायः जाति से ही लगाया जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति में जन्म लेने वाले को उच्च गोत्रकर्म का उदय तथा भंगी, चमार, रैगर आदि शूद्र जातियों में जन्म लेने वाले को नीच-गोत्र का उदय मानते हैं, परन्तु दिगम्बराचार्य श्री वीरसेन ने गोत्रकर्म

की परिभाषा करते हुए धवला टीका, पुस्तक 13, पृष्ठ 388 में स्पष्ट कहा है— गोत्र का सम्बन्ध न ऐश्वर्य से है, न योनि से है, न जाति, वंश, कुल परम्परा से है यथा—

“गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ होती हैं— उच्च गोत्र और नीच गोत्र। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं।

शंका— उच्चगोत्र का व्यापार कहाँ होता है? राज्यादि रूप सम्पदा की प्राप्ति में तो उसका व्यापार होता नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सातावेदनीय कर्म के निमित्त से होती है। पाँच महाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता भी उच्चगोत्र की हेतु नहीं कही जा सकती है, क्योंकि ऐसा मानने पर जो देव और अभव्य जीव पाँच महाव्रतों को नहीं धारण कर सकते हैं, उनमें उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में उसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ज्ञानावरण के क्षयोपशम से सहकृत सम्यग्दर्शन से होती है तथा ऐसा मानने पर तिर्यचों और नारकियों के भी उच्चगोत्र का उदय मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्य की प्राप्ति में इसका व्यापार होता है; यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति नामकर्म के निमित्त से होती है। इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति में भी इसका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे काल्पनिक हैं, अतः परमार्थ से उनका अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में उच्चगोत्र का उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनों से जीवों की उत्पत्ति में इसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस तरह तो म्लेच्छराज से उत्पन्न हुए बालक के भी उच्च गोत्र का उदय प्राप्त होता है। अणुव्रतियों से जीवों की उत्पत्ति में उच्चगोत्र का व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर औपपातिक देवों में उच्च गोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है तथा नाभिपुत्र नीचगोत्री ठहरते हैं। इसलिए उच्चगोत्र निष्फल है और इसीलिए उसमें कर्मपना भी घटित नहीं होता। उसका अभाव होने पर नीचगोत्र भी नहीं रहता, क्योंकि वे दोनों एक—दूसरे के अविनाभावी हैं। इसलिए गोत्रकर्म है ही नहीं।

समाधान— नहीं, क्योंकि जिनवचन के असत्य होने में विरोध आता है। वह विरोध भी वहाँ उसके कारणों के नहीं होने से जाना जाता है।

दूसरे, केवलज्ञान के द्वारा विषय किये गये सभी अर्थों में छद्मस्थों के ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसीलिए यदि छद्मस्थों को कोई अर्थ नहीं उपलब्ध होते हैं तो इससे जिनवचन को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नहीं है; क्योंकि, जिनका दीक्षायोग्य साधु-आचार है, साधु-आचारवालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचनव्यवहार के निमित्त हैं, उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहा जाता है। उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है। यहाँ पूर्वोक्त दोष सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उनके होने में विरोध है। उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र है। इस प्रकार गोत्रकर्म की दो ही प्रकृतियाँ होती हैं।" वस्तुतः गोत्रकर्म का सम्बन्ध जातिगत न होकर जीव के ऊँच-नीच भावों से है, जैसाकि श्री वीरसेनाचार्य ने अन्यत्र कहा है—

उच्चुच्च उच्च तह उच्चणीच नीचुच्चणीचणीचं च।

जन्मोदण भावो णीचुच्चविवज्जिदो तन्म॥१०॥

—धवला, पुस्तक 7

जिस गोत्रकर्म के उदय से जीव उच्चोच्च, उच्च, उच्चनीच, नीचोच्च, नीच और नीचनीच भाव को प्राप्त होता है उसी नीच गोत्र के क्षय से वह जीव उच्च एवं नीच भावों से मुक्त होता है।

इससे स्पष्ट है कि गोत्रकर्म का सम्बन्ध भावों से है, क्योंकि यह जीव विपाकी कर्म प्रकृति है, पुद्गल विपाकी नहीं है। यदि यह पुद्गल-विपाकी कर्म होता तो शरीर से संबंधित होता। उच्च-नीच अर्थात् गुरु और लघु भावों से मुक्त होना ही अगुरु, लघु गुण का प्रकट होना है।

गोत्रकर्म के बंध हेतु

पहले कह आये हैं कि गोत्र कर्म के दो भेद हैं— नीच गोत्र एवं उच्च गोत्र। इनमें से नीच गोत्र पाप प्रकृति है। जिसका उपार्जन (आस्रव) मद से अर्थात् मान कषाय के उदय से होता है तथा उच्च गोत्र पुण्य प्रकृति है जिसका उपार्जन मृदुता से अर्थात् मान कषाय की कमी से होता है। जैसा कि कहा है—

माणं मद्दवया जिणे॥ (उत्तरा.अ.8, गाथा 39)

माणविजएणं मद्दवं जणयइ॥ (उत्तरा. अ. 29 सूत्र 69)

मद्वयाए णं अणुविमयतं जणयई। अणुविमयतेण जीवे मिउ-मद्व-
अपन्ने अट्ठ-मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ। (उत्तनाध्ययन अध्ययन 29
सूत्र 50)

गोयमा? जाइअमएणं, कुल-अमएणं, बल-अमएणं, ऋव-
अमएणं, तव-अमएणं, सुय-अमएणं, लाभ-अमएणं,
इन्मनिय-अमएणं, उच्चा- गोयकम्मा अवीन-जावपओग-बंधे।
(भगवतीसूत्र शतक 8, उद्देशक 9, सूत्र 109)

मान कषाय को मृदुता से जीते अर्थात् मान कषाय पर विजय से
मृदुता गुण प्रकट होता है। मृदुता से जीव अनुद्धत भाव को प्राप्त होता है।
अनुद्धतभाव (विनय) से, मृदुता से जीव जातिमद आदि आठ मदों को नष्ट
कर देता है। जाति मद, कुल मद, बल मद, रूप मद, तप मद, श्रुत मद,
लाभ मद और ऐश्वर्य मद इन आठ मदों को न करने से उच्च गोत्र का
बंध होता है।

गोयमा? जाइमएणं, कुलमएणं, बलमएणं, जावइन्मनियमएणं,
णीयागोयकम्मा जाव पओगबंधे। (भगवती सूत्र शतक 8, उद्देशक
9, सूत्र 110)

अर्थात् जाति मद, कुल मद आदि उपर्युक्त आठ मद करने से अर्थात्
मान कषाय से नीच गोत्र रूप पाप प्रकृति का बंध होता है।

यह नियम है कि प्राणी जिस वस्तु का मद या अभिमान करता है
अर्थात् जिस वस्तु के आधार पर अपना मूल्यांकन करता है उस वस्तु का
मूल्य व महत्त्व बढ़ जाता है और स्वयं उस व्यक्ति का मूल्य घट जाता है।
फिर जिसके पास वह वस्तु उससे अधिक है उसके समक्ष वह व्यक्ति अपने
को दीन-हीन अनुभव करता है। उससे अपने को निम्न स्तर का, निम्न
श्रेणी का मानता है। वह हीनता और अभिमान की अग्नि में जलता रहता
है। यह हीनता-दीनता की भावना ही नीच गोत्र का हेतु है। इसके
विपरीत जो व्यक्ति अपना मूल्यांकन वस्तु, परिस्थिति आदि के आधार पर
नहीं करता है, वह मद रहित एवं निरभिमान हो जाता है। उसमें ऊँच-नीच
भाव, छोटे-बड़े का भाव, हीन-दीन भाव पैदा नहीं होता है। यही
निरभिमानता उच्च गोत्र के उपार्जन का हेतु है।

तात्पर्य यह है कि मान कषाय से उत्पन्न मद से नीच गोत्र का उपार्जन एवं बंध होता है और मान कषाय के क्षय व कमी से विनम्रता—मृदुता से उच्च गोत्र का उपार्जन होता है।

अथवा

उच्च—नीच संस्कार गोत्रकर्म है। संयम, त्याग, स्वभाव की ओर गति होना उच्च गोत्र है तथा भोग की ओर गति होना नीच गोत्र है। पर पदार्थ के आधार पर अपना मूल्यांकन करना, गर्व करना, गौरवशाली मानना नीच गोत्र है। इससे अपने से अधिक सम्पन्न को देखकर हीन भाव पैदा होता है। हीन भाव पैदा होना नीच गोत्र है।

वस्तु आदि के आधार पर अपना मूल्यांकन नहीं करने से समभाव की ओर गति होती है। इससे आत्म—संतुष्टि होती है। हीन भावना पैदा नहीं होती है। समभाव में रहना, सदाचरण होना उच्च गोत्र है।

इसी तथ्य को प्रकारान्तर से तत्त्वार्थ सूत्र में उच्च गोत्र और नीच गोत्र के बंध के हेतुओं का विवेचन करते हुए कहा है—

**परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।।
तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेको चोत्तरस्य ।।**

—तत्त्वार्थसूत्र 6.24—25

परनिंदा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सदगुणों का आच्छादन, असदगुणों का प्रकाशन— ये नीच गोत्र के बंध के हेतु हैं। इसके विपरीत परप्रशंसा, आत्मनिंदा, दूसरों के सदगुणों का प्रकाशन एवं दुर्गुणों का आच्छादन तथा नम्रवृत्ति या निरभिमानता— ये उच्च गोत्र के बंध के हेतु हैं।

इस सूत्र के अनुसार मद करने से नीचगोत्र कर्म बंधता है। 'मद' है अच्छाई एवं गुण का अभिमान। जिसे अपने गुण दिखाई देते हैं उसे अपने अवगुण या दोष नहीं दिखाई देते। उसे अन्य कोई उसके दोष दिखाये तो वह उसे शत्रु समान लगता है। वह अपने को दोषी मानना ही नहीं चाहता। (1) वह अपने दोष देखना ही नहीं चाहता। अतः उसे दोष दिखते ही नहीं (2) यदि अन्य कोई उसे उसके दोष बतावे तो वह उसे स्वीकार करना ही नहीं चाहता। (3) यदि उसे अपने दोष स्वीकार करने पड़ें, तो वह उन दोषों को ढकना या छिपाना चाहता है। (4) उन दोषों को गुणों का परिधान पहनाकर गुण रूप में प्रकट करना चाहता है। (5) जो गुण अभी नहीं हैं

उन गुणों का भी बाहर में मिथ्या प्रदर्शन करता है। (6) उसे दूसरों के दोष दिखाई देते हैं। (7) दूसरों के गुणों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता है। (8) यदि दूसरों में गुण दिखाई दें तब भी उन्हें प्रकट नहीं करता है। (9) वह दूसरों को उनके दोष दिखाकर दूर करने की शिक्षा देने को आतुर रहता है। (10) उसे अपने गुण-गौरव का गान अच्छा लगता है उसे प्रतिष्ठा का व्यामोह हो जाता है। (11) उसमें गुणों से अभिन्नता नहीं हो पाती। (12) वह गुण नहीं होने पर भी गुणों को ओढ़ता है, आरोपित करता है। गुणों का अभिमान सबसे भयंकर दोष है। कारण कि यह दोष गुण के गर्व व गौरव के में रूप में अर्थात् गुण के रूप में प्रकट होता है। जो दोष, दोष के रूप में ज्ञात हो या प्रकट हो उसे दूर करने की व्याकुलता जग सकती है, परन्तु जो दोष गुण के रूप में प्रकट हो उस दोष को उसे दूर करने की भावना या विचार ही नहीं आता है। अपितु अधिक बढ़ाने का प्रयत्न होता है।

अभिमान या मद नशा है। इससे स्वरूप-विस्मृति होती है, जड़ता आती है। अपने से अधिक बड़े आदमियों, गुणीजनों को देखकर 1. ईर्ष्या और 2. हीन भावना उत्पन्न होती है। यह नीच गोत्र है। अपने गुणों का गर्व व गान करने वाला निंदनीय होता है, जो नीच गोत्र का द्योतक है। जो साधक अपने को दूसरों से श्रेष्ठ, गुणी एवं ज्ञानी होने का अभिमान रखता है, दूसरों के दोषों को देखता रहता है और उनको दूर करने के लिए दूसरों को उपदेश देता रहता है और अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है, उसका चित्त कभी शुद्ध नहीं होता है। यही कारण है कि वह अनेक वर्षों तक साधना करते हुए भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता है।

जो मनुष्य नेता या प्रचारक बन जाता है या उपदेष्टा बन जाता है उसका चित्त शुद्ध होना अति कठिन है, क्योंकि वह दूसरों के दोषों को देखने लगता है। वह अपने दोषों को प्रकट नहीं कर सकता। अपने दोषों को छिपाना उसका स्वभाव बन जाता है। दूसरों के दोषों को देखना तथा उनके गुणों को छिपाना, अपने गुणों का अभिमान तथा प्रदर्शन करना, ये सभी चित्त की अशुद्धि के कारण हैं। इसलिए नेता या गुरु बनने को पतन का हेतु माना गया है। साधक को इस बुराई से बचना चाहिए। गुण का

अभिमान तभी तक बराबर बना रहता है जब तक साधक को यह भान होता है कि मैं संयमी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, क्षमावान हूँ। जब तक व्यक्ति अपने को गुणों का स्वामी मानता है, अपनी देन मानता है तब तक उसमें अहंभाव ज्यों का त्यों बना रहता है। जब तक अहं भाव रहता है तब तक साधन और साध्य में भिन्नता रहती है। गुण की साधक के जीवन में अभिन्नता हो जाने पर अहंभाव (गुण का अभिमान) मिट जाता है और गुण पूर्ण रूप में प्रकट हो जाता है।

हीनता—दीनता और गोत्र कर्म

अब प्रश्न यह है कि हीनता व दीनता का अनुभव कौन करता है? उत्तर में कहना होगा कि जो अपना मूल्यांकन वस्तु, व्यक्ति (परिजन—दास, दासी) परिवार, परिजन परिस्थिति आदि के आधार पर करता है, जो भूमि—भवन, धन—धान्य, नौकर—चाकर आदि के होने से तथा बल, रूप, विद्या, प्रशंसा, सम्मान आदि से अपने को बड़ा मानता है, अभिमान करता है और इनके न होने से अपने को छोटा मानता है उसी में हीनता व दीनता के भाव उत्पन्न होते हैं। जब वह इन सब बातों में अपने से कम सम्पत्ति व सामग्री वालों को देखता है तो उसमें अहंभाव पैदा होता है और वह मान के नशे में अपना स्वरूप भूल जाता है। परन्तु जब वह अपने से अधिक धनवान, विद्वान्, बलवान, सम्पन्न व्यक्तियों को देखता है तो उसमें अपने भीतर हीनता—दीनता का अनुभव होता है। अथवा जब इन वस्तुओं भूमि, भवन, विद्या, बुद्धि, बल, रूप, सम्मान आदि की कमी आ जाती है या नष्ट हो जाते हैं तो वह अपने को दीन—हीन अनुभव करता है अथवा इनकी क्षति, कमी या नाश के भय से उसे सदैव दीनता—हीनता का दुःख सताता रहता है। इस प्रकार वह सदैव दीनता और अभिमान की अग्नि में जलता रहता है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु, विद्या, बल, रूप आदि पर एवं विनाशी वस्तुओं के आधार पर अपने को बड़ा मानना ही हीनता का आह्वान करना है। विनाशी वस्तुओं के आधार पर अपने को बड़ा मानने वाला व्यक्ति अपना मूल्य खो देता है, कारण कि उसकी दृष्टि में मूल्य वस्तुओं का, पर का ही रह जाता है। उसका उनके साथ इतना तादात्म्य एवं अहंभाव हो जाता है कि वस्तुओं के नाश से वह अपना नाश, उनकी उपलब्धि में अपना

जीवन मानने लगता है। इसीलिए आगम में मान या मद को नीच गोत्र का कारण बताया है, जो उपयुक्त ही है। जो व्यक्ति अपना मूल्यांकन विनाशी वस्तुओं की उपलब्धि के आधार पर नहीं करता है, वह दीनता—हीनता से बचा रहता है और वही व्यक्ति उच्च गोत्रीय है।

भूमि, भवन आदि विनाशी वस्तु का मूल्य भोगी जीव की दृष्टि में होता है। अतः भोगी जीव ही इन के आधार पर अपना मूल्यांकन करता है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि भोग में निमग्न जीव नीच गोत्रीय और भोग से ऊपर उठने की अर्थात् साधुत्व की योग्यता वाले जीव उच्च गोत्रीय हैं।

मद—त्याग से उच्च गोत्र

मद (अहंकार—अहंभाव) मान कषाय का द्योतक है और मृदुता मान कषाय के क्षीणता की द्योतक है। मद का मर्दन होना, मृदुता का प्रादुर्भाव होना है। मृदुता में माधुर्य भाव, हृदय की कोमलता व प्रेम होता है। उसे सब जीव प्यारे लगते हैं। वह भी सबको प्रिय लगता है। जो प्रिय लगता है वह श्रेष्ठ जातिमान, कुलवान, बलवान व रूपवान भी लगता है। अतः मृदुता सम्पन्न व्यक्ति सभी को श्रेष्ठ जाति—सम्पन्न, श्रेष्ठ कुल—सम्पन्न, बलवान एवं रूपवान (सुन्दर) लगता है। इस प्रकार निरहंकारता या मृदुता गुण से जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ एवं ऐश्वर्य की विशिष्ट उपलब्धि होती है। सामान्य और विशिष्ट उपलब्धियों में महान् अन्तर है। व्यक्ति के शरीर और संसार से सम्बन्धित लौकिक उपलब्धि सामान्य होती है, कारण कि यह नश्वर होती है, जड़ता व अभाव युक्त होने से अपूर्ण होती है। जबकि व्यक्तित्व से सम्बन्धित उपलब्धि विशिष्ट—अलौकिक होती है। इसमें नश्वरता, जड़ता, अभाव आदि दोष नहीं होते, यह व्यक्ति के स्वभाव व गुण से सम्बन्धित होती है। अतः यह विशिष्ट होती है। मान या मद के त्याग से अर्थात् मृदुता गुण से जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य ये विशिष्ट अलौकिक उपलब्धियाँ प्रकट होती हैं।

गोत्र कर्म और स्वाधीनता—पराधीनता

जैनदर्शन में मद या अहंभाव को नीच गोत्र का और निरभिमानता, निरहंकारता को उच्च गोत्र का हेतु कहा है। जीव में अहंभाव की उत्पत्ति पर—पदार्थ से तदरूप होने से होती है। जैसे धन से तदरूप होने से मैं

धनी हूँ; शरीर में तद्रूप होने से मैं रूपवान हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं रोगी हूँ आदि मानता है। इसी प्रकार तप, ज्ञान, सेवा, विद्या, बुद्धि आदि से तद्रूप होकर मैं तपस्वी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ आदि मानता है। यह नियम है कि स्वभाव स्वतः प्राप्त होता है। स्वभाव किसी की देन नहीं होता, वह अपने से भिन्न नहीं होता है। अतः स्वभाव का अभिमान नहीं होता है। जीव जिसको अपनी देन मानता है उसी से तद्रूप होकर, तादात्म्य कर अहंभाव उत्पन्न करता है। आशय यह है कि अहंभाव की उत्पत्ति अपने से भिन्न पर पदार्थ के तादात्म्य या पर के आश्रय से होती है। अतः अहंभाव पराश्रय, पराधीनता का सूचक है। दूसरे शब्दों में कहें तो जहाँ पराधीनता है वहाँ ही अहंभाव है, नीच गोत्र का उदय है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि तिर्यच गति के जीव खाने-पीने-रहने आदि जीवन-यापन के लिए प्रकृति के आधीन-पराधीन होते हैं और नारकीय जीवन पर-पदार्थों के आधीन होता है, भोगमय ही होता है। ये उदयमान कर्मों में परिवर्तन करने में अर्थात् अपने को भोग भोगने से रोकने में असमर्थ होते हैं, अतः ये पराधीनता, पराश्रय से मुक्त नहीं हो सकते। अतः तिर्यच और नरक गति के सभी जीवों के सदैव नीच गोत्र का उदय कहा गया है। देवता जीवन-यापन में स्वतंत्र है तथा साधुओं के जीवन में परतंत्रता नहीं है। अतः इनके सदैव उच्च गोत्र का ही उदय कहा गया है। मनुष्य के जीवन में परतन्त्रता और स्वतंत्रता दोनों सम्भव है। अतः मनुष्य के नीच गोत्र और उच्च गोत्र दोनों का उदय कहा है। वीतराग केवली के अहंभाव का, मान कषाय का सर्वांश में क्षय हो जाता है, वे पूर्ण स्वाधीन होते हैं। अतः उनके उत्कृष्ट उच्च गोत्र का उदय होता है।

गोत्रकर्म का अनुभाव (फल)

प्रश्न (क) उच्चागोयन्म णं भंते? कम्मन्म जीवेणं बद्धन्म जाव।

पोगल- पणिणामं पप्प कइविठे अणुभावे पण्णत्ते॥

उत्तर- गोयमा? उच्चागोयन्म णं कम्मन्म जीवेणं बद्धन्म जाव

पोगलपणिणामं पप्प अट्ठविठे अणुभावे पण्णत्ते। तंजख-

1. जाइविमिदठ्या, 2. कुलविमिदठ्या, 3. बलविमिदठ्या, 4. ऋवविमिदठ्या 5. तवविमिदठ्या, 6. अयविमिदठ्या, 7. लाभविमिदठ्या, 8. इन्मनियविमिदठ्या

जं वेदइ पोगलं वा, पोगले वा, पोगलपरिणामं वा, वीअस्मा वा, पोगलानं परिणामं तेअं वा उदएणं उच्चागोयं कम्मं वेदेइ, एअं णं गोयमा? उच्चागोयं कम्मं।

एअं णं गोयमा? उच्चागोयअस्स णं कम्मअस्स जीवेणं बद्धअस्स जाव पोगलपरिणामं पप्प अट्ठविठे अणुभावे पण्णते।

प्रश्न (नव) णीयागोयअस्स णं भंते? कम्मअस्स जीवेणं बद्धअस्स जाव पोगलपरिणामं पप्प कइविठे अणुभावे पण्णते?

उत्तर गोयमा? एवं चेव।

णवअं-जाइविळीणया जाव इअस्सअनियविळीणया।

जं वेदेइ, ...अस्स तं चेव जाव अट्ठविठे अणुभावे पण्णते।

-पण्णवणा पद 23, उद्दे.1

प्रश्न (क) भंते! जीव के द्वारा बद्ध यावत् परिणाम को प्राप्त करके उच्च गोत्र कर्म का कितने प्रकार का अनुभाव (अनुभाव एवं फल) कहा गया है?

उत्तर- गौतम! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल परिणाम को प्राप्त करके उच्च गोत्र कर्म का आठ प्रकार का अनुभाव(फल) कहा गया है, यथा-

1. जाति विशिष्टता 2. कुल विशिष्टता 3. बल विशिष्टता 4. रूप विशिष्टता 5. तप विशिष्टता 6. श्रुत विशिष्टता 7. लाभ विशिष्टता 8. ऐश्वर्य विशिष्टता।

जो पुद्गल का या पुद्गलों का, पुद्गलपरिणाम का या स्वाभाविक पुद्गलों के परिणाम से उच्चगोत्र का वेदन करता है, गौतम! यह उच्च गोत्र कर्म है।

हे गौतम! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल परिणाम को प्राप्त करके उच्च गोत्र कर्म का यावत् यह आठ प्रकार का अनुभाव (फल) कहा गया है।

प्रश्न (ख) भंते! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल परिणाम को प्राप्त करके नीच गोत्र कर्म का कितने प्रकार का अनुभाव (फल) कहा गया है?

उत्तर- गौतम! पूर्ववत् आठ प्रकार का कहा गया है, विशेषता यह है कि यह जातिविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता रूप होता है। इसमें पुद्गल

आदि के द्वारा नीचगोत्र का वेदन होता है। इस तरह जातिविहीनता आठ प्रकार का नीच गोत्र का अनुभाव (फल) कहा गया है।

गोत्रकर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थों से नहीं

बल, रूप, ऐश्वर्य, लाभ आदि आठों बातें व्यावहारिक एवं बाह्य दृष्टि से बाह्य सामग्री के रूप में तथा आभ्यन्तरिक दृष्टि से भाववाचक व गुणवाचक हैं, कारण कि ये जीव विपाकी प्रकृतियाँ हैं, अतः इनका सम्बन्ध भावात्मक है बाह्य पदार्थ नहीं। कर्म-सिद्धान्त में आभ्यन्तरिक दृष्टि को ही प्रधानता दी गयी है, बाह्य दृष्टि को नहीं। उदाहरणार्थ यदि शारीरिक बल को उच्च गोत्र के उदय का फल माना जाय तो शेर, चीता, हाथी, घोड़े आदि शरीर से बलवान् तिर्यच जीवों के उच्च गोत्र का उदय मानना होगा। इसी प्रकार शारीरिक रूप को उच्च गोत्र का उदय माना जाय तो तोता, मयूर आदि पक्षियों के उच्च गोत्र का उदय मानना होगा जो कर्म सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। कारण कि समस्त तिर्यच जीवों के नियम से नीच गोत्र का उदय कहा गया है। इसके अतिरिक्त नार्वे, स्वीडन, मंगोलिया, मंचूरिया, टुङ्गा आदि देशों के गौरवर्ण वाले सुन्दर पुरुषों, सुन्दर वेश्याओं, अन्य सुन्दर नारियों एवं दस्यु सुन्दरियों में उच्च गोत्र का उदय मानना होगा और अफ्रीका व दक्षिण भारत के काले व्यक्तियों में नीच गोत्र का उदय मानना होगा, चाहे वे गुणसम्पन्न हों। इसी प्रकार ऐश्वर्य सम्पन्न, धनवान्, भूपतियों के उच्च गोत्र का उदय मानना होगा चाहे वे दुराचारी ही हों और निर्धन, गरीब, अभावग्रस्त समस्त मनुष्यों के नीचगोत्र का उदय मानना होगा भले ही वे कितने ही सज्जन व सदाचारी हों। अतः यह मान्यता कर्म सिद्धान्त के विपरीत है। जो व्यक्ति बलहीन हैं, कमजोर हैं, कुरूप हैं, अथवा जो निर्धन हैं अर्थात् ऐश्वर्यहीन हैं अथवा जो अभावग्रस्त हैं अर्थात् लाभहीन हैं, इन सबके नीच गोत्र का उदय मानना होगा, फलस्वरूप इन्हें साधु बनने के अयोग्य एवं अनधिकारी मानना होगा, क्योंकि साधु बनने का वही अधिकारी होता है जो उच्च गोत्रीय हो अर्थात् जो बलवान् हो, रूपवान् हो, ऐश्वर्य सम्पन्न हो। बल, रूप आदि आठों में से किसी एक की भी कमी हुई तो वह साधु बनने का पात्र नहीं होगा, क्योंकि उसके नीच गोत्र का उदय मानना होगा, जो उचित नहीं है। अतः बाह्य पदार्थों एवं परिस्थिति की प्राप्ति-अप्राप्ति गोत्र कर्म का आधार नहीं है।

कर्मसिद्धान्तानुसार किसी भी जीव के एक साथ उच्च गोत्र व नीच गोत्र इन दोनों कर्म-प्रकृतियों का उदय नहीं हो सकता। इनमें से किसी एक ही कर्म प्रकृति का उदय हो सकता है। इस सिद्धान्तानुसार भी शरीर और बाह्य पदार्थों की प्राप्ति का सम्बन्ध गोत्र कर्म से नहीं हो सकता। कारण कि जिसके आठ बातों में से एक की भी कमी हो तो वह नीचगोत्र का होगा और एक की प्राप्ति हो तो उच्च गोत्रीय होगा। अतः इससे यह भी सिद्ध होता है कि ये आठों बातें आचरण से सम्बन्ध रखती हैं, शरीर व बाह्य पदार्थों से नहीं। सदाचरण वाले व्यक्ति में ये आठों ही बातें होंगी और दुराचरण वाला इन आठों बातों से हीन होगा अर्थात् सदाचारी ही जाति, कुल, रूप, बल, तप, श्रुत, लाभ एवं ऐश्वर्य संपन्न होगा और दुराचरण वाला इनसे हीन होगा। सदाचरण में वे आठों गुण समाहित हैं। अतः उपर्युक्त आठों गुण भाववाचक हैं, जाति एवं व्यक्तिवाचक नहीं है।

यदि जाति, कुल, बल, रूप आदि को शरीर से सम्बन्धित बाहरी पदार्थ माना जाय और गुणवाचक व भाववाचक न माना जाय तो उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में वर्णित हरिकेशी मुनि के साधु होने में बाधा आयेगी, यथा—

कयने आगच्छइ दित्ठवे, काले विकलाले फोक्कनामे।

ओमचेलए पंभु-पिन्नायभूए, अंकनदूसं पनित्तिय कंठे।।

कयने तुमं इय अदंअणिज्जे, काए व आन्ना इठ्ठागओ मि।

ओमचेलगा? पंभु-पिन्नायभूया? गच्छ क्ववलाहि किमिठ ठिओ मि।।

— उत्तरा.अध्य.12 गाथा 6—7

भावार्थ— बीभत्स रूप वाला, काला कलूटा, विकराल, बेडोल, मोटी नाक वाला, अधनंगा, धूलि-धूसरित होने से पिशाच सा दिखाई देने वाला, गले में फटा चिथड़ा डाले हुए यह कौन (इधर) आ रहा है।।6।।

ओह! अदर्शनीय मूर्ति, तुम कौन हो? यहाँ किस आशा से आए हो? गंदे और फटे वस्त्र से अधनंगे और धूलि-धूसरित होने से पिशाच सा दिखाई देने वाले, जा, भाग, यहाँ से। यहाँ क्यों खड़ा है?।।7।।

अक्खं नु दीअइ तवो विअेओ,

न दीअई जाइविअेअ कोई।

ओवागपुत्तं त्तिअेअ आहुं,

जअेअिअ्ना इडिढ मअणुभागा।।

—उत्तरा.अ. 12, गाथा 37

यह प्रत्यक्ष तप की महिमा दिखाई दे रही है, जाति की कोई महिमा नहीं दिखती। जिसकी इतनी बड़ी चमत्कारी ऋद्धि है, वह हरिकेशी मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

यहाँ यदि हरिकेशी मुनि के चाण्डाल पुत्र होने से, पिशाच के समान बीभत्स तथा कुरूप होने से नीच गोत्र का उदय माना जाय तथा तप और श्रुत का फल होने से इनके उच्च गोत्र का उदय माना जाय तो इस प्रकार हरिकेशी मुनि के नीच और उच्च इन दोनों गोत्रों का उदय युगपत् मानना होगा, जो कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध है, कारण कि कर्मसिद्धान्तानुसार किसी भी जीव के उच्च गोत्र और नीच गोत्र का उदय एक साथ नहीं हो सकता तथा साधु के नीच गोत्र का उदय होता ही नहीं है। अतः जाति, कुल, बल, लाभ, ऐश्वर्य आदि के अर्थ लोकव्यवहार में प्रचलित बाह्य पदार्थ नहीं हो सकते। ये सब सदाचरण परक गुणात्मक अर्थ के द्योतक हैं। जैन धर्म व्यक्ति को जाति, बाह्य रूप, बल आदि के आधार पर उच्च—नीच नहीं मानता है। इसी अध्ययन में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि बाह्य जाति की कोई विशेषता नहीं है, तप, संयम, श्रुत की विशेषता है। ऐश्वर्य ऋद्धि का अर्थ भी बाह्य धन सम्पत्ति नहीं है, कारण कि ऊपर इसी गाथा 37 में हरिकेशी मुनि को ऋद्धिसम्पन्न और महाप्रभावशाली कहा है।

छठे गुणस्थान एवं उससे ऊपर के गुणस्थानवर्ती साधु के सदैव उच्च गोत्र का ही उदय होना कहा है। अतः उसके जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ व ऐश्वर्य किसी की भी कमी नहीं हो सकती। अतः इस कसौटी पर कसने से यह सिद्ध होता है कि जाति, रूप आदि आठों गुण बाह्य नहीं हैं।

गोत्रकर्म और अगुरुलघुगुण

तन, धन आदि का अहंकार या अहंभाव प्राणी को भोगी व स्वार्थी बनाता है। भोग से पशु प्रकृति एवं स्वार्थपरता से आसुरी, नारकीय प्रकृति पुष्ट होती है। ये दोनों प्रकृतियाँ नीच गोत्र की द्योतक हैं। दूसरे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि अहंभाव से नीच गोत्र का बंध होता है। इसके विपरीत निरभिमानता तथा विनम्रता व्यक्ति को त्यागी तथा सेवाभावी बनाती है, जिससे मानवी व देवी प्रकृतियाँ पुष्ट होती हैं। मानवी प्रकृति तथा देवी प्रकृति उच्च गोत्र की द्योतक है। अतः निरभिमानता से उच्च गोत्र का बंध होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मद या अभिमान नीच गोत्र का एवं निरभिमानता, मृदुता आदि उच्च गोत्र के बंध-हेतु हैं। अभिमान सदैव अर्जित धन, विद्या, बल, योग्यता आदि का होता है। अर्जित सामग्री अनित्य या विनाशी होती है। उसका वियोग अवश्यभावी है। जो सदा साथ न दे वह 'पर' है। पर के संग्रह के आधार पर अपना मूल्यांकन कर गर्व करना, उससे अपना गौरव मानना प्रथम तो पर को मूल्य व महत्त्व प्रदान करना है साथ ही स्वयं का मूल्य घटाना व खोना है। अपने को दरिद्र व हीन बनाना है। कोई कितना भी अर्जित करे, जगत् में उससे असंख्यात गुना अनर्जित रहता है। जिसका उसके जीवन में अभाव है, कमी है, उससे वह हीन है। अतः पर के संग्रह या अर्जन के आधार पर गर्व करने वाले, गौरवशाली समझने वाले अभिमानी व्यक्ति को हीनता-लघुता (छोटेपन) का अनुभव होता ही है, यह प्राकृतिक विधान है। अपने में हीनता या लघुता का अनुभव होना ही नीच गोत्र है।

इसके विपरीत जो निरभिमानी है वह तन, धन, जन, बल, विद्या, बुद्धि आदि पर एवं विनाशी की प्राप्ति-अप्राप्ति के आधार पर अपना मूल्यांकन नहीं करता है, अपने को महान्, संपन्न व बड़ा नहीं मानता है, उसे हीनता या विपन्नता, लघुता व अभाव का अनुभव नहीं होता है, क्योंकि उसके तृष्णा नहीं होती है। जहाँ हीनता, विपन्नता, लघुता व अभाव नहीं है, सच्चे अर्थों में वहाँ ही महानता, संपन्नता, पूर्णता है, वही उच्च गोत्री है।

यह नियम है कि जिसे गुरुता व बड़प्पन का अनुभव नहीं होता है, उसे लघुता-हीनता का भी अनुभव नहीं होता है। यही कारण है कि पूर्ण निरभिमानी होने पर उच्च गोत्र की चरम उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँचकर मुक्त अवस्था में गोत्र कर्म से अतीत होने पर, सिद्धों में अगुरु- लघु गुण सदा के लिए प्रकट हो जाता है।

अगुरुलहु अत्तं णाम सव्वजीवाणं पारिणामियमत्थि सिद्धेसु खीणेसु कम्मेसु वि तस्सुवलंभा ।। —धवला पुस्तक 6.1.9.278 पृ.113

अगुरुलघु नामक गुण सर्व जीवों में पारिणामिक है, क्योंकि शेष कर्मों से रहित सिद्धों में भी उसका सद्भाव पाया जाता है। अगुरुलघु जीव का स्वाभाविक गुण है। स्वभाव होने से पारिणामिक भाव है।

गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघु गुण प्रकट होता है। अतः गोत्र कर्म गुरुत्व—लघुत्व भाव का सूचक है अर्थात् अपने को छोटा—बड़ा मानना, दीन—हीन मानना गोत्र कर्म है जो संतति—क्रम से सतत प्रवाहमान है।

स्वाभाविक गुणों के आधार पर सब जीव समान हैं। ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों में किसी जीव में अन्तर नहीं है। अन्तर इन गुणों के प्रकटीकरण में है। अतः प्राणी अपने दोषों का त्याग करने का पुरुषार्थ कर जिस क्षण चाहे उसी क्षण इन गुणों को प्रकट कर सकता है। उस शुद्ध निर्मल स्वभाव में गुरुत्व—लघुत्व का भाव नहीं होता है, अगुरुलघुत्व अवस्था रहती है। जितनी—जितनी नीच गोत्र कर्म की कमी या क्षय होता जाता है।

आशय यह है कि अपने को बाह्य जाति, कुल, बल, तप, श्रुत (ज्ञान) आदि में उत्कृष्ट, श्रेष्ठ या विशिष्ट मानना और दूसरों को निकृष्ट, हीन व नीचा मानना विशिष्टता नहीं अशिष्टता है। इसके विपरीत अपने को अयोग्य, असमर्थ, निकृष्ट एवं हीन मानना विनम्रता नहीं दीनता है, हीनभाव है। महानता है अपने में अभाव का अनुभव न होना, स्वभाव में स्थित रहना और विनम्रता है निरभिमानता होना। अतः जो अपने को न तो विशिष्ट, उत्कृष्ट या महान् मानता है और न ही निकृष्ट एवं दीन मानता है, वह उच्च गोत्रीय है।

गोत्रकर्म : जीवविपाकी

गोत्रकर्म पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी नहीं है, जीवविपाकी है। पुद्गल विपाकी न होने से इसका सम्बन्ध सुन्दर, असुन्दर शरीर से नहीं है, भव विपाकी न होने से इसका सम्बन्ध किसने कहाँ जन्म लिया, किस व्यक्ति, घर, आर्य—अनार्य किस देश में जन्म लिया, इससे नहीं है। जीव विपाकी होने से जीव के भावों से संबंधित है। वर्तमान में गोत्र कर्म को बाह्य जाति—कुल से जोड़ दिया गया है। यह कर्म—सिद्धान्त एवं आगम सम्मत नहीं है। जैन धर्म में कर्म के अनुसार ब्राह्मण आदि वर्ण माने हैं— जन्मजात वर्ण, कुल नहीं माने हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ, सूर्यवंश, चंद्रवंश, सिसोदिया आदि कुल मानव निर्मित हैं, कृत्रिम हैं, विनाशी हैं। अतः कोई भी जाति व कुल न ऊँचा है और न नीचा। न कोई अच्छूत है, न अस्पृश्य है। अतः जाति कुल के आधार पर गोत्र मानना गोत्र कर्म नहीं है।

तात्पर्य यह है कि गोत्र कर्म का सम्बन्ध अपने को दीन-महान् समझने रूप भावों से है, जाति, कुल आदि से नहीं है। यही कारण है कि गोत्र कर्म के क्षय से ऊँच-नीच भाव का क्षय होता है। —धवला पुस्तक 13



अन्तराय कर्म

अन्तराय कर्म का स्वरूप

विघ्न उत्पन्न होना अन्तराय है। धवला पुस्तक 13, पृ. 389 पर कहा है— “अन्तर्नमेति गच्छतीत्यन्तरायः” जो अन्तर आता है वह अन्तराय है अर्थात् अन्तराल ही अन्तराय है। सर्वार्थसिद्धि में कहा है—

“यदुदयाद्वातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्पन्नितुकामोऽपि नोत्पन्नते।” —तत्त्वार्थ सूत्र, 8.4 पर सर्वार्थसिद्धि टीका

जिसके उदय से देने की इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करने की कामना करते हुए भी प्राप्त नहीं करता है, भोग—उपभोग की वांछा करता हुआ भी भोग—उपभोग नहीं कर पाता है और उत्साहित होने की कामना रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है वह अन्तराय है। अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से किसी कामना का उत्पन्न होना और उस कामना की पूर्ति न होने से अभाव का अनुभव होना ही अन्तराय है।

भगवती सूत्र में कहा है—

अन्तर्नाइएण भन्ते? कम्मे कइ पनीअत्त अमोयनति?

गोयमा? एगे अलाभपनीअत्ते अमोयनति॥

—भगवती सूत्र शतक 8, उद्देशक 8

प्रश्न— हे भगवन्! अन्तराय कर्म से कितने परीषहों का समवतार होता है?

उत्तर— हे गौतम! एक अलाभ परीषह होता है। अर्थात् अभाव का अनुभव होना ही अन्तराय है।

अन्तराय कर्म के भेद एवं बंध के हेतु

अन्तराय कर्म के दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय ये पाँच भेद हैं। इन पाँचों का उदय बारहवें गुणस्थान तक

रहता है। अतः अन्तराय कर्म के पाँच परीषह होने चाहिए। परन्तु एक ही परीषह कहा है, जो उपयुक्त ही है। कारण कि दान, भोग, उपभोग आदि की इच्छा का होना, परन्तु उनकी पूर्ति न होना अलाभ है। यहाँ 'अलाभ' शब्द अन्तर्दीपक है जो पाँचों अन्तरायों के लिए लागू होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अलाभ या अभाव ही अन्तराय कर्म के उदय का सूचक है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य जीव की स्वाभाविक उपलब्धियाँ एवं गुण हैं। इनकी पूर्णता में विघ्न होना अथवा इनका अलाभ होना ही अन्तराय कर्म है। दान गुण उदारता का, लाभ गुण निर्लोभता से प्राप्त अभावरहितता का, भोग गुण स्वाधीनता के अखण्ड सुख की उपलब्धि का, उपभोग गुण स्वाभाविक आत्मीयता एवं नितनूतन अनन्त सुख के उपभोग की उपलब्धि का तथा वीर्य गुण आत्मसामर्थ्य की प्राप्ति का सूचक है। इन समस्त स्वाभाविक गुणों में बाधा उत्पन्न होना अन्तराय कर्म है।

दानादि गुणों में बाधा उत्पन्न होना अन्तराय है, स्वार्थपरता से दानान्तराय का, कामना से लाभान्तराय का, ममता से भोगान्तराय का, तादात्म्य एवं-अहंभाव से उपभोगान्तराय का और कर्तृत्व भाव से वीर्यान्तराय का बंध होता है। भगवती सूत्र में अन्तराय कर्म के बंध का निरूपण करते हुए कहा है—

गोयमा? दाणंतनाएणं लाभंतनाएणं भोगतनाएणं उवभोगंतनाएणं वीर्यंतनाएणं अन्तनाइयकम्मान्नीनप्पयोगनामए कम्मन्म उदएणं अन्तनाइयकम्मान्नीनप्पओगबंधे। —भगवती सूत्र, शतक 8, उद्देशक सूत्र 111

अर्थात् दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय के रूप कर्म का बंध होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में विघ्न उत्पन्न करने को अन्तराय कर्म का बंध हेतु कहा है—

विघ्नकणामन्तनायन्य। —तत्त्वार्थसूत्र, 6.27

इन विघ्नों का उल्लेख ऊपर स्वार्थपरता, कामना, ममता, आसक्ति एवं कर्तृत्वभाव के रूप में किया गया है। यहाँ पर दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य का सम्यक् स्वरूप समझने से ही ज्ञात हो सकेगा कि ये किस प्रकार केवली की उलब्धियाँ हैं, इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

दानान्तराय एवं अनन्तदान

दान देने की भावना न जगना, अपितु विषय—सुखों के लिए दूसरों से दान पाने की कामना उत्पन्न होना दानान्तराय है। अर्थात् उदारता का अभाव और स्वार्थपरता का होना दानान्तराय है। उदारता की उदात्त भावना दानान्तराय का क्षयोपशम है। उदारता का परिपूर्ण हो जाना अर्थात् अपने शरीर, बुद्धि, ज्ञान, बल, योग्यता आदि अपना सर्वस्व जगत्—हित के लिए समर्पित कर देना, अपने सुख—भोग के लिए कुछ भी बचाकर न रखना अनन्त दान है, दानान्तराय का क्षय है। अनन्तदानी वात्सल्य, करुणा, दया, सेवा, अनुकंपा से प्रेरित होकर विश्व के हित में निरत रहता है।

कुछ विद्वान् दान देने की भावना उत्पन्न होने पर भी दान न दे सकने को दानान्तराय कर्म का उदय मानते हैं, परन्तु यह मान्यता उचित नहीं लगती है, कारण कि एकेन्द्रिय निगोद आदि संसारस्थ सभी प्राणियों के सदैव निरन्तर दानान्तराय का उदय रहता है, अतः इस मान्यतानुसार सभी प्राणियों के सदैव दान देने की भावना उत्पन्न होना और दान न दे सकना मानना होगा जो संभव नहीं है। द्वितीय, दान देने की भावना का उत्पन्न होना शुभ व शुद्धभाव है, पुण्य का सूचक है, अन्तराय कर्म के उदय का नहीं। दान देने की भावना होने पर भी किसी को दान देने का अवसर न मिल सके तब भी उसके पुण्य कर्म का उपार्जन होता है, अन्तराय आदि पाप कर्मों का नहीं। क्योंकि विशुद्धभावों से शुभ कर्मों का उपार्जन होता है, पापकर्मों का नहीं। श्रावक के बारहवें अतिथि संविभाग व्रत में प्रतिदिन भोजन करते समय साधु को आहार दान देने की भावना करना आवश्यक बताया है, परन्तु साधु को दान देने का संयोग तो उसे कभी कदाचित् ही मिलता है। इस प्रकार दान देने की भावना होते हुए भी श्रावक प्रायः दान देने से वंचित रहता है, अतः उसकी इस दान देने की भावना को दानान्तराय का उदय मानना भूल है। दान देने की, उदारता की भावना लोभ—कषाय में कमी होने से होती है। यह आत्म—गुण है जो प्रसन्नता व प्रमोद प्रदान करने वाला है। दान देने की भावना होते हुए भी घर असूझता हो जाना, भिक्षा के योग्य वस्तु न होने से दान न दे पाना, मिठाई, नमकीन, बादाम—पिस्ता आदि गरिष्ठ वस्तुएँ भिक्षा में न दे सकना आदि बाह्य कारण दानान्तराय का उदय नहीं है। दान देने की भावना न जगना, दान के फल

में किसी भोग्य पदार्थ की कामना होना, दान का अभिमान करना दानान्तराय के उदय एवं बंध का हेतु है।

यह नियम है कि जितना—जितना राग घटता जाता है, उतना—उतना करुणा भाव, आत्मीयभाव, मैत्रीभाव, वत्सलभाव बढ़ता जाता है और वीतराग हो जाने पर यह करुणा, मैत्री, वात्सल्य आदि सब भाव असीम व अनन्त हो जाते हैं जो सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री भाव के रूप में, सर्वहितकारी भाव के रूप में प्रकट होते हैं।

वीतराग की अनन्त करुणा, अनन्त मैत्री भाव एवं अनन्त वत्सलता अनन्त दान के ही विभिन्न रूप हैं। वीतराग को अपने लिए तो कुछ करना शेष रहता नहीं है, अतः वीतराग की प्रत्येक प्रवृत्ति या निवृत्ति विश्वहित के लिए होती है। उनमें विश्व वात्सल्य भाव होता है। वे जगद् वत्सल होते हैं। यही विश्व वात्सल्य भाव अनन्त दान है। इस प्रकार वीतरागता से अनन्तदान की उपलब्धि होती है। अथवा जो वीतराग हो जाता है उसे संसार में अपने स्वयं के लिए कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है, देहादि जो कुछ भी उसे प्राप्त है, वह सब संसार के लिए है। इस दृष्टि से भी वीतराग अनन्त दानी कहा जाता है।

अपने प्रति उदारता का व्यवहार सभी को अच्छा लगता है। उदार व्यक्ति में सब के प्रति मैत्री प्रमोदभाव होता है। उदार व्यक्ति वही होता है जो अपने को प्राप्त सामग्री (वस्तुएँ, सामर्थ्य, कर्म, योग्यता आदि) दूसरे के हित के लिए प्रदान करता है। यह उदारता रूप दान का भाव जीव का स्वभाव है, इसीलिए कर्म सिद्धान्त में प्राणिमात्र में दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम माना है। परन्तु जैसे—जैसे प्राणी का विकास होता जाता है अर्थात् दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम बढ़ता जाता है, उसके दर्शन गुण एवं संवदेन गुण का विकास होता जाता है। उससे उसका करुणा भाव विकसित होता है, जिससे उदारता का भाव बढ़ता जाता है तथा यशकीर्ति का अनुभाव बढ़ता जाता है। साधक जब वीतराग अवस्था में पहुँचता है तो उसे अपने लिए संसार से कुछ भी लेना शेष नहीं रहता है। अपितु उसके पास जो कुछ भी तन, मन, इन्द्रिय, ज्ञान, बुद्धि आदि होते हैं वे सब संसार के लिए होते हैं। यह उदारता उत्कृष्ट एवं की चरम सीमा है।

लाभान्तराय एवं अनन्त लाभ

सम्पन्न वहीं है जो अभाव रहित है। अभाव दरिद्रता का द्योतक है। अभाव का अनुभव तभी होता है जब कुछ पाने की कामना हो और उसकी प्राप्ति न हो। वस्तु की प्राप्ति श्रम, शक्ति व काल पर निर्भर करती है। अतः कामना पूर्ति तत्काल नहीं होती है और जब तक कामना की पूर्ति नहीं होती तब तक कामना अपूर्तिजन्य अभाव का अनुभव होता है। जो दरिद्रता का ही रूप है। अतः कामना अपूर्ति की अवस्थाओं में दरिद्रता व अभाव (अलाभ) का दुःख भोगना ही पड़ता है। यही लाभान्तराय है। यह सर्वविदित है कि सब कामनाओं की पूर्ति किसी की कभी भी नहीं होती, केवल कुछ कामनाओं की ही पूर्ति होती है। अतः मानव मात्र को कामना—अपूर्ति जन्य अभाव (कमी—दारिद्र्य) का दुःख सदा बना ही रहता है।

यही नहीं, जिस कामना की पूर्ति हो जाती है, उससे जो सुख मिलता है, वह सुख भी प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ अन्त में नीरसता में बदल जाता है। इस प्रकार कामना पूर्ति से सुख पाने रूप जिस उद्देश्य की सिद्धि हुई, उस सिद्धि का मिलना न मिलने के समान हो जाता है।

कामनापूर्ति जनित रस या सुख नीरसता में बदलता ही है। नीरसता किसी को भी पसन्द नहीं है। अतः नीरसता मिटाने के लिए नवीन कामना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कामना पूर्ति के साथ नवीन कामना की उत्पत्ति जुड़ी हुई है अर्थात् कामना उत्पत्ति के साथ अभाव, दरिद्रता आदि दुःख जुड़े हुए हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे कामना की उत्पत्ति हो, चाहे कामना की अपूर्ति हो, चाहे कामना की पूर्ति हो सभी अवस्थाओं में अभाव व दरिद्रता जुड़ी हुई है। अतः कामना के त्याग से ही दरिद्रता का अंत संभव है। दरिद्रता का अंत ही समृद्धि का, सम्पन्नता का सूचक है। कारण कि कामना न रहने पर कुछ भी अभाव शेष नहीं रहता है, यह ही पाना शेष नहीं रहना है। 'पाना' शेष न रहना ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता है। पूर्ण रूप से कामना रहित होना 'वीतराग' होना है। अतः वीतरागता से ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता की सम्पूर्णता है, जिसका अंत कभी नहीं होता है अर्थात् जहाँ वीतरागता है वहाँ अनन्त समृद्धि है, अनन्त संपन्नता, अनंत ऐश्वर्य, अनन्त वैभव है। इसे ही अनन्त लाभ कहा है।

भोगान्तराय एवं अनन्त भोग

विषय—भोग के सुख की इच्छा आत्मा के निज स्वभाव के सुख की घातक है, अतः निज स्वभाव के सुख की बाधक इच्छा ही भोगान्तराय है। भोगान्तराय के पूर्ण क्षय से अनन्त भोग प्रकट होता है। भोग वही है जो भावे। जो अच्छा लगता है वही भाता है अर्थात् सौन्दर्य ही भोग है। इन्द्रियों और मन के माध्यम से वस्तु, परिस्थिति आदि से मिलने वाले भोग का सुख सीमित होता है। वह पूर्ण व अखंड नहीं होता। जो अखंड नहीं होता वह अबाधित नहीं होता। यही कारण है कि विषय—सुख में पूर्णता कभी नहीं होती। विषय—सुख किसी को कितना ही मिले उस समय किसी न किसी प्रकार का अभाव रहता ही है। ऐसी कोई परिस्थिति है ही नहीं जिसमें किसी भी प्रकार का अभाव न हो।

अभाव किसी को भी अच्छा नहीं लगता, अतः वह भोग का बाधक है। इसलिए जिसे अपूर्ण, खंडित व बाधित सुख से बचना एवं पूर्ण, अखंड व अबाधित सुख पाना इष्ट है उसे वस्तुओं एवं प्रवृत्ति से मिलने वाले सुख का त्याग करना ही होगा। वस्तुओं के सुख के त्याग से विषय इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। फिर मन 'अमन' (निर्विकल्प) हो जाता है जिसके होते ही बुद्धि सम होकर अपने प्रकाशक में लीन हो जाती है। जिससे साधक स्व में स्थित हो जाता है अर्थात् स्वाधीन तथा मुक्त हो जाता है। उसे पराधीनता व बंधन से छुटकारा मिल जाता है।

पराधीनता से छुटकारा तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति युगपत् होती है। स्वाधीनता से स्व में स्थिति तथा स्थिरता हो जाती है। फलस्वरूप स्व—रस, निज—रस, अविनाशी का रस या सुख मिलता है। अविनाशी से मिलने वाला रस या सुख भी अविनाशी होता है, अनन्त होता है। यह अनन्त रस रूप जीवन ही अनन्त सौन्दर्य की उपलब्धि है जो विषय सुख के भोग के त्याग से ही संभव है। विषय सुख का पूर्ण त्याग ही वीतराग अवस्था है। अतः वीतरागता में ही निज शुद्ध भाव का रसास्वादन होना अनन्त भोग (रस या सुख) की उपलब्धि है। वीतराग जीवन निर्विकारतामय जीवन है। अतः जहाँ वीतरागता है वहाँ अनन्त रस (सुख) है, अनन्त भोग है। तात्पर्य यह है कि भोग के त्याग में ही असीम, अनन्त भोग की उपलब्धि या अभिव्यक्ति होती है।

संसार की समस्त घटनाएँ कारण—कार्य के नियमानुसार नैसर्गिक व प्राकृतिक विधान से घटती हैं। प्राकृतिक विधान में किसी का भी अहित नहीं है। यहाँ तक कि प्राकृतिक घटना से आया हुआ दुःख भी दोषों के त्याग की शिक्षा देने एवं पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करने वाला ही होता है। शिक्षा व कर्म—निर्जरा प्राणी के लिए हितकर ही होती है। वीतराग इस तथ्य से पूर्ण परिचित होते हैं। अतः उन्हें संसार की कोई भी घटना क्षुब्ध नहीं करती। यही अनन्त भोग की उपलब्धि है।

उपभोगान्तराय एवं अनन्त उपभोग

आत्मिक भोग—जन्य सुख का बार—बार या निरन्तर मिलते रहना ही उपभोग है। इसमें बाधा होना उपभोगान्तराय है। यह नियम है कि विषय भोग का सुख क्षणिक होता है। वह सुख दो क्षण भी एकसा नहीं रहता, प्रतिक्षण क्षीण होता है और अंत में नीरसता (सुख रहित अवस्था) में बदल जाता है। जो सुख इस क्षण भोग लिया, वह सुख दूसरे क्षण नहीं मिलेगा, उसमें क्षीणता आ ही जायेगी। एक क्षण में मिला हुआ सुख दुबारा कभी नहीं मिलेगा, उसमें क्षीणता आयेगी ही, वह जीर्ण होगा ही। यही कारण है कि हम अपने जीवन में खाने, पीने, पहनने, देखने, सुनने, सूँघने आदि के सैकड़ों सुखों का भोग प्रतिदिन करते रहे, परन्तु उनमें से कोई भी सुख आज तक नहीं रहा, सुख में लेश मात्र भी वृद्धि नहीं हुई। जैसे रेल यात्रा में वस्तुएँ सामने से आती और पीछे जाती प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार सुख आता और जाता प्रतीत होता रहा, रहा कुछ भी नहीं। फलतः सुख पाने की तृष्णा ज्यों की त्यों बनी हुई है, उसमें किंचित् भी कमी नहीं हुई तथा आगे भी कितनी ही सुख—सामग्री संगृहीत कर सुख भोगा जाये तब भी न सुख में वृद्धि होने वाली है और न सुख की तृष्णा मिटने वाली है अर्थात् विषय सुख का परिणाम शून्य है तथा सुख के भोगी को असंख्य दुःख भोगने ही पड़ते हैं। अतः विषय सुख के त्याग से निज सुख की उपलब्धि होती है।

निज सुख की अभिव्यक्ति प्रेम के रूप में होती है। प्रेम का रस नित नूतन रहता है, वह सागर की तरह लहराता है। न तो इसकी क्षति होती है, न इसकी निवृत्ति होती है, न इसकी पूर्ति होती है, न इसकी तृप्ति होती है और न इसमें अतृप्ति ही रहती है। यह क्षति, निवृत्ति, अपूर्ति, तृप्ति, अतृप्ति से रहित विलक्षण रस या सुख है। यही अनन्त परिभोग है। इसकी

अभिव्यक्ति विषय सुख के त्यागी 'वीतराग' को ही होती है। यह वीतरागता की ही विभूति है। इसे परमात्मा का मार्दव (माधुर्य) गुण भी कहा जा सकता है। माधुर्य (मधुरता) है रस का निरन्तर बराबर बने रहना। यही अनन्त परिभोग या अनन्त उपभोग उपलब्धि है।

वीर्यान्तराय एवं अनन्तवीर्य

सामर्थ्य की अभिव्यक्ति वीर्य है। असमर्थता का अनुभव वीर्यान्तराय है। वीर्य सामर्थ्य का द्योतक है। केवली वीतराग देव अनन्तवीर्यवान हैं—सामर्थ्यवान हैं। परन्तु उनमें किसी के विकार दूर करने व अन्य किसी का रोग या वेदना मिटाने, ज्ञान प्राप्त कराने, किसी का मरण टालने, आयु बढ़ाने, किसी के कर्म काटने का सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए उनके लिए सर्वसमर्थ विशेषण का प्रयोग नहीं किया गया। तात्पर्य यह है कि वे केवल आत्मिक दोषों—अवगुणों को मिटाने व गुणों को प्रकट करने में ही समर्थ हैं। अपने से भिन्न शरीर, संसार आदि के बनाने, बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। प्राकृतिक विधान, विस्रसोपचित कर्म तथा कर्म—सिद्धान्त को बदलने में वे समर्थ नहीं हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर वे अनन्तवीर्यवान कैसे हैं?

उत्तर में कहना होगा कि प्राकृतिक विधान या कर्मोदय व विस्रसा से घटित अनुकूल—प्रतिकूल घटनाएँ, परिस्थितियाँ, स्थितियाँ किसी भी सत्यान्वेषी साधक का कुछ भी बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। ये हानि—लाभ, बनाव—बिगाड़ आदि घटनाएँ उनके लिए निमित्त बनती हैं, जो इससे भोग—भोगना चाहते हैं। कारण कि भोग की पूर्ति वस्तु, परिस्थिति आदि पर निर्भर करती है। जो त्यागी हैं उनके लिये सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कुछ भी अर्थ नहीं रखती हैं। क्योंकि जो भी परिस्थिति है, उसका उन्हें भोग नहीं करना है, उन्हें उसका उपयोग राग—निवारण के लिए करना है। राग का निवारण त्याग या संयम से होता है। त्याग व संयम में परिस्थिति का महत्त्व नहीं है, विवेक के आदर का एवं संकल्प की दृढ़ता का महत्त्व है, जिसका परिस्थिति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

मानवमात्र विषय—कषाय एवं राग—द्वेष की निवृत्ति में समर्थ है और स्वाधीन है, कारण कि इनकी उत्पत्ति अविवेक से होती है। अविवेक विवेक

के आदर से मिटता है, किसी प्रवृत्ति से नहीं। प्रवृत्ति के लिये पर पदार्थ की आवश्यकता होती है। पदार्थ पर किसी का भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं हैं। कोई भी एक परमाणु का निर्माण या ध्वंस नहीं कर सकता। भोग के लिये प्रवृत्ति की और योग (मुक्ति) के लिए निवृत्ति की आवश्यकता होती है। प्रवृत्ति की पूर्ति पराश्रित है, पराश्रय पराधीनता है, विवशता है, मुक्ति की प्राप्ति निवृत्ति से होती है, उसके लिये पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं होती है। आवश्यकता होती है पर के आश्रय के त्याग की। प्राणी अपने से भिन्न वस्तु के ग्रहण करने में पराधीन है, अतः असमर्थ है, ग्रहण करने के पश्चात् भी वस्तु का उससे आत्मसात् नहीं होता है। उसमें और वस्तु में भिन्नता बनी ही रहती है। जहाँ भिन्नता है, वहाँ परायापन है, जहाँ परायापन है वहाँ पराधीनता है। अतः प्रवृत्ति में आदि से अंत तक, प्रवृत्ति के मूल से लेकर अंत तक पराधीनता है। जहाँ पराधीनता है, वहाँ असमर्थता है, वीर्यान्तराय का उदय है। जिसने इस तथ्य को समझ लिया है कि करने के अनुष्ठान के परिणाम में जो मिलता है वह रहता ही नहीं है, उसमें तृप्ति भी नहीं होती है, अर्थात् करने का परिणाम शून्य है। इस तथ्य को समझ कर वह करने का त्याग कर निवृत्ति को या विश्राम को संवर—संयम—त्याग को अपनाता है तो असमर्थता से मुक्ति पा लेता है।

मुक्ति धर्म से मिलती है, धर्म त्याग में है, दोषों की निवृत्ति में है। दोषों का त्याग करने में कोई असमर्थ व पराधीन नहीं है। इसे एक उदाहरण से समझें— किसी व्यक्ति को दस ग्राम वजन का कागज का टुकड़ा उठाना है तो उसे उठाने के लिए हाथ में सामर्थ्य चाहिये। रोग या किसी कारण से यदि शक्ति नहीं है तो नहीं उठा सकता है, परन्तु हाथ में कुछ वजन या कागज का टुकड़ा है, उसे त्यागना है तो त्यागने के लिये किसी भी अंश में शक्ति या सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत वस्तु का ग्रहण करने में जो शक्ति व्यय हो रही है, उस शक्ति का व्यय रुक जायेगा। तब शक्ति का संचय बढ़ेगा। इसी प्रकार हमें पाँच नये पैसे या एक छोटा सा धागा भी चाहिये तो इन्हें प्राप्त करने के लिए श्रम करना ही पड़ेगा, पराश्रय लेना ही पड़ेगा, पराधीन होना ही पड़ेगा।

जो प्राणी जितना अधिक भोग में आसक्त है, भोग के अधीन है, वह उतना ही अधिक पराश्रित है, उतना ही अधिक निर्बल है, असमर्थ है। जो

प्राणी भोग से जितना विरक्त है, वह प्राणी उतनी ही कम असमर्थता का अनुभव करता है, उसके उतना ही वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। जो साधक भोग का सर्वथा व पूर्ण त्याग कर वीतराग हो जाता है, अपने सुख के लिए संसार से कुछ भी पाना नहीं चाहता वह पराश्रय से पूर्ण मुक्त हो जाता है। उसे लेशमात्र भी असमर्थता का अनुभव नहीं होता है। वह अनन्त सामर्थ्यवान हो जाता है। उसके वीर्यान्तराय का पूर्ण क्षय हो जाता है।

भोग—प्रवृत्ति या परिग्रह के कारण उत्पन्न हुआ पराश्रय, असमर्थता या वीर्यान्तराय है। भोगेच्छा में हुई कमी वीर्यान्तराय के क्षयोपशम का कारण है। भोग, पराश्रय व परिग्रह का पूर्ण त्याग ही वीर्यान्तराय का क्षय है, जो अनन्त सामर्थ्य का, अनन्त वीर्य का द्योतक है।

त्याग की अधिकता के कारण ही संयमी जीव के गृहस्थ से अधिक वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है। त्याग की पूर्णता के कारण ही वीतराग केवली प्रभु के वीर्यान्तराय का पूर्ण क्षय है— अनन्तवीर्य व सामर्थ्य है। उन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, अतः उनके लेश मात्र भी अन्तराय कर्म का उदय नहीं है। असमर्थता व वीर्यान्तराय का उदय वहीं है जहाँ कर्ता भाव तथा भोक्ताभाव है। जहाँ कर्ताभाव या भोक्ताभाव नहीं है— ज्ञाता—द्रष्टाभाव है, वहाँ असमर्थता का व वीर्यान्तराय का क्षयोपशम या क्षय है। करना शेष न रहने से असमर्थता का अन्त हो जाता है और अनन्त सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। 'करने' से मुक्ति वही पाता है जिसने विषय—सुख भोग का, राग का त्याग कर दिया हो। कारण कि जिसने विषय सुख का त्याग कर दिया उसे संसार से कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। जिसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहता उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। जिसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता वही पूर्ण समर्थ है, वही अनन्त वीर्यवान है।

इस प्रकार वीतराग के अनन्त दान के रूप में अनन्त औदार्य या कारुण्य, अनन्त लाभ के रूप में अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त भोग के रूप में अनन्त प्रसन्नता (प्रसाद) अनन्त परिभोग के रूप में अनन्त माधुर्य, अनन्त वीर्य के रूप में अनन्त सामर्थ्य की उपलब्धि होती है।

अन्तराय कर्म : एक समग्र विश्लेषण

धन—संपत्ति, वाहन—मकान—आभूषण, स्त्री आदि अर्थात् अमीरी की प्राप्ति का कारण लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय पाप कर्मों के

उदय से मानना तो किसी को भी इष्ट नहीं हो सकता और यदि कुछ के मतानुसार घर-संपत्ति की प्राप्ति को लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से माना जाय, पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों की सामग्री कार, हेलिकॉप्टर आदि वाहन, मकान, अन्न, फल-फूल आदि खाद्य पदार्थ, आभूषण, रेडियो, टेलीविजन आदि वस्तुओं की प्राप्ति को भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से माना जाय तो बारहवें क्षीण मोहनीय गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र में लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होता है। अतः यथाख्यात चारित्रवान् साधक के इन सब पदार्थों की सबसे अधिक मात्रा में उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु इनके पास इन सब वस्तुओं का नितान्त अभाव होता है। अतः धन-संपत्ति आदि वस्तुओं की उत्पत्ति अन्तराय कर्म के क्षय से मानना कर्म सिद्धान्त तथा आगम सम्मत नहीं है। धन के अभाव को गरीबी मानना और इस गरीबी के कारण के साथ पूर्वजन्मकृत पाप कर्म का अविनाभाव सम्बन्ध मानना वीतरागियों के भयंकर पाप कर्म का उदय मानना होगा, जो सर्वथा अनुचित है। अतः गरीबी-अमीरी का, वस्तुओं की प्राप्ति का, अन्तराय कर्म के उदय, क्षयोपशम व क्षय से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है।

यदि वस्तुओं की प्राप्ति को लाभान्तराय के क्षयोपशम का फल माना जाय, वस्तुओं के अभाव को लाभान्तराय का उदय माना जाय तो जब तक संसार की समस्त वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होती उनमें से एक भी वस्तु का अभाव है तब तक लाभान्तराय का उदय न होगा। संसार की समस्त वस्तुएँ किसी एक ही व्यक्ति को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। अतः अन्तराय कर्म का क्षय भी नहीं होगा। अतः वस्तुओं की प्राप्ति को अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना भ्रान्ति है।

यदि इन्द्रियों के भोग-उपभोग की वस्तुओं या सामग्री की प्राप्ति को अन्तराय कर्म के क्षयोपशम का फल माना जाय तो मोहनीय कर्म के बंध तथा उदय की न्यूनाधिकता के साथ अन्तराय कर्म की पांचों प्रकृतियों के बंध-उदय में भी न्यूनाधिकता (क्षयोपशम) सदैव होती रहती है। अतः मोहनीय कर्म तथा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम (न्यूनाधिकता) के साथ बाह्य वस्तु एवं भोग्य सामग्री में सदैव तत्काल घट-बढ़ होती रहनी चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। इससे यह फलित होता है कि इन वस्तुओं व

भोग्य सामग्री का सम्बन्ध अन्तराय कर्म से नहीं है। अन्तराय कर्म घाती कर्म है। इसका शरीर से भी सम्बन्ध नहीं है। शरीर का सम्बन्ध नाम कर्म से है। जिस अन्तराय कर्म का सम्बन्ध शरीर से, इन्द्रियों तक से नहीं है, उसका सम्बन्ध बाह्य भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति-अप्राप्ति से होना कैसे संभव है? कदापि नहीं।

भोगेच्छा का उत्पन्न होना और उसकी पूर्ति नहीं होने से उत्पन्न होने वाला दुःख अन्तराय कर्म का उदय है। यदि भोग की इच्छा ही उत्पन्न नहीं हो तो भोगेच्छा की अपूर्ति जन्य अभाव के अनुभव का दुःख नहीं सकता अर्थात् भोगान्तराय कर्म का उदय नहीं हो सकता। अतः भोगों की इच्छाओं में जितनी कमी होती जाती है उतनी ही भोगों के अपूर्ति के दुःख की निवृत्ति होती जाती है। भोगान्तराय कर्म के उदय में कमी होती जाती है, यही भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। जिस जीव को जिन-जिन वस्तुओं को पाने की, भोग-उपभोग की इच्छा नहीं है, उस जीव के उन-उन वस्तुओं का अभाव नहीं होता है। अतः उस जीव के उन वस्तुओं के न मिलने का कारण अन्तराय कर्म का उदय नहीं है।

भोगेच्छा की पूर्ति होना भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है। क्योंकि किसी की भी सभी इच्छाएँ कभी भी पूरी नहीं होती हैं। अतः इच्छाओं की पूर्ति से किसी को कभी भी तृप्ति या संतुष्टि नहीं होती है तथा प्रत्येक इच्छा की पूर्ति का सुख (सुखाभास) अनेक नवीन इच्छाओं को उत्पन्न करता है। इस प्रकार इच्छाओं की उत्पत्ति, अपूर्ति, पूर्ति, पुनः नवीन इच्छाओं की उत्पत्ति होने रूप अन्तराय कर्म का यह चक्र या क्रम अनवरत चलता रहता है। इस चक्र के चक्कर में फँस कर प्राणी अनन्तकाल से भव भ्रमण कर रहा है। अतः भोगेच्छा की पूर्ति होना अन्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है, अपितु इच्छाओं में कमी होना भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम है और भोगेच्छाओं की पूर्ण निवृत्ति, त्याग व अभाव हो जाना भोगान्तराय कर्म का क्षय है। विषय-भोग व भोग्य सामग्री की प्राप्ति से अन्तराय कर्म के क्षयोपशम व क्षय का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आंशिक रूप में एवं क्षय से पूर्ण रूप में निजस्वरूप की रसानुभूति-सुखानुभूति होती है इसी सुखानुभूति का रसास्वादन करना-भोग करना भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम व क्षय का

फल है, विषय-भोगजन्य सुख भोगना विकार है, विभाव है। विकार व विभाव भोगान्तराय पाप कर्म के क्षयोपशम का फल नहीं हो सकता। अतः विषय-भोग के सुख को एवं सुख की निमित्त वस्तुओं को भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना अथवा पुण्योदय से मानना भूल है।

उपर्युक्त तथ्य उपभोगान्तराय कर्म के विषय में भी समझना चाहिए। विस्तार के भय से यहाँ इसका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

अन्य प्राणी से आदान की इच्छा होना, वस्तु के पाने की कामना होना, भोग-उपभोग की इच्छा होना, इन सबकी प्राप्ति का प्रयत्न करना— ये सब विकार हैं, विभाव हैं, चारित्र मोहनीय के उदय रूप हैं। अतः पाप हैं, औदयिक भाव हैं, दोष हैं। ये कर्म-बंध के, संसार-भ्रमण के हेतु हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो विषय भोग-उपभोग की इच्छा का उत्पन्न होना, उसकी पूर्ति का प्रयत्न करना, उसकी पूर्ति होना, अपूर्ति होना, पूर्ति में सुख का भास होना ये सब विकार हैं, विभाव हैं, दोष व पाप के ही विभिन्न रूप हैं। विभाव व विकार में कमी होना, क्षयोपशमिक भाव है। क्षयोपशमिक भाव की अवस्था में विकार, दोष व पाप का आंशिक क्षय और आंशिक उदय रहता है। इसमें जितने अंशों में पाप का, विकार का, विभाव का क्षय है उतने ही अंशों में गुण व स्वभाव प्रकट होता है। यह विकारों का, पापों का आंशिक क्षय व उपशम ही क्षयोपशम भाव कहलाता है। क्षयोपशम भाव से आत्मिक गुण प्रकट होते हैं, अतः यह मोक्ष का हेतु कहा गया है। क्षयोपशमभाव दोष का द्योतक नहीं है, अतः कर्म-बंध का हेतु नहीं है। क्षयोपशम भाव की अवस्था में जो पाप कर्मों का बंध होता है वह उस अवस्था में रहते हुए औदयिक भाव से होता है, क्षयोपशम भाव से नहीं होता है। अतः भोग-उपभोग आदि की पूर्ति व उससे होने वाले सुख को अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना, औदयिक भाव को क्षयोपशमिक भाव मानना है, जो भयंकर भूल है। क्षयोपशम भाव से विषयों के भोग-उपभोग की इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। भोग-उपभोग की इच्छा औदयिक भाव से होती है। अतः भोग-उपभोग से संबंधित इच्छा की उत्पत्ति, अपूर्ति, पूर्ति एवं उससे मिलने वाला सुख आदि सब प्रवृत्तियाँ, क्रियाएँ विभाव हैं, विकार हैं। इन सब अवस्थाओं में राग व पराधीनता रहती है, पराश्रय रहता है। राग, पराधीनता व पराश्रयता पाप है। इन्हें अन्तराय

कर्म के क्षयोपशम से मानना भयंकर भूल है। ये सब अवस्थाएँ अन्तराय कर्म के उदय की द्योतक हैं। कारण कि अपने सुख के लिए किसी से कुछ भी पाने की इच्छा करना औदार्य अर्थात् दानगुण का घात करना है, दानान्तराय का उदय है। वस्तुओं की प्राप्ति की कामना, अभाव की, दरिद्रता की द्योतक है, ऐश्वर्य गुण की घातक है, लाभान्तराय का उदय है। विषय-भोग के सुख की इच्छा आत्मा के निज स्वभाव के सुख के अनुभव की घातक है, स्वाभाविक भोग-उपभोग के सुख से विमुख करती है, अतः भोगान्तराय- उपभोगान्तराय के उदय की सूचक है। सांसारिक दान, लाभ, भोग, उपभोग की पूर्ति के लिए प्रवृत्ति, प्रयत्न, पुरुषार्थ करना अपने सामर्थ्य-वीर्य का दुरुपयोग करना है, इससे सामर्थ्य का व्यय होता है अतः जो सामर्थ्य दोषों के त्यागने में लगना चाहिए वह सामर्थ्य या वीर्य दोषों की वृद्धि में लग रहा है। यह वास्तविक सामर्थ्य व पुरुषार्थ से विमुख कर रहा है, अतः वीर्यान्तराय है।

अन्तराय कर्म घातिकर्म है। घातिकर्म होने से आत्मा के गुणों के घात से सम्बन्धित है। आत्मिक गुणों का घात दोषों से, विकार से, विभाव से होता है अर्थात् औदयिक भाव से होता है। घातिकर्मों में कमी या क्षय, क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक इन तीनों भावों से होता है। इन तीनों भावों से पापों की, दोषों की, विकारों की उत्पत्ति एवं इनकी सामग्री की प्राप्ति नहीं होती है, अपितु विकारों का नाश होता है। क्षायोपशमिक भाव से दोषों में आंशिक कमी होती है। औपशमिक भाव से दोषों का उपशम होता है और क्षायिकभाव से दोष सर्वथा क्षय होते हैं और गुण प्रकट होते हैं। अन्तराय के उदय से दोष व विकार उत्पन्न होते हैं और क्षयोपशम से दोषों में कमी होती है जिससे आंशिक गुण प्रकट होता है तथा क्षायिकभाव से दोषों का उन्मूलन हो जाता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आत्मा के गुण हैं। इन गुणों से विमुख करने वाला अन्तराय कर्म है। प्राणी चारित्र मोहनीय-कषाय के उदय के कारण इन आत्मिक गुणों से विमुख होता है। उदारता का गुण दान है, कामना रहित होने से, अभाव रहित होना लाभ है, ऐश्वर्य है। ममता रहित होने से निर्विकारता-निर्दोषता से मिलने वाले आत्मिक सुख का अनुभव भोग है। अहं भाव रहित होने से निज स्वरूप के उस सुख का

निरन्तर बने रहना उपभोग है। इन गुणों को बनाये रखना, नष्ट न होने देना वीर्य है। इन सब गुणों से विमुख करता है विषय—सुखों का प्रलोभन। कहा भी है— **लोहो सव्वविणासणो** अर्थात् लोभ सब गुणों का नाश करने वाला है। विषय सुख के प्रलोभन से ही दूसरों से भोग सामग्री पाने की इच्छा पैदा होती है जिससे औदार्य गुण से विमुखता होती है, जो दानान्तराय है। सुख के प्रलोभन से ही भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना पैदा होती है, जिससे अभाव का अनुभव होता है, जो लाभान्तराय का उदय है। विषय—सुख के भोग से ही विकारों की उत्पत्ति होती है निर्विकारता—निर्दोषता के, स्वस्थता के वास्तविक सुख से वंचित करती है, यह भोगान्तराय का उदय है। भोगों में निरन्तर रहना जो निज स्वाभाविक—वास्तविक सुख के निरन्तर उपभोग से वंचित करता है, उपभोगान्तराय का उदय है। विषय—सुखों की प्राप्ति में सामर्थ्य का व्यय करना विषय—सुखों को, विकारों को त्यागने के सामर्थ्य से वंचित होना है, यह वीर्यान्तराय है। विषय—सुख के प्रलोभन से उत्पन्न ये पांचों बातें बहिर्मुखी बनाती हैं, इनकी उत्पत्ति, अपूर्ति और पूर्ति से मिलने वाले सुख में पराधीनता, जड़ता, विकार आदि विभाव रहते हैं। यह स्वभाव से वंचित तथा विमुख होना है, इससे आत्म—गुणों का घात होता है। इन दोषों में जितने अंशों में कमी होती जाती है उतने ही अंशों में उदारता, निर्लोभता, ऋजुता—मृदुता, निर्विकारता, निर्दोषता, माधुर्य का आनन्द एवं त्याग की सामर्थ्य आती जाती है। यही इन पांचों का क्षयोपशम है।

विषय—सुखों का भोग—उपभोग निज के वास्तविक सच्चे सुख का घातक है। अतः विषयों के उपभोग के सुखों को जो कि सुखाभास हैं, अतंराय कर्म के क्षयोपशम से मानना भयंकर भूल है। यह विभाव को स्वभाव, दोष को गुण तथा पाप को पुण्य व धर्म मानना है। जब विषय—भोग ही दोष हैं, तब भोगों की पूर्ति में सहायक सामग्री जो भोगी जीव के भोग के दोष— वृद्धि में निमित्त कारण है उसे दोषों के क्षयोपशम से मानना कथमपि उचित नहीं है।

कृपणता दानान्तराय की, कामना की उत्पत्ति दरिद्रता (अभावग्रस्तता) या लाभान्तराय की, विषय भोगों— उपभोगों की गृद्धता भोगान्तराय व उपभोगान्तराय की, दोषवृद्धि की प्रवृत्ति वीर्यान्तराय की सूचक है।

औदार्य—उदारता दान गुण का, निष्कामता निर्लोभता (ऐश्वर्य—सम्पन्ता) लाभ का, निर्ममता, निर्विकारता—ऋजुता—भोग गुण का, माधुर्य मृदुता—उपभोग गुण का और दोषों को दूर करने, त्यागने का सामर्थ्य वीर्य गुण का सूचक है।

अन्तरायकर्म का क्षय और सिद्धावस्था

वर्तमान काल में बहुत से विद्वान् सिद्ध भगवान् में दान, लाभ आदि लब्धियाँ नहीं मानते हैं, परन्तु श्री वीरसेनाचार्य ने धवला पुस्तक 7 गाथा 11 पृ. 14—15 में सिद्धों में पाँच लब्धियाँ मानी हैं—

विनियोवभोगे—भोगे दाणे लाभे जदुयदो विगधं।

पंचविठ लद्धिजुत्तो तवकम्मवया ह्वे भिद्धो॥

जिस अंतराय कर्म के उदय से जीव के वीर्य, उपभोग, भोग, दान और लाभ में विघ्न उत्पन्न होता है, उसी कर्म के क्षय से सिद्ध पंच लब्धि (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) से युक्त होते हैं।

अंतराय कर्म क्षय से तेहरवें गुणस्थान में दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये जीव के पाँचों क्षायिक गुण प्रकट होते हैं। ये गुण जीव के स्वभाव हैं अतः निजगुण हैं, किसी बाहरी पदार्थ पर निर्भर नहीं हैं और न बाहरी जगत् से सम्बन्धित हैं। अतः सिद्ध होने पर ये गुण असीम, अनन्त रूप से प्रकट होते हैं।

मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म में पारस्परिक सम्बन्ध

सर्व कर्मों का बंध मोहनीय कर्म से ही होता है। कारण कि बिना राग—द्वेष एवं विषय—कषाय के सेवन के किसी भी कर्म का बंध नहीं होता है। अतः अन्तराय का बंध भी मोह से ही होता है।

मोह के उदय से सुख के भोगों की इच्छा उत्पन्न होती है। जिससे विषय सुख की पूर्ति के लिये स्वार्थपरता, विषय सामग्री के प्रति ममता उत्पन्न होती है। स्वार्थपरता और ममता जीव की उदारता का अपहरण कर लेती है जिससे दान देने की भावना उत्पन्न नहीं होती, यह दानान्तराय है। मोह से आसक्ति पैदा होती है जिससे आत्मा की वृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है। बहिर्मुखी वृत्ति से जीव निज के शान्त, अखंड, असीम व अनन्त रस के भोग से वंचित तथा विमुख हो जाता है, यह भोगान्तराय है। आसक्ति से बहिर्मुखी वृत्ति निरन्तर बनी रहती है जो अंतर्मुखी वृत्ति या

निजानुभूति के नित्य रस का घात करती है, यह उपभोगान्तराय है। मोह जनित वासना या कामना की पूर्ति में पराधीनता है। पराधीनता का अनुभव ही वीर्यान्तराय का उदय है। इस प्रकार अन्तराय कर्म के पांचों प्रकार मोह से ही संबंधित हैं। जब तक मोह है तब तक ही ये हैं। अतः मोह का क्षय होते ही अन्तर्मुहूर्त में ये सभी क्षय हो जाते हैं। जब भी ये पांचों प्रकृतियाँ क्षय होती हैं, एक साथ क्षय होती हैं। कारण कि इन पांचों प्रकृतियों की उत्पत्ति का मूल मोह ही है। अतः जब मोह कर्म का उन्मूलन होता है, तब अन्तराय कर्म की इन पांचों प्रकृतियों का उन्मूलन हो जाता है।

स्वार्थपरता, कामना, ममता (तादात्म्य) आदि मोह के सब रूप परस्पर में ओत-प्रोत हैं, अनुस्यूत हैं। अतः इनसे होने वाला बंध, उदय, उदीरणा, क्षय एक साथ ही होता है। स्वार्थपरता से दानान्तराय का, कामना से लाभान्तराय का, ममता (आसक्ति) से भोगान्तराय का, तादात्म्य-अहंभाव से उपभोगान्तराय का एवं पराधीनता से वीर्यान्तराय का सम्बन्ध है। इसके विपरीत निस्वार्थपरता से, उदारता से, दानान्तराय का क्षयोपशम व क्षय, निष्काम होने से लाभान्तराय का क्षयोपशम व क्षय, निर्ममता से भोगान्तराय का तथा निरभिमानता से उपभोगान्तराय का क्षयोपशम व क्षय, परिग्रह के त्याग से वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम व क्षय होता है। इन प्रकृतियों के क्षयोपशम से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की आंशिक उपलब्धि होती है। इनके क्षय से दान-लाभादि पांचों लब्धियाँ अनन्त हो जाती हैं अथवा संक्षेप में कहें तो स्वार्थपरता से, दानान्तराय का, कामना से लाभान्तराय का, ममता से भोगान्तराय का, आसक्ति-अहंभाव से उपभोगान्तराय का, और कर्तृत्व भाव से वीर्यान्तराय का आस्रव व बंध होता है और इन पांचों दोषों में जितनी कमी आती है उतनी ही दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य की उपलब्धि हो जाती है। स्वार्थपरता, कामना आदि पांचों दोषों के पूर्ण त्याग से दानान्तराय आदि पाँचों अन्तराय के क्षय से दान, लाभ आदि पाँचों उपलब्धियाँ असीम एवं अनन्त हो जाती हैं।

याचना, खेत-वास्तु आदि परिग्रह, विषय-भोग, कर्तृत्वभाव, उपभोग आदि आत्मा के गुण नहीं हैं, अपितु आत्मा के दोष हैं। दोष को गुण समझना अज्ञान है, भ्रान्ति है। विषयसुख का भोग विकार है, मोह है। यह विषय सुख ही वास्तविक अक्षय, अव्याबाध व अनन्त आत्मिक सुख से

विमुख करता है, वंचित करता है। यह उस अनन्त सुख में बाधक बनता है, उसे प्रकट नहीं होने देता है। अतः विषय—सुख का भोग किसी कर्म के क्षयोपशम या क्षय का फल नहीं है, इसके विपरीत घातिकर्म, अशुभ कर्म चारित्र मोहनीय के उदय का परिणाम है। जिसके साथ आदि से अंत तक पराधीनता, आकुलता, अशान्ति, शक्तिक्षीणता, आर्तध्यान आदि दोष व दुःख जुड़े हुए हैं। घाती कर्म के क्षयोपशम तथा क्षय से आत्मिक गुण प्रकट होता है, न कि विषयभोग, उपभोग आदि आत्मिक दोष, विकार व दुःख। विषयों के भोग, उपभोग आदि दोषों को गुण मानना, शुभ कर्म का परिणाम मानना भूल है, मिथ्यात्व है।

अन्तराय कर्म का मोहनीय कर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। कारण कि अन्तराय मोह का परिणाम या फल है। मोह के कारण 1. विषय सुखों में सहायता प्राप्त करने की 2. वस्तुओं को पाने की 3. सुख भोगने की 4. सुख को बनाये रखने की तथा प्रवृत्ति करने की इच्छा पैदा होती है।

अन्तराय कर्म की पांचों प्रकृतियाँ मोह की ही देन हैं। अतः मोह के बंध के रुकने के साथ इनका भी बंध रुक जाता है। मोह के उदय की न्यूनाधिकता के साथ इनका भी उदय न्यूनाधिक होता रहता है। जैसे वृक्ष के अभाव में फल नहीं लगता ऐसे ही मोहनीय के अभाव में अन्तराय रूप फल नहीं लगते हैं।

घाती कर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं अन्तराय कर्म

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घाती कर्मों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से किसी भी एक कर्म का क्षयोपशम, उदय और बंध होते ही शेष तीनों कर्मों का क्षयोपशम, बंध और उदय प्रायः स्वतः होने लगता है। इन चारों कर्मों के क्षयोपशम का सम्बन्ध 1. राग—द्वेष, मोह की कमी के साथ है। जितनी राग—द्वेष—मोह की कमी होगी उतना ही चारों कर्मों का क्षयोपशम होगा। यथा— मोह घटेगा तो विकल्प घटेंगे। विकल्प के घटने से दर्शनावरण का क्षयोपशम होगा, कारण कि निर्विकल्पता ही दर्शन है। विकल्प घटने से चित्त शान्त होगा, चित्त जितना शान्त होगा उतना ही विवेक एवं ज्ञान का प्रकाश प्रकट होगा, ज्ञान का आवरण घटेगा और ज्ञान का प्रभाव प्रकट होगा। अर्थात् ज्ञानावरण का क्षयोपशम होगा। मोह—राग—द्वेष के घटने से वस्तुओं को पाने की कामना

तथा भोग करने की इच्छा कम होगी। ये इच्छाएँ जितनी कम होंगी उतना ही अभाव का कम अनुभव होगा। अतः अभाव का कम अनुभव होना अन्तराय में न्यूनता आना है— अन्तराय का क्षयोपशम होना है।

इसी प्रकार अपने निज ज्ञान, अक्षर ज्ञान, शाश्वत, सनातन, अपरिवर्तनशील ज्ञान (यही वस्तुतः जीव का स्वभाव रूप ज्ञान है) का आदर करने से—तदनुरूप आचरण करने से, ज्ञान के प्रभाव से स्वतः मोह घटता है। मोह घटने से दर्शन गुण का आदर होता है, निर्विकल्पता आती है। जिससे मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है। चित्त शान्त होने से विचार—विवेक— सत्य—तथ्य प्रकट होता है। अर्थात् ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है।

आशय यह है कि इन चारों कर्मों में से किसी की भी स्थिति व अनुभाग घटने से शेष तीनों कर्मों की भी स्थिति एवं अनुभाग घटते हैं, किसी एक की स्थिति व अनुभाग बढ़ता है तो चारों कर्मों का बढ़ता है। वीतराग होने पर चारों का क्षय हो जाता है। इन चारों कर्मों में प्रधान मोहनीय कर्म है। मोह के कारण ही ज्ञान—दर्शन पर आवरण आता है। साधक मोह को कम करके अथवा दर्शन का आदर करके अथवा ज्ञान का आदर करके शेष अन्य कर्मों की स्थिति व अनुभाग को कम कर सकता है। अन्तराय कर्म इन तीनों कर्मों के फल रूप में है। अतः उसकी कमी अपने—आप में संभव नहीं है। मोह की कमी होने पर ही उसमें कभी संभव है। पहले अन्तराय कर्म में कमी नहीं हो सकती। साधक ज्ञान का आदर करने में, दर्शन का आदर करने में तथा मोह की कमी करने में, स्वाधीन व समर्थ है और इन तीनों में से किसी से भी प्रारम्भ कर सकता है। परन्तु अन्तराय कर्म मोह पर निर्भर होने से मोह में कमी होने से ही अन्तराय कर्म का क्षयोपशम सम्भव है।



कर्म सिद्धान्त और पुण्य-पाप

जैन दर्शन में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान और कर्म-सिद्धान्त विश्व में अद्वितीय है। तत्त्वज्ञान में प्राणी के लिये हेय-उपादेय का वर्णन है और कर्म-सिद्धान्त में प्राणी के जीवन से संबंधित समस्त स्थितियों का विवेचन है। यह विवेचन नैसर्गिक नियमों के रूप में है और अपने आप में अनूठा है। यहाँ कर्म-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में 'पुण्य-पाप' पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

कर्म सिद्धान्त

जैन दर्शन में ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म कहे गये हैं और इन आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ 148 कही गई हैं। इन्हीं 148 प्रकृतियों को अभेद विवक्षा से बंध योग्य 120 प्रकृतियों में समाहित किया गया है। कर्मबंध 1 चार प्रकार का है— 1. प्रकृति बंध, 2. स्थिति बंध 3. अनुभाग बंध और 4. प्रदेश बंध।

प्रकृति बंध— कर्मों के भिन्न-भिन्न स्वभाव के उत्पन्न होने को प्रकृति बंध कहते हैं। प्रकृति बंध की अपेक्षा पुण्य-पाप की प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

अनुनवतिगुच्च आर्यं तस्मिन् तणुवंगवइवचउव्वं।

पयघाअग तिनिआऊ वन्नचउ पणिदि अनुभवगइ॥

बायालपुन्नपगई अपढमअंठाणवगइअंघयणा।

तिनियदुग अआयनीयोवघाय इगविगलनिनयतिगं॥

थाववदअ वन्नचउक्क घाइपणयालअठियबाअई।

पावपयडिति दोअुवि, वन्नाइगठा अुठा-अअुठा॥

— पंचम कर्मग्रन्थ, गाथा 5-7

—पंचसंग्रह 3/21, 22, गोम्मटसार कर्म काण्ड गाथा 41-43

अर्थ— सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु) मनुष्यत्रिक (मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), उच्च गोत्र, सातावेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति) औदारिक,

वैक्रिय, आहारक, तैजस, कर्मण शरीर, अंगोपांगत्रिक (औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग) वज्रऋषभनाराच—संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थकर, निर्माण। तिर्यच आयु, शुभ वर्णचतुष्क (वर्ण, गंध, रस, स्पर्श) ये 37 प्रकृतियाँ अघाती कर्मों की एवं पंचेन्द्रिय जाति और शुभ विहायोगति ये पुण्य की 42 कर्म प्रकृतियाँ हैं।

पहले संस्थान व संहनन को छोड़कर 5 संस्थान तथा 5 संहनन, अशुभ विहायोगति, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीचगोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय, विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति) अशुभ वर्णचतुष्क (अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श) ये 37 प्रकृतियाँ अघाती कर्मों की एवं घाती कर्मों की 45 प्रकृतियाँ (ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9, मोहनीय 26, अंतराय 5) ये 82 पाप की प्रकृतियाँ हैं।

स्थितिबंध— जीव के साथ कर्मों के रहने की मर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं। पुण्य—पाप कर्मों का स्थिति बंध इस प्रकार है—

अव्वाण वि जिट्ठिडि अन्नुभा जं आइअकिलेअणं।

इयअ विअोठिओ पुण मुतुं नअअमवतिवियाउं॥

—पंचमकर्म ग्रन्थ, 52

अव्वदिट्ठीणमुक्कअअओ दुउक्कअअ अकिलेअणं।

विवनीदेण जहण्णो आउगातियवज्जियाणंतु॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 134

अर्थ—मनुष्य, देव और तिर्यच आयु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अति संक्लेश परिणामों में बंधने के कारण अशुभ है। इनकी जघन्य स्थिति का बंध विशुद्धि द्वारा होता है। तीन आयु का उत्कृष्ट स्थिति बंध 1 विशुद्धि परिणामों से और जघन्य स्थिति बंध संक्लेश परिणामों से होता है।

अनुभाग बंध— कर्म की फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग के सम्बन्ध में कहा है—

बादालं तु पअत्था विअोठिणुणमुकडअअ तिव्वाओ।

बाअीदि अप्पअत्था मिच्छुक्कडअकिलिडट्ठअअ॥

—गोम्मटसारकर्मकाण्ड, 164

तिव्वो अबुल्लमुल्लणं अकंअविओळिओ विवज्जयउ।

मंदरसो.....—पंचम कर्मग्रन्थ, 63

अर्थात् 42 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट विशुद्धि गुणवाले जीवों के होता है और 82 पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। आतप, उद्योत, तिर्यचायु, मनुष्यायु इन चार पुण्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष 38 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है, मिथ्यात्वी जीवों के नहीं। इन 38 प्रकृतियों में से देवायु का अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती के, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संघयण इन 5 प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हुए अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में सम्यग्दृष्टि रहने वाले जीव के ही होता है। शेष 32 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध चारित्र की क्षपक श्रेणी करने वाले साधक के केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होने के अंतमुहूर्त पूर्व ही होता है। यथा—

विउव्विमुत्ताखवदुगं अबुवगाइवन्नचउतेयजिणआयं।

अमचउपवघातअदअ पणिदिआअुच्च अबुवगा उ।।

—पंचम कर्मग्रन्थ, 67

अर्थ— वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारक द्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तेजसचतुष्क, तीर्थकर नामकर्म, सातावेदनीय, समचतुरस्र संस्थान, पराघात, त्रसदशक, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास नाम और उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभागबंध क्षपक श्रेणी करने वाले ही करते हैं।

इन 32 पुण्य प्रकृतियों का यह उत्कृष्ट अनुभाग बंध उसी भव में मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव ही करते हैं। उनका यह अनुभागबंध मुक्ति—प्राप्ति के अंतिम क्षण तक (दो समय पूर्व तक) उत्कृष्ट ही रहता है, जैसा कि कहा है— सुहाणं पयडीणं विसोहिदो केवलिसमुग्धादेण जोगणिरोहेण वा अनुभागघादो णत्थि ति जाणवेदि। खीणकसाय— संजोगीसु टिठदि अणुभागवज्जिदे सुहाणं पयडीणमुकस्साणुभागो होदि णत्थि अत्थावतिसिद्धं (धवलपुस्तक 12 पृष्ठ 14) अर्थात् शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का घात विशुद्धि, केवलिसमुद्घात अथवा योग—निरोध से नहीं होता। क्षीण कषाय और सयोगी केवली गुणस्थानों में स्थितिघात व अनुभागघात के होने पर

भी शुभ प्रकृतियों का अनुभागघात वहाँ नहीं होता है, यह सिद्ध होने पर स्थिति व अनुभाग से रहित अयोगी केवली गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग यथावत् बना रहता है। यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग क्षायिक चारित्र, वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति में बाधक नहीं है।

यह नियम है कि जब तक पुण्य कर्म प्रकृतियों का द्विस्थानिक अनुभाग बढ़कर चतुःस्थानिक नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है और यह चतुःस्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है। इसके विपरीत पापकर्म की प्रकृतियों का चतुःस्थानिक अनुभाग घटकर द्विस्थानिक नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है और घाती पाप प्रकृतियों का पूर्ण क्षय नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान में पाप ही बाधक है, पुण्य बाधक नहीं है, पुण्य और पाप प्रकृतियों के अनुभाग (रस) के विषय में कहा—

गुडञ्चलञ्चकनामियञ्चिञ्चा अत्था दु णिबकजीना।

विञ्चलाल्लञ्चिञ्चाऽअत्था दु अघादिपडिभागा॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 184

अघाती कर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों का एक स्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस क्रमशः गुड, खांड, मिश्री और अमृत के समान होता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का रस क्रमशः नीम, कांजीरा, विष, हलाहल के समान होता है। यह कथन इन प्रकृतियों के एक स्थानिक—द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक एवं चतुःस्थानिक स्पर्द्धकों के रस की क्रमशः वृद्धि का सूचक है। यदि पुण्य—प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर चतुःस्थानिक व उत्कृष्ट हो जाता है तो वह अमरत्व (देवत्व, अविनाशीपन) का सूचक होता है। इसके विपरीत पाप प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होता है तो हलाहल विष का कार्य करता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य का अनुभाग जीव के लिये शुभफलदायक एवं अत्यन्त हितकारी है और पाप का अनुभाग अशुभफलदायक तथा अत्यन्त अहितकारी है।

प्रदेशबंध— जीव के साथ कर्म परमाणुओं के स्कंधों का सम्बन्ध जितनी मात्रा में होता है, उसे प्रदेशबंध कहते हैं। कर्मों का प्रदेश बंध

योगों से होता है, यथा—

अप्ययनपयडिबन्धी उत्कडजोगी व अग्निपज्जतो।
कुण्ड पएमुक्कोअं जठन्नयं, तन्न वच्चाअे॥

—पंचम कर्मग्रन्थ, 89

उत्कड-जोगो अग्णी, पज्जतो पयडिबन्धमप्यदने।
कुणदि पदेमुक्कअं, जठण्णये जाण विवरीयं॥

—गोम्मटसार, कर्मकांड, 210

अर्थ— अल्पतर प्रकृतियों का बंध करने वाला, उत्कृष्ट योगधारक और पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेश बंध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियों का बंध करने वाला, जघन्य योगधारक, अपर्याप्त जीव जघन्य प्रदेश बंध करता है।

प्रदेश बंध मुख्यतः योगों से होता है। इस बंध में संक्लेश—विशुद्धि का विशेष स्थान नहीं है और किसी भी पुण्य व पाप कर्म की प्रकृतियों के प्रदेश बंध के न्यूनाधिक होने का इनके अनुभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जैसे कोई मधुर या कटु वस्तु बड़ी हो या छोटी, हो, इससे इसके रस या स्वाद में कोई अंतर नहीं होता है। इसी प्रकार पुण्य—पाप की किसी प्रकृति के प्रदेश कितने ही कम हों या अधिक हों, इससे उसके फल पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इससे यह फलित होता है कि मन, वचन, काया के योग अर्थात् इनकी प्रवृत्ति कितनी ही न्यून व अधिक हो इससे प्रदेशों का न्यूनाधिक बंध तो होता है, परन्तु उस बंध से जीव को हानि—लाभ नहीं होता है। जीव का हित—अहित नहीं होता है। जीव का हित—अहित का सम्बन्ध अनुभाग से है और अनुभाग बंध का सम्बन्ध कषाय की मंदता—वृद्धि से है, कहा भी है—

पनमाणूणं बहुतमप्यत्तं वां अणुभागवद्भित्तिं सणीणं ण कारणमिदि।

—कसाय पाहुड —जयधवलटीका पुस्तक 5 पृ. 339।

अर्थात् कर्म परमाणुओं का बहुत्व या अल्पत्व अनुभाग की वृद्धि और हानि का कारण नहीं है।

उदय—कर्मों का फल भोगना उदय है। मुक्ति प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी जीवों के 13वें गुणस्थान में 42 एवं 14 वें गुणस्थान में 12 प्रकृतियों का उदय रहता है, यथा—

तदियेक्कवज्जिणिमिणं थिनमुत्थन्नगदिउन्नलतेउद्दुगं।

अंठाणं वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिमिह्।।

तदियेक्कं मणुवगदी पंचिंदिय सुभगतअतिगादेज्जं।

जअत्थिं मणुवाउ उच्चं च अजोगिचनिमिह्।।

—गोम्मटसार, कर्मकांड, 271-272

अर्थात् तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में 42 प्रकृतियों का उदय रहता है। इनमें से 30 प्रकृतियों का इस गुणस्थान के अंतिम समय में उदय विच्छेद हो जाता है और शेष 12 प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक रहता है। 30 प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं— वेदनीय कर्म की साता—असाता में से कोई एक, वज्रऋषभनाराच संहनन, निर्माण, स्थिर—अस्थिर, शुभ—अशुभ, सुस्वर— दुःस्वर, शुभ एवं अशुभ विहायोगति, औदारिक शरीर एवं अंगोपांग और तैजस—कर्मण, समचतुरस्रसंस्थान आदि 6 संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु आदि चार (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास) और प्रत्येक शरीर। साता—असाता में से कोई एक प्रकृति, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रसादि तीन (त्रस, बादर, पर्याप्त), आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थकर, मनुष्यायु एवं उच्चगोत्र ये 12 प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं।

उदीरणा— जो कर्म प्रकृतियाँ उदयकाल से बाहर हैं उन्हें उदय में ले आना उदीरणा है। 'उदय उदीरणा' कर्मग्रंथ भाग 2 गाथा 23 के अनुसार सब गुणस्थानों में उदय के समान ही उदीरणा की संख्या होती है, परन्तु साता वेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायु इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक नहीं होती है। चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता—कर्मा का आत्म—प्रदेशों के साथ स्थित रहना सत्ता है। तेरहवें—चौदहवें गुणस्थान में सत्ता इस प्रकार है—

पणअीइ अजोगि अजोगि दुचनिमे देववगइगंधदुगं।

फाअट्ठ वन्नअतणुबंधणअंधायण - निमिणं॥

अंधयण अथिन अंठाण—एक्क अगुकलदु चउअपज्जतं।

आयं व अआयं वा पत्तिवंगतिग मुअअनियं॥

बिभ्रयनिवओ च चनिमे तेवम मणुयतमतिग जन्माइज्जं॥

सुभगजिणुच्चं पणिदिय तेवम आयाआएगयन्हेओ॥

—कर्मग्रंथ भाग 2, गाथा 31—33, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 340—341

गाथार्थ— सयोगी और अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक 85 प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उसके बाद देवद्विक, विहायोगति द्विक, गंधाद्विक, आठ स्पर्श, वर्ण, रस, शरीर, बंधन और संघातन इन सबकी पाँच-पाँच, निर्माण, संहनन षट्क, अस्थिरषट्क, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, अपर्याप्त, साता अथवा असातावेदनीय, प्रत्येकत्रिक, उपांगत्रिक, सुस्वर और नीच गोत्र इन 72 प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में होता है। इसके बाद मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यश-कीर्ति, आदेय, सुभग, जिननाम, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रिय जाति, साता अथवा असाता वेदनीय, इन तेरह प्रकृतियों की सत्ता का क्षय चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में होने से आत्मा कर्मरहित होकर मुक्त हो जाता है।

तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में पूर्वोक्त 42 प्रकृतियों का उदय होता है। इन प्रकृतियों में अघाती कर्मों की पाप व पुण्य दोनों प्रकार की प्रकृतियों का उदय है। इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्ति के हेतु वीतरागता की उपलब्धि में अघाती कर्मों की पुण्य-पाप प्रकृतियों का उदय बाधक नहीं है। इसी प्रकार चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में अघाती कर्मों की 85 प्रकृतियों की सत्ता द्विचरम समय तक रहती है। इन 85 प्रकृतियों में वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की पाप प्रकृतियाँ, असातावेदनीय, नीच गोत्र एवं अनादेय, अयशकीर्ति आदि की सत्ता भी है तथा पुण्य की 42 प्रकृतियों में से देवायु, तिर्यचायु, आतप, उद्योत इन चार प्रकृतियों को छोड़कर शेष 38 प्रकृतियों की सत्ता है। जब वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मों की पाप प्रकृतियों की सत्ता भी वीतरागता की उपलब्धि व शुक्ल ध्यान में बाधक नहीं है तब पुण्य प्रकृतियों की सत्ता वीतरागता में व शुक्ल ध्यान में बाधक होने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती। अतः “पुण्य कर्म वीतरागता व मुक्ति में बाधक है” यह मान्यता निराधार है।

उत्कर्षण—अपकर्षण—संक्रमण

कम्माणं अम्बन्धो बंधो, उक्कट्ठणं त्वे वड्ढी।

अंकमणमणत्थगदी खणी ओकट्ठणं णाम॥

—गोम्मटसारकर्मकाण्ड, 438

कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बंध है। सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति व अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है एवं स्थिति व अनुभाग का कम होना अपकर्षण है और अन्य प्रकृति रूप परिणमन या रूपान्तरण होना संक्रमण है।

संक्लेश परिणामों से पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का उत्कर्षण, पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का अपकर्षण एवं पुण्य प्रकृतियों का अपनी सजातीय पाप प्रकृतियों में संक्रमण होता है। विशुद्ध परिणामों से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण, पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपकर्षण एवं पाप प्रकृतियों का अपनी सजातीय पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है अर्थात् विशुद्ध भावों से पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है, साथ ही सत्ता में स्थित पाप-प्रकृतियों का सजातीय पुण्य-प्रकृतियों में रूपान्तरण होता है जिससे पुण्य कर्मों में अभिवृद्धि होती है।

बंधुकदृढकणं नगनगबंधोति लेदि णियमेण।

अंकमणं कणं पुण नगनगजादीण बंधोति॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 444

अर्थात् बंधकरण और उत्कर्षण करण ये दोनों अपनी-अपनी प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति पर्यन्त होते हैं और अपनी-अपनी जाति की प्रकृतियों की जहाँ बंध व्युच्छित्ति होती है वहाँ तक इनका संक्रमण होता है।

ऊपर कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा व सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, अपवर्तन एवं संक्रमण के परिप्रेक्ष्य में पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है। उसी पर यहाँ घाती-अघाती कर्म प्रकृतियों की दृष्टि से विचार किया जा रहा है। आत्मा के विकास व ह्रास का आधार आत्मा के गुणों का विकास एवं ह्रास है। जिन कर्म-प्रकृतियों से आत्मा के गुणों का ह्रास (हानि) हो, उन्हें घातिकर्म कहा गया है और जिन कर्म-प्रकृतियों से आत्मा के गुणों का अंशमात्र भी घात नहीं हो, उन्हें अघाती कर्म कहा गया है। घाती कर्म ही आत्मा के गुणों के घातक हैं। अतः साधक के लिये इनका ही क्षय करना आवश्यक है। अघाती कर्म प्रकृतियों की सत्ता का पूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी, वीतरागता एवं केवलीसमुद्घात से भी नहीं होता है।

ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण की 9, मोहनीय की 28 एवं अंतराय कर्म की 5 ये कुल 47 कर्म प्रकृतियाँ घाती हैं। ये ही आत्मा के गुणों का घात करने वाली हैं। अतः ये सब पाप प्रकृतियाँ आत्मा के लिये घोर अहितकारी

हैं। शेष वेदनीय की 2, आयुकर्म की 4, नाम कर्म की 67 और गोत्र कर्म की 2 प्रकृतियाँ— इन चार कर्मों की ये कुल 75 प्रकृतियाँ अघाती हैं। इन्हीं 75 प्रकृतियों में सातावेदनीय, तिर्यच—मनुष्य— देव आयु, उच्च गोत्र तथा नाम कर्म की 37 शुभ प्रकृतियाँ ये कुल 42 प्रकृतियाँ पुण्य कर्म की हैं, शेष प्रकृतियाँ पाप कर्म की हैं। अघाती कर्म के पुण्य—पाप की किसी भी प्रकृति के बंध, उदय व सत्ता से जीव के किसी भी गुण का घात नहीं होता है। अतः ये साधना में, आत्म—विकास में व मुक्ति के मार्ग में बाधक नहीं हैं। यही कारण है कि चौदहवें अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक चारों अघाती कर्मों की पुण्य—पाप की प्रकृतियों की सत्ता रहने पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट होने में बाधा उपस्थित नहीं होती। अपितु मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति आदि पुण्य—प्रकृतियों के उदय की अवस्था में ही साधुत्व (महाव्रत) तथा वीतरागता की साधना एवं केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति संभव है। तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्म—प्रकृतियाँ मुक्ति—प्राप्ति की साधना में बाधक नहीं हैं।

कर्म—सिद्धान्त का यह नियम है कि वेदनीय, गोत्र व नाम कर्म की सातावेदनीय, उच्चगोत्र, सुभग, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों का अक्षुण्ण व उत्कृष्ट अनुभाग बंध होने से पूर्व इन पुण्य—प्रकृतियों का बंध रुक जाने पर इनकी विरोधिनी असातावेदनीय, नीचगोत्र, दुर्भग, अनादेय आदि पाप प्रकृतियों का आस्रव व बंध अवश्य होता है अर्थात् पुण्य—प्रकृतियों के जीवन पर्यन्त के लिए उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामी वीतराग जीवों को छोड़कर शेष जीवों के पुण्य प्रकृतियों का बंध रुक जाने पर उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियों का बंध । नियम से होता है। अतः कर्म सिद्धान्तानुसार पुण्य का विरोध व निरोध करना पाप कर्मों का आह्वान करना व आमंत्रण देना है।

‘कर्मसिद्धान्त में पुण्य—पाप’ विषयक उपर्युक्त निरूपण श्वेताम्बर एवं दिगम्बर कर्म साहित्य में सर्वमान्य है। कर्म—सिद्धान्त सम्बन्धी श्वेताम्बर साहित्य कर्म—ग्रंथ, पंच—संग्रह, कर्म—प्रकृति, भगवती सूत्र, पन्नवणा सूत्र आदि ग्रंथों में तथा दिगम्बर साहित्य षट्खण्डागम व उसकी धवला—महाधवला टीका, गोम्मतसार, कषायपाहुड व उसकी चूर्णि तथा जयधवला टीका आदि ग्रंथों में कहीं पर भी, कुछ भी मतभेद नहीं है।



आत्म-विकास, सम्पन्नता और पुण्य-पाप

पूर्व लेखों में यह कह आए हैं कि अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियाँ वीतरागता प्राप्ति में बाधक नहीं हैं। इससे यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि क्या अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ वीतरागता में बाधक हैं? यदि बाधक हैं तो इन्हें अघाती कैसे कहा गया?

जिससे आत्मा पवित्र हो, शुद्ध हो ऐसा विशुद्ध्यमान चढ़ता परिणाम पुण्य तत्त्व है। आत्मा का पवित्र होना आत्मा का विकास होना है। आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था ही मोक्ष है। पुण्य की यह परिभाषा पुण्य तत्त्व की दृष्टि से है, पुण्य कर्म की दृष्टि से नहीं है। पुण्य तत्त्व का सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता से, आत्म गुणों के प्रकट होने से है और पुण्य कर्मों का सम्बन्ध पुण्य तत्त्व के फल के रूप में मिलने वाले शरीर, इन्द्रिय, मन, मस्तिष्क आदि सामग्री व सामर्थ्य की उपलब्धि से है। संसारी अवस्था में पुण्य तत्त्व आत्म-विकास का और पुण्य कर्म भौतिक विकास का सूचक है। इन दोनों विकासों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह नियम है कि प्राणी का जितना आध्यात्मिक विकास होता जाता है उतना ही भौतिक विकास भी स्वतः होता जाता है।

पुण्य तत्त्व से विपरीत पाप तत्त्व है। जिससे आत्मा का पतन हो, आत्म गुणों का ह्रास हो, हनन हो, आत्मा की अशुद्धि बढ़े ऐसे संक्लेश्यमान, गिरते परिणामों को पाप तत्त्व कहा गया है। पाप तत्त्व से दो कार्य होते हैं— 1. आत्मा के ज्ञान, दर्शन, ऋजुता, मृदुता आदि गुणों का घात अर्थात् ह्रास होता है अर्थात् इन्द्रिय, प्राण आदि की उपलब्धि में, इनके अनुभाग में कमी आती है। इन्हें ही कर्म सिद्धान्त में अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ कहा गया है।

आध्यात्मिक विकास-ह्रास का सम्बन्ध घाती कर्मों के क्षय, उपशम व क्षयोपशम से है। समस्त घाती कर्म-प्रकृतियों का बंध, सत्ता व उदय पाप रूप ही है। इन घाती कर्मों की कोई भी प्रकृति पुण्य रूप नहीं है।

घाती कर्मों के उदय से आत्म-गुणों का घात-हरास होता है। इसके विपरीत कषाय आदि दोषों में कमी होने से, आत्मा की पवित्रता से, पुण्य से, घाती कर्मों का क्षयोपशम, क्षय व उपशम होता है जिससे आत्म-गुण प्रकट होते हैं, अर्थात् आत्म-विकास होता है।

भौतिक विकास-हरास का सम्बन्ध अघाती कर्मों से हैं। अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियाँ भौतिक विकास व सामर्थ्य की एवं पाप प्रकृतियाँ भौतिक-ह्रास की द्योतक हैं। अघाती कर्मों की पुण्य व पाप प्रकृतियों में जातीय एकता है। ये सभी शरीर, इन्द्रिय आदि भौतिक उपलब्धियों के रूप में उदय होती हैं। इनमें भिन्नता तरतमता की ही है। उच्च स्तर की प्राप्त भौतिक उपलब्धियों को पुण्य प्रकृतियाँ और उनसे निम्न स्तर की भौतिक उपलब्धियों को पाप प्रकृतियाँ कहा गया है। जैसे इन्द्रियों की उपलब्धि को ही लें। जो जीव एकेन्द्रिय हैं उन्हें भी एक स्पर्श इन्द्रिय की भौतिक उपलब्धि है। यही जीव एकेन्द्रिय से विकास कर द्वीन्द्रिय हो गया तब इसे स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों की उपलब्धि हुई। उसका यह द्वीन्द्रिय होना आत्म-विकास का एवं अनन्त पुण्य वृद्धि का सूचक है। इसी प्रकार उसका त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय होना क्रमशः विशुद्धिभाव की व आत्म-विकास की वृद्धि की एवं उत्तरोत्तर अनन्त-अनन्त गुणे पुण्य की वृद्धि का सूचक हैं। कारण कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों की उपलब्धि स्पर्शनेन्द्रिय-मतिज्ञानावरण आदि पाँचों मतिज्ञानावरण कर्मों के भेदों के क्षयोपशम से होती है। अतः इनमें से किसी भी इन्द्रिय का मिलना पुण्य का फल है। परन्तु पंचेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय होना क्रमशः संक्लेशभाव का, आत्म-हरास का एवं उत्तरोत्तर अनन्त-अनन्त गुणे पाप की वृद्धि का सूचक है। इस प्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की उपलब्धि होने में विशुद्धिभाव और इससे विपरीत क्रम में संक्लेश हेतु हैं। इसी प्रकार यही तथ्य संहनन, संस्थान आदि अन्य पुण्य-पाप की प्रकृतियों पर भी चरितार्थ होता है। अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ भौतिक उपलब्धियों में एवं आध्यात्मिक विकास में कमी की सूचक हैं।

तात्पर्य यह है कि अघाती कर्मों की प्रकृतियाँ भौतिक उपलब्धियों की सूचक हैं। इन प्रकृतियों की सत्ता व उदय जीव के लिए किञ्चित् भी

अहितकर व घातक नहीं है। अघाती कर्मों की 101 प्रकृतियों में से 85 प्रकृतियों की सत्ता चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में द्विचरम समय तक रहती है जिनमें असातावेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पाप प्रकृतियों की सत्ता भी है। फिर भी ये केवलज्ञान, केवलदर्शन में बाधक नहीं हैं। इसी प्रकार अघाती कर्मों के उदय से प्राप्त शरीर—इन्द्रिय आदि भौतिक सामग्री व सामर्थ्य भी स्वयं किसी जीव के लिए हितकर—अहितकर नहीं है। हितकर—अहितकर है इनका सदुपयोग—दुरुपयोग। अघाती कर्मों से प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग विषय—कषाय में, भोग—वासना की पूर्ति में करना इनका दुरुपयोग है जो अहितकर है तथा इनका उपयोग दोषों के त्याग एवं सद्प्रवृत्तियों में करना सदुपयोग है, जो हितकर व कल्याणकारी है।

अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के उदय से प्रतिकूल एवं दुःखद परिस्थिति का निर्माण होता है जो आध्यात्मिक—विकास की कमी का अर्थात् विषय—कषाय के विकारों के उदय का सूचक है। अतः दुःखद परिस्थिति से छुटकारा तभी संभव है जब इन दोषों का त्याग किया जाय यथा—प्रतिकूल परिस्थिति में अशांति व तनाव का दुःख कामना से, हीनभाव व दीनभाव का दुःख मद—मान से, वैरभाव का दुःख माया व द्वेष से, दरिद्रता का दुःख लोभ से, पराधीनता का दुःख ममता से, अस्वस्थता का दुःख असंयम से, भय, चिन्ता, शोक आदि का दुःख भोगों के सुखों के प्रलोभन से उत्पन्न होता है। अतः कामना, मान, माया, लोभ, ममता, असंयम, स्वार्थपरता एवं विषय सुखों के प्रलोभन के त्याग से इन दुःखों से मुक्ति मिल जाती है और शांति, ऐश्वर्य, मृदुता माधुर्य, प्रीति, स्वाधीनता, स्वस्थता, उदारता, निर्श्चितता, प्रसन्नता आदि आध्यात्मिक सुखों का अनुभव होता है तथा प्राण, बल, बुद्धि, मन, मस्तिष्क आदि की शक्ति में वृद्धि होती है। अतः प्रतिकूल परिस्थिति व दुःखों से मुक्ति पाने का उपाय दोषों का त्याग करना है। प्रतिकूल परिस्थिति से दुःखी होकर आर्तध्यान करना, इन दुःखों से मुक्ति पाने के लिए इन दुःखों के कारणभूत कामना, ममता, अहंता आदि दोषों को न मिटाकर, बाह्य सामग्री से मिटाने का प्रयास करना परिस्थिति का दुरुपयोग है जो दुःख की परंपरा को बढ़ाने वाला है। इसी प्रकार अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों से प्राप्त अनुकूल परिस्थिति का अर्थात्

शरीर, इन्द्रिय आदि सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग दया, दान, सेवा आदि सर्वहितकारी सदप्रवृत्तियों में करना इनका सदुपयोग है। इससे उदयमान राग व कषाय गलता है, विषय सुखों की दासता से छुटकारा मिलता है और उत्कृष्ट भोगों की उपलब्धि होती है अर्थात् उसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता व अभाव का अनुभव नहीं होता है। वह सदैव प्रसन्न एवं ऐश्वर्य सम्पन्न रहता है। वह संसार के पीछे नहीं दौड़ता है, संसार उसके पीछे दौड़ता है। आशय यह है कि अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के उदय का सदुपयोग दोषों के त्याग में है और पुण्य प्रकृतियों से प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का सदुपयोग सर्वहितकारी प्रवृत्ति करने में है। इनके सदुपयोग से निर्दोषता व वीतरागता की उपलब्धि होती है। इनका उपयोग विषय-कषाय के सेवन में करना इनका दुरुपयोग है जो समस्त दुःखों व संसार-परिभ्रमण का कारण है। अघाती कर्मों का सदुपयोग-दुरुपयोग उपयोग-कर्ता के भावों पर निर्भर करता है, इन कर्मों के उदय पर नहीं।

आशय यह है कि अघाती कर्मों की पुण्य-पाप प्रकृतियाँ क्रमशः आत्म-विकास व ह्रास की द्योतक हैं। ये स्वयं आत्म-विकास व ह्रास नहीं करती हैं, अपितु कार्य-सिद्धि में क्रिया व करण का काम करती हैं। क्रिया व करण गुण-दोष रहित होते हैं। इनमें जो गुण-दोष प्रतीत होते हैं, वे कर्ता के शुभाशुभ भावों व भावों के द्वारा की गयी शुभाशुभ क्रियाओं के सूचक होते हैं। कार्यसिद्धि में कर्ता के भावों को क्रियात्मक रूप देने के लिये क्रिया आवश्यक है व क्रिया के लिये साधन-सामग्री का सहयोग भी अपेक्षित होता है। अतः मुक्ति-प्राप्ति में औदारिक शरीर, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य गति, उच्च गोत्र, सुभग, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों का उदय आवश्यक है। पुण्य प्रकृतियों के उदय का अभाव आत्म-विकास में कमी का सूचक है। यह नियम है कि जितना-जितना आत्म-विकास होता जाता है, उतना-उतना पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उदय बढ़ता जाता है। दोषों का, पापों का आंशिक त्यागकर देशव्रती श्रावक होने पर स्वतः दुर्भग, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पाप प्रकृतियों का उदय रुककर सुभग, आदेय, यशकीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियों का उदय होने लगता है। जब आत्मा क्षपक श्रेणी की साधना से अपना पूर्ण आत्म-विकास कर वीतराग हो जाती है, तब समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग स्वतः उत्कृष्ट हो जाता

है। सातावेदनीय, उच्च गोत्र, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभाग आत्म-विकास की अपूर्णता का अर्थात् पाप प्रवृत्तियों की विद्यमानता का सूचक है। आत्मा का उत्कृष्ट पूर्ण विकास शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्धि आदि प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य के सदुपयोग से ही संभव है।

कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका सदुपयोग करने पर वह साधना में सहायक न हो। परिस्थिति का सदुपयोग स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत्चिंतन, सेवा आदि सदप्रवृत्तियों में करना गुण है। परन्तु किसी भी गुण के बदले में कुछ चाहना भोग है। उस गुण का गर्व करना, उसमें अपनी गरिमा मानना व सम्मान चाहना अभिमान है। गुण का अभिमान और भोग दोष है। दोष कोई भी हो वह गुण का नाशक आत्म-विकास में बाधक एवं पुण्य के अनुभाग का घातक होता है। अतः वीतराग व मुक्ति पथ के साधक के लिये अभिमान आदि दोषों से रहित गुण ही उपादेय है। वीतराग के अतिरिक्त सभी जीवों में आंशिक गुण-दोष विद्यमान हैं। अर्थात् राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि दोषयुक्त गुण सभी प्राणियों में हैं। दोष गुण का घातक है। अतः जितने अंशों में दोष है, उतने अंशों में ही गुणों में कमी है। दोषों के त्याग में गुण की उपलब्धि है। राग-द्वेष युक्त संयम-सदप्रवृत्ति (शुभयोग) में राग-द्वेष आदि दोष या पाप ही त्याज्य हैं; संयम, सदप्रवृत्ति, शुभ योग त्याज्य नहीं है। शुभ योग के अभाव में अशुभ योग नियम से होता है। अतः शुभ योग या पुण्य त्याज्य नहीं है।

संक्षेप में कहें तो अघाती कर्मों से निर्मित सुखद परिस्थिति का सदुपयोग सेवा में है और दुःखद परिस्थिति का सदुपयोग त्याग में है। दुःखियों को देखकर करुणित होना और सज्जनों-गुणियों को देखकर प्रमुदित होना श्रेष्ठ सेवा है। शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं की ममता, अप्राप्त वस्तुओं की कामना एवं अभिमान रहित होना ही वास्तविक त्याग है। सदप्रवृत्ति रूप सेवा करने और दुष्प्रवृत्ति का त्याग करने में ही प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग है। परिस्थितियों के सदुपयोग से पाप का निरोध (संवर) और निर्जरा एवं पुण्य का आस्रव व अनुबंध होता है। पाप के निरोध व निर्जरा से आत्मा शुद्ध होती है जिससे सभी परिस्थितियों से अतीत निज स्वरूप का अनुभव होता है। परन्तु किसी भी परिस्थिति से सुख का भोग करना परिस्थितियों की पराधीनता या दासता में आबद्ध होना

है, जो समस्त दुःखों का हेतु है। दुःख स्वभाव से ही किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग आत्म-विकास की साधना में करना है। इसका उपयोग सुखभोग में करना घोर असाधन व दुःख का हेतु है, जो सभी के लिये त्याज्य है।

वर्तमान युग में भौतिक विकास विषय-भोगों का वर्धन करने वाली वस्तुओं की उपलब्धि व संग्रह को माना जाता है। जिस व्यक्ति, समाज एवं देश के पास भोग्य वस्तुओं की जितनी प्रचुरता है वह उतना ही अधिक भौतिक दृष्टि से संपन्न माना जाता है, परन्तु यह धारणा सही नहीं है, कारण कि विकास उसे कहा जाता है जिससे प्राणी का हित हो। प्राणी का हित प्राप्त परिस्थितियों के सदुपयोग में है अथवा जीवन की नैसर्गिक आवश्यकताओं यथा भोजन, वस्त्र, पात्र, मकान, शिक्षा व चिकित्सा की पूर्ति करने में है, भोग भोगने में नहीं है। कारण कि भोग का सुख शक्तिहीनता, पराधीनता, जड़ता व अभाव में आबद्ध करने वाला है तथा स्वार्थपरता, हृदय हीनता, निर्दयता, अभाव, चिन्ता, द्वन्द्व, संघर्ष आदि समस्त दुःखों व दोषों को पैदा करने वाला है। विश्व में कोई दुःख व बुराई ऐसी नहीं है जिसका कारण विषय-वासना जन्य सुख न हो। भोग की सुख-लोलुपता में आबद्ध होने से भौतिक अवनति ही होती है। यह नियम है कि जो मानव अपने व्यक्तिगत सुख को महत्त्व देता है वह परिवार के लिये अनुपयोगी होता है, जो अपने परिवार के सुख में संतुष्ट होता है वह समाज के लिये अनुपयोगी होता है। इसी प्रकार जो अपने वर्ग, देश, समाज, सम्प्रदाय जाति की उन्नति को ही उन्नति मानता है वह दूसरे वर्ग, प्रदेश, समाज आदि के लिये अहितकर होता है, यह भौतिक अवनति है। यह नियम है कि जो दूसरों के लिये अहितकर होता है उससे उसका भी अहित ही होता है। इसी प्रकार जो सभी के हित में रत रहता है उसका हित अवश्य होता है। यह भौतिक उन्नति है। सर्व हितकारी दृष्टि से नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना भौतिक उन्नति है और अपने व्यक्तिगत, सुख के लिये वस्तुओं का संग्रह करना भौतिक अवनति है। तात्पर्य यह है कि भौतिक विकास भोग-सामग्री के उपार्जन व वृद्धि में नहीं है अपितु सर्व हितकारी प्रवृत्ति में है, कर्तव्यपरायणता में है। निर्दोषता आध्यात्मिक विकास है और कर्तव्य परायणता व सद्प्रवृत्ति भौतिक विकास है।

किसी नगर में अधिक चिकित्सालय, न्यायालय, पागलखाने, अनाथालय होना भौतिक विकास नहीं है, अपितु जिस नगर में चिकित्सालय, न्यायालय, पागलखाने, अनाथालय आदि भले ही हों, परन्तु वहाँ नागरिकों को उनकी आवश्यकता ही नहीं हो अथवा कम से कम आवश्यकता हो, यह भौतिक विकास है। यह तभी संभव है जब उस नगर के नागरिक रुग्ण न हों, अपराधी न हों, विक्षिप्त मस्तिष्क न हों, भिखारी न हों। ऐसा तभी हो सकता है जब वहाँ के नागरिक संयमी हों, नैतिक हों, विज्ञ हों, संपन्न हों। संपन्न वही है जो अभावग्रस्त नहीं है। अभावग्रस्त होना दरिद्रता का सूचक है। अभावग्रस्त वही है जिसकी इच्छाओं की पूर्ति न हो। विज्ञान प्रदत्त भोग्य वस्तुएँ एवं इनके विज्ञापन इच्छाओं के उत्प्रेरक होते हैं। जिससे अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और उन सब की पूर्ति न होने से व्यक्ति अभाव की अग्नि में जलता रहता है।

आज सामान्य व्यक्ति के पास भी खाने, पीने, देखने, सुनने के साधन प्राचीन काल के सम्राटों एवं चक्रवर्तियों से भी सैकड़ों गुना अधिक हैं जैसे टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, फ्रीज, बल्ब, पंखे, वाशिंग मशीन आदि तथा सैकड़ों प्रकार की मिठाई, खटाई, नमकीन आदि। फिर भी आज का मानव अपने आपको भयंकर अभाव ग्रस्त पाता है। अभाव स्वभाव से ही किसी को भी इष्ट नहीं है। वास्तविक भौतिक विकास वह है जिसमें अभाव का अभाव हो जाय। अभाव का अभाव होना सच्ची समृद्धि है। अभाव का अभाव उसी के होता है, जिसे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये और जो कुछ भी अपने पास है उसे सर्व हितकारी प्रवृत्ति में लगाने में प्रसन्नता का अनुभव करता है। भौतिक उन्नति उसी की होती है जो सर्वहितकारी दृष्टि से प्रवृत्ति करता है और अपने विषय-भोगों का त्याग करता है। श्रेष्ठ-सेठ वही है जो किसी से कुछ मांगता नहीं है, अपेक्षा नहीं रखता है प्रत्युत अपने पास जो है उसे सहर्ष संसार के भेंट करता है। संक्षेप में कहें तो उदारता एवं मानवता से ही मानव का आत्मिक एवं भौतिक विकास होता है। भोग भोगना पशु का लक्षण है। कारण कि भोग में आसक्त प्राणी पराधीनता में आबद्ध होता है, वह स्वाधीनता के सच्चे सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। सरलता, विनम्रता, दयालुता, वत्सलता, सज्जनता, आत्मीयता, सहृदयता, उदारता आदि सर्व दिव्य गुण मानवता के ही रूप हैं। इन गुणों

का होना ही सच्ची समृद्धि है। ऐसी समृद्धि के स्वामी में आनंद का सागर हिलोरें लेने लगता है। इसके विपरीत जो इन्द्रियों के क्षणिक सुखों का दास है वह सदैव अभाव, चिन्ता, पराधीनता, खिन्नता, हीनता आदि अगणित दुःखों से, विषादों से घिरा रहता है। उसके पास बाहर में कितनी ही भोग्य वस्तुएँ हों, धन संपत्ति हो, पूजा प्रतिष्ठा हो, अंतर में वह रिक्त होता है, उसे आंतरिक नीरसता सदैव घेरे रहती है। वह उसे भुलाने के लिये अपने को नशे में, एक के बाद दूसरे भोग के रस में लगाता रहता है। वह आंतरिक दृष्टि से घोर दरिद्र होता है।

सद्गुणों का क्रियात्मक रूप सद्प्रवृत्ति ही सच्ची समृद्धि है, भौतिक विकास है और दुर्गुण-दुष्प्रवृत्ति समस्त दुःखों व दरिद्रता की जड़ है, भौतिक अवनति है। जिसके पास सद्गुणों की पूँजी है वही समृद्ध है, पुण्यवान है। जो वासनाओं का दास है वही दरिद्र है, पुण्यहीन है। सद्प्रवृत्तियों का बाह्य फल भौतिक विकास है और आन्तरिक फल आध्यात्मिक विकास है।



लेखक परिचय

कन्हैयालाल लोढ़ा का जन्म धनोप (जिला-भीलवाड़ा, राजस्थान) में मार्गशीर्ष कृष्ण द्वादशी संवत् १९७९ में हुआ। आप हिन्दी में एम.ए. हैं तथा साहित्य, गणित, भूगोल, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयों में आपकी विशेष रुचि है।



आपकी लघुवय से ही सत्य-धर्म के प्रति अटूट आस्था एवं दृढ़निष्ठा रही है। आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तटस्थापूर्वक गहन मन्थन कर उससे प्राप्त नवनीत को ३०० से अधिक लेखों के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका चिन्तन पूर्वाग्रह से दूर एवं गुणाग्राहक दृष्टि के कारण यथार्थता से परिपूर्ण होता है।

विज्ञान और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में 'जैन धर्म दर्शन' पुस्तक पर आपको 'स्वर्गीय प्रदीप कुमार रामपुरिया स्मृति पुरस्कार', 'दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति' पुस्तक पर 'आचार्य श्री हस्ती-स्मृति-सम्मान पुरस्कार', प्राकृत भारती द्वारा 'गौतम गणधर पुरस्कार' तथा साहित्य-साधना पर 'मुणोत फाउण्डेशन पुरस्कार' से सम्मानित किया जा चुका है।

प्रस्तुत 'बन्ध-तत्त्व' कृति के अतिरिक्त आपकी निम्नलिखित प्रमुख कृतियाँ प्रकाशित हैं :

१. दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति, २. जैन धर्म : जीवन धर्म, ३. कर्म सिद्धान्त, ४. सेवा करें : सुखी रहें, ५. सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी, ६. जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी, ७. दिवाकर रश्मियाँ, ८. दिवाकर देशना, ९. दिवाकर वाणी, १०. दिवाकर पर्वचिन्तन, ११. श्री जवाहराचार्य सूक्तियाँ, १२. वक्तृत्व कला, १३. वीतराग योग (लघु), १४. जैनागमों में वनस्पति विज्ञान, १५. जीव-अजीव तत्त्व, १६. पुण्य-पाप तत्त्व, १७. आम्रव-संवर तत्त्व, १८. निर्जरा तत्त्व, १९. सकारात्मक अहिंसा, २०. सकारात्मक अहिंसा (शास्त्रीय और चारित्रिक आधार), २१. दुःख रहित सुख, २२. ध्यान शतक, २३. वीतराग योग, २४. कायोत्सर्ग, २५. जैन धर्म में ध्यान, २६. वीतराग ध्यान की प्रक्रिया, २७. पातञ्जल योगसूत्र : अभिनव निरूपण, २८. Boundless Bliss (मुद्रित हैं)

१. मोक्ष तत्त्व, २. विपश्यना ध्यान, ३. भारत की पुरातन साधना-पद्धतियों में ध्यान, ४. नवतत्त्वसार कृतियाँ मुद्रणाधीन हैं।

अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के अध्यक्ष होने के साथ आप श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों के आगम-मर्मज्ञ जैन विद्वान् हैं। आप एक उत्कृष्ट ध्यान साधक, चिन्तक, गवेषक हैं। प्रस्तुत पुस्तक आपके जीवन, चिन्तक एवं सत्य दृष्टि का एक प्रतिबिम्ब है।



प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

सोसायटी फॉर साइन्टिफिक एण्ड एथिकल लिविंग

13ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर

ISBN No. 978-81-89698-86-7